कविवर बनारसीदास

(जीवनी और कृतित्व)

*

डॉ० रवीन्द्रकुमार जैन
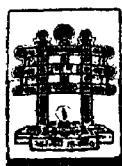
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक—२३०
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series : Title No.230
KAVIVAR BANARASIDAS
(Thesis)
Dr. RAVINDRA KUMAR JAIN
Bharatiya Jnanpith
Publication
First Edition 1966
Price Rs. 10.00

भारतीय ज्ञानपीठ
प्रकाशन
प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५
विक्रय-केन्द्र
३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण १९६६
मूल्य १०.००
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी-५

● ● ●

एम० ए० करनेके बहुत पहलेसे ही शोध-कार्य करनेकी मेरी उत्कट अभिलाषा थी। जैन न्याय, व्याकरण, साहित्य एवं धर्मके शताधिक ग्रन्थोंका शास्त्री पर्यन्त अध्ययन कर चुकनेपर इस दिशामें स्वयं कुछ करनेकी मेरी भी इच्छा हुई। मुझे लगा कि इतने विपुल एवं महत्त्वपूर्ण साहित्यको जिसे अब तक जैन भी पूर्णतया नहीं जानते हैं, समस्त हिन्दी जनताके सम्मुख अवश्य आना चाहिए। इसके पीछे मैंने दो बातें सोची थीं : एक हिन्दी साहित्यकी समृद्धि और दूसरी एक अल्पज्ञात अथवा अज्ञात कविकी वैज्ञानिक एवं शोधपूर्ण विवेचना करके उसके प्रति सम्मान प्रकट करना। इसके लिए कविवर बनारसीदास मुझे सर्वाधिक प्रिय लगे।

सन् १९५२ ई० में मैंने एम० ए० कर लिया परन्तु शोध-कार्यका सिलसिला किसी प्रकार न जमा। निराश होकर मैंने संस्कृतमें एम० ए० किया, फिर भी एक वर्ष और भटकता रहा।

सन् १९५५ की जुलाईमें आगरा विश्वविद्यालयने हिन्दी विद्यापीठ आरम्भ किया। इसमें शोध-कार्यकी भी सुन्दर व्यवस्थाका आयोजन हुआ। मैं अपनी आकांक्षा लेकर उक्त विद्यापीठमें पहुँचा। श्रद्धेय गुरुवर डॉ० सत्येन्द्रने अत्यन्त सरल भावसे मुझे आश्वस्त किया और उसी समयसे मुझे आज तक मेरी अक्षम्य धृष्टताओंके बावजूद आपने अपनाया। इस शोध-प्रबन्धमें सत्येन्द्रजीने मुझे जितना संभाला है उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना भी एक धृष्टता-मात्र होगी।

उक्त विद्यापीठके संचालक एवं आचार्य परम श्रद्धेय डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, जिनके पवित्र निर्देशनमें यह अनुसन्धान-कार्य पूर्ण हुआ है, निःसन्देह एक आदर्श निर्देशक हैं। यह भी मेरा सौभाग्य था कि ऐसे सरल-स्वभावी, सुलझे हुए एवं सुधी पुरुषके सत्सम्पर्कमें मैं आया। डॉक्टर साहबके घर,

उनके अवकाशके समय या विद्यापीठमें कहीं भी अपनी शोध-समस्याओंको लेकर जब भी पहुँचा हूँ, बड़ी तत्परतासे आपने समाधान किया और आगे कार्य बढ़ानेको प्रोत्साहित किया। आज यह बात मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि यदि निर्देशनके अतिरिक्त मुझे आपसे समय-समयपर प्रोत्साहन और ढाढ़स न मिलता तो निश्चित रूपसे मेरा यह कार्य पूर्ण न होता। आपका वशंवद हूँ, आपके प्रति क्या प्रकट करूँ। शुष्क शिष्टाचारका आत्मीयतासे वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है।

परम आदरणीय पण्डित नाथूराम प्रेमी बम्बई, एवं सम्मान्य अगरचन्दजी नाहटा बीकानेरने समय-समयपर मुझे अपने बहुमूल्य सुझावों एवं सूचनाओंसे उपकृत करनेके साथ कई भूलोंसे भी बचा लिया है। नाहटाजीने तो मुझे बीकानेर बुलाकर एक बार स्वयं भी मेरा शोध-प्रबन्ध देखनेकी उदारता दिखायी है। एतदर्थ उनका सदैव आभारी रहूँगा।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० हीरालाल जैनसे दिल्ली और आगरामें सम्पन्न अखिल भारतवर्षीय जैन अधिवेशनोंमें मिलनेका सौभाग्य मुझे मिला। उनसे जब मैंने अपने इस शोध-प्रबन्धकी चर्चा की तो उन्होंने अनेक विद्वत्तापूर्ण सुझाव एवं सत्परामर्श दिये तथा उत्साहपूर्वक कार्य करनेका आशीर्वाद भी दिया। उनके सौजन्यने मुझे समय-समयपर भारी शक्ति दी है।

आगराके प्रसिद्ध समाज-सेवी आदरणीय महेन्द्रजीने मुझे आरम्भसे अन्त तक ग्रन्थ जुटानेमें, कार्य करनेमें, विद्वानोंसे सम्पर्क करनेमें भारी सहायता दी है। शोध-कार्यके पूर्वसे ही आपकी मुझपर कृपा रही है। नवयुवकोंको प्रोत्साहित करना आपका व्यसन-सा हो गया है।

श्री उदयशंकर शास्त्री, हस्तलिखित ग्रन्थ सहायक हिन्दी विद्यापीठ आगरा, की शोध-कार्यसम्बन्धी गहरी जानकारीसे भी मुझे भारी लाभ हुआ है। शास्त्रीजीको भूलना मेरे वशकी बात नहीं है।

इस शोध-प्रबन्धके लिए मुझे अनेक ग्रन्थालयोंसे सहायता मिली है। उन ग्रन्थालयोंसे सम्बन्धित सभी सहयोगी अधिकारी महानुभावोंके प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। जिन ग्रन्थालयों एवं शोध-संस्थानोंसे सहायता ली है वे निम्नस्थ हैं :

१. आगरा विश्वविद्यालय पुस्तकालय, आगरा; २. जोन्स पब्लिक लायब्रेरी, आगरा; ३. क० मु० हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा; ४. नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा; ५. ऐम० डी० जैन कॉलेज लायब्रेरी, आगरा; ६. पी० डी० जैन कॉलेज लायब्रेरी, फ़ीरोज़ाबाद; ७. बाहुबलि संघ पुस्तकालय, फ़ीरोज़ाबाद।

प्राचीन-शास्त्र भण्डार :

८. श्री अगरचन्द नाहटाका निजी शास्त्र-भण्डार, बीकानेर; ९. श्री दि० जैन शोध-संस्थान, जयपुर; १०. मन्दिर बधीचन्द्रजी, जयपुर; ११. दादू महाविद्यालय शास्त्र-भण्डार, जयपुर; १२. श्री दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा; १३. बड़ा मन्दिर, ताजगंज, आगरा; १४. आगराके लगभग १२ जैन मन्दिर और देखे; १५. दि० जैन बड़ा मन्दिर, फ़ीरोज़ाबाद; १६. चन्द्रप्रभु-मन्दिर, फ़ीरोज़ाबाद; १७. अटावाला मन्दिर, फ़ीरोज़ाबाद; १८. घेरका मन्दिर, फ़ीरोज़ाबाद; १९. धर्मपुरा जैन मन्दिर, देहली; २०. दि० जैन मन्दिर, लालबाग़, देहली।

— रवीन्द्रकुमार जैन

प्राक्कथन

■

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी तथा कई प्रादेशिक भाषाओंके समृद्धि-वर्द्धनमें जैन साहित्यकारोंका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उनके अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ आज भी प्रकाशन और शोधकी अपेक्षा रखते हैं। हिन्दीके प्राचीन साहित्यके विकासमें जैन साहित्यकारोंकी एक समृद्ध परम्परा रही है। उन्होंने साहित्यको सदा आध्यात्मिक, व्यवस्थामूलक तथा नैतिक पृष्ठभूमिमें प्रतिष्ठित करनेका प्रयास किया। वासनामूलक संवेगों तथा कल्पनाओंसे उन्होंने अपनी सृजनात्मक शक्तिको सदा दूर रखा। उन्होंने साहित्यको समाजके स्थायी, स्वस्थ और शुभ जीवनके प्रदर्शक रूपमें ही ग्रहण किया था। उनका साहित्य केवल क्षणिक मनोरंजनका छिछला और सस्ता साधन नहीं है, वरन् अन्धकारमें दिग्भ्रमित जीवनके लिए शाश्वत प्रकाश-स्तम्भ है।

हिन्दी साहित्यके पूर्ण वैभवका जब विकास हो रहा था उसी समय कविवर बनारसीदासका आविर्भाव हुआ। वे तुलसीदासजीके समकालीन थे। सम्राट् अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँके साम्राज्योंके उतार-चढ़ाव वे देख चुके थे। उनके जीवनका बहुत बड़ा भाग आगरामें ही व्यतीत हुआ था। व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही स्तरोंपर कविका अनुभूति-क्षेत्र विपुल था। मुक्तक, प्रबन्धात्मक, निबन्धात्मक आदि अनेक प्रकारकी रचनाओंमें उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित हुई। निश्चय ही हिन्दीके जैन साहित्य कारोंमें उनका स्थान सभी दृष्टियोंसे मूर्द्धन्य कहा जा सकता है। शक्ति, सादगी और भव्यता कविकी समस्त रचनाओंमें व्याप्त है।

ऐसे प्रतिभाशाली साहित्यकारके विषयमें अबतक पं० नाथूराम प्रेमी, डॉ० माताप्रसाद गुप्त आदि कुछ विद्वानोंकी छुटपुट विवेचनाओंके अतिरिक्त और कुछ उपलब्ध नहीं था। इससे कविकी महत्ताका हिन्दी जगत्को यथावत् ज्ञान नहीं हो सका था। हर्षकी बात है कि मेरे प्रिय शिष्य डॉ० रवीन्द्रकुमार जैनने बनारसीदास जैनके व्यक्तित्व और कृतित्वपर

भूमिका

आज हमारे सभी लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार यह मुक्तकण्ठसे स्वीकार कर चुके हैं कि हिन्दी साहित्यका इतिहास जैन साहित्यके अध्ययन-मननके बिना अपूर्ण एवं पंगु ही रहेगा। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० हीरालाल जैन एवं डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल आदिके शोधपूर्ण लेखोंके कारण अब विद्वानोंने इस बहुमूल्य साहित्यकी ओर दृष्टिपात भी आरम्भ किया है। भक्तिकालीन साहित्यके निर्माणमें तो जैन साहित्यकारोंका और भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। इस युगकी प्राणभूत अध्यात्मधाराको इन साहित्यकारोंने जिस दृढ़ता एवं शालीनतासे परिपुष्ट किया तथा अपनी मौलिक चिन्तन-दृष्टिसे उसे अधिकाधिक समृद्ध बनाया, वह सदैव अविस्मरणीय रहेगी।

भक्तिकालीन अनेक जैन साहित्यकारोंमें कविवर बनारसीदास अग्रगण्य हैं। बनारसीदासजीपर अब तक पं० नाथूराम प्रेमी एवं डॉ० माताप्रसाद गुप्तने ही थोड़ा-सा किन्तु ठोस कार्य किया है। उक्त दोनों विद्वानोंने अर्धकथानकपर ही कार्य किया है। यों बनारसी विलासका सम्पादन भी प्रेमीजीने बहुत पहले किया था, परन्तु वह उनके अर्धकथानककी भाँति गहरा न था। अभी जयपुरसे पं० कस्तूरचन्द शास्त्रीने भी बनारसी विलासका सम्पादन किया है परन्तु इसमें कोई ठोस काम नहीं हो सका है। कविके 'समयसार' और 'नाममाला' नामक ग्रन्थ भी नाम लेनेके लिए मुद्रित तो हो ही चुके हैं परन्तु उनके प्रतिपादन पर्यालोचन एवं पाठ आदिकी सुन्दर उपस्थितिकी अब भी आवश्यकता थी ही।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्धमें कविवर बनारसीदासकी सभी रचनाओं और उनकी जीवनीका व्यापक अध्ययन एवं मन्थन करनेका प्रयत्न किया गया है। कविवरकी जीवनी और रचनाओंमें मौलिक तत्त्वोंकी गवेषणाके साथ बाह्य विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक प्रभावोंको स्पष्ट किया गया है।

बनारसीदासजीके 'समयसार' एवं 'बनारसी विलास' पर तो निश्चित

शोध-कार्य करके इस अभावकी पूर्ति की है। उन्होंने यथासम्भव तटस्थ दृष्टिसे कविके कृतित्वका मूल्यांकन किया है और उनके विषयमें प्रचलित अनेक मतभेदोंको सप्रमाण दूर किया है। कविके विषयमें अनेक नये तथ्य भी प्रस्तुत किये गये हैं। शोधककी एक और विशेषता यह है कि तथ्यानुसन्धानके साथ-ही-साथ उन्होंने वस्तुमूलक आलोचना-प्रणालीका आद्यन्त निर्वाह किया है।

आशा है, हिन्दी जगत् लेखकके इस ठोस और चिर-अपेक्षित कार्यका सानन्द स्वागत करेगा। साथ ही उनका यह शोध-कार्य आगेके नये शोधकोंको इस दिशामें काम करनेके लिए प्रेरणा भी प्रदान करेगा।

ज्ञानपीठने इस श्रेष्ठ ग्रन्थका प्रकाशन कर अपनी उज्ज्वल प्रकाशन-परम्पराको और भी परिपुष्ट किया है।

— (डॉ०) विश्वनाथप्रसाद

उपाध्यक्ष : वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली
आयोग, शिक्षा-मन्त्रालय,
भारत सरकार।

भूतपूर्व निदेशक : क० मुं० हिन्दी विद्यापीठ, आगरा
विश्वविद्यालय, आगरा।

रूपसे अब भी स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। ये ग्रन्थ इतने गहन, विस्तृत एवं अक्षय अध्यात्म-सौरभसे आभरित हैं कि एक शोध-प्रबन्धमें जिसमें कि उक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त कविकी अन्य रचनाओंपर भी विचार किया गया हो, इनकी विशेषताओंका विस्तृत विवेचन सम्भव नहीं है। महाकवि तुलसीदासके रामचरितमानसपर विपुल कार्य हो चुका है फिर भी नये शोध-कर्ताओंको उसमें और भी शोध-सामग्री मिल ही रही है।

कविवर बनारसीदासजीकी रचनाओंमें उनका त्यागप्रधान, संयत, अध्यात्मपरक एवं मानवैक्यसे ओतप्रोत जीवन परिलक्षित होता है, जबकि भोग, असंयम और इन्द्रियपरकताकी मात्रा उनमें भरपूर थी। यह विरोधी बात कि जीवन वस्तुतः था कुछ और ही और चित्रित और ही किया गया है, पाठकोंके हृदयमें कविके प्रति आस्था उत्पन्न नहीं करती। परन्तु सहृदय एवं गहरे पैठनेके अभ्यासी पाठक जब कविके शुद्ध, सरल एवं स्वाभाविक रूपसे निबद्ध आत्मचरितका रसास्वादन करते हैं तो उनकी उक्त धारणा परिवर्तित हुए बिना नहीं रहती। बनारसीदासजीमें विषयान्धता, धनमोह, रूढ़िमोह एवं अन्धविश्वास आदिका प्राबल्य था अवश्य परन्तु इन सभी दुर्बलताओंकी अति ही उन्हें सम्भवतः त्यागप्रधान जीवनकी ओर मोड़नेमें समर्थ हुई है। कविकी उज्ज्वल रचनाएँ उनकी संयत अवस्थाकी रचनाएँ हैं। विषयोंका जिन्हें तीव्र एवं कटु अनुभव हो जाता है वे ही उनकी जीवनघातिनी दशाओंका मार्मिक एवं हृदयान्दोलक चित्रण करनेमें समर्थ होते हैं।

लगभग एक सहस्र दोहा-चौपाइयोंमें रचित नवरसका ग्रन्थ कविने अपनी इसी विरागमयी एवं अध्यात्मपरक प्रवृत्तिके कारण गोमतीकी अगाध जलराशिको समर्पित कर दिया था।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्धमें कविवरकी सभी रचनाओंके पर्यालोडनके साथ उनके नामसे प्रचलित 'मोह विवेक युद्ध' एवं 'ज्ञान बावनी' नामक रचनाओंपर भी विचार कर लिया गया है। इन रचनाओंके 'बनारसीदास कृत' होनेमें विद्वानोंमें भारी मतभेद था। अतः इनका मन्थन करके वास्तविक निर्णयपर पहुँचना और भी आवश्यक हो गया था। अर्ध कथानकमें आगत ऐतिहासिक उल्लेखोंका अध्ययन भी स्वतन्त्र रूपसे कर लिया गया है। ये उल्लेख दो प्रकारके हैं—एक कविसे पूर्वके और दूसरे स्वयं कविके समयके। दोनों ही प्रकारके उल्लेखोंका प्रामाणिक ढंगसे

अध्ययन करनेपर कविवरकी ऐतिहासिक जानकारीका भी गहरा परिचय हुए बिना नहीं रहता।

बनारसीदासजीकी जीवनी और उनके कृतित्वका व्यापक अध्ययन करनेका प्रयास इस शोध-प्रबन्धमें किया गया है। प्रथम अध्यायमें राजनैतिक, ऐतिहासिक एवं साहित्यिक स्थितिके अनुसन्धानके साथ तात्कालिक धार्मिक सम्प्रदायों एवं पन्थों आदिकी सामान्य चर्चा करते हुए जैन धर्मके विविध पन्थों, सम्प्रदायों एवं शाखाओंको स्पष्ट किया गया है। द्वितीय अध्यायमें अन्तः बाह्य प्रमाणोंसे पुष्ट कविकी जीवनी प्रस्तुत की गयी है। तृतीय अध्याय कविकी समस्त रचनाओंकी सविस्तर, शोधपूर्ण एवं प्रामाणिक चर्चासे परिप्लुत है। विवादग्रस्त रचनाओंको भी पुष्ट प्रमाणों-द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। चतुर्थ अध्यायमें बनारसीदासजीकी रचनाओंकी भाषाका अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पंचम अध्यायमें कविमें परिलक्षित धार्मिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तत्त्वोंकी विवेचना है। षष्ठ अध्यायमें कविके साहित्यकी विधाएँ और उनका शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया गया है तथा सप्तममें कविकी ज्ञान-गरिमा और उनकी सांस्कृतिक देनका अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार इन सात अध्यायोंमें बनारसीदासजीकी जीवनी और उनकी रचनाओंका विभिन्न दृष्टियोंसे अनुसन्धान करनेका प्रयत्न इस शोध-प्रबन्धमें है।

शोध करते समय और अब भी मुझे दो बातोंका अभाव पर्याप्त खटका है। एक तो कविका कोई भी प्रामाणिक चित्र नहीं मिलना और दूसरा उनकी मृत्यु-तिथिकी सन्दिग्धता। प्रथमके सम्बन्धमें जब मैंने कविकी जन्मभूमि जौनपुर तथा आगरामें प्रयत्न किये तो जौनपुरमें तो उनका नाम जाननेवाले भी मुझे न मिले। और आगरामें नाम लेनेवाले मात्र ही मिले। कविकी वंश-परम्परामें आज कोई भी जीवित नहीं है। मृत्यु-समयके सम्बन्धमें एक निश्चयपर पहुँचनेका प्रयत्न लेखकने किया है और इस सम्बन्धमें आवश्यक प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं।

सन्तप्रवर बनारसीदासजीकी रचनाओंके अध्ययनके पश्चात् यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि भक्तिकालीन दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं साहित्यिक स्थिति तथा विकास दशाओंको बनारसीदासजीके बिना कदापि नहीं समझा जा सकता। बनारसीदासजीने अपने समयमें प्रचलित अध्यात्म-धाराको पुष्ट करनेके साथ अंकुरित होती हुई भोगप्रधान प्रवृत्तियोंका

साहित्यके पवित्र क्षेत्रसे ऊर्ध्वबाहु होकर बहिष्कार भी किया। ऐसे साहित्यके स्रष्टा कवियोंकी, जो अश्लील कोटिका साहित्य रचनेमें ही स्वयंको धन्य मानते हैं तथा गर्वोन्नत होकर कह उठते हैं 'हमें सारदा को बरु है।' बनारसीदासजीने भर्त्सना भी की है—जो आज भी हिन्दी साहित्यके दिशा-निर्देशनका कार्य कर रही है :—

मांस की गरंथि कुच कंचन-कलस कहैं,
कहैं मुखचन्द जो सलेषमा को घरु है।
हाड़ के दसन आहि हीरा मोती कहैं ताहि,
मांस के अधर ओंठ कहैं बिंब फरु हैं।
हाड़ दंड भुजा कहैं कौल-नाल कामधुजा,
हाड़ ही के थंभा जंघा कहैं रंभा तरु है।
यों ही झूठी जुगति बनावैं औ कहावैं कवि,
येते पर कहैं हमें सारदा को बरु है॥

अध्यात्मसन्त बनारसीदासजीने अपने 'समयसार' एवं 'बनारसी-विलास'-द्वारा संसारके सम्मुख सन्त कवियोंकी यह पवित्र एवं उदात्त दृष्टि भी अत्यन्त पुष्ट रूपसे स्पष्ट कर दी कि प्रौढ़ प्रतिभासम्पन्न कवि प्रत्येक विषयमें अलौकिक अभिरामताका संचार कर सकता है। अश्लील कोटिका अमर्यादित शृंगार, अंग-उपांगोंका उत्तेजक वर्णन एवं ऊहात्मक शब्द-चित्रोंकी खोखली नुमाइश बनारसीदासजीको कभी प्रिय नहीं लगी। काव्यमें मर्यादा, सत्यकी रक्षा एवं भाषा-सारल्यसे अभिमण्डित सरस प्रवाहयुक्त शैली उनकी प्रमुख विशेषता रही है। अध्यात्म-जैसा रूक्ष एवं गम्भीर विषय भी बनारसीदासजीकी काव्य-प्रतिभासे सम्पृक्त होकर अत्यन्त सरल एवं सरस हो गया है। कविका अध्यात्म-प्रधान काव्य अपने जन-हितके शाश्वत पाथेयके कारण वर्तमान एवं आनेवाली कवि-पीढ़ियोंके लिए सदैव एक आदर्श प्रकाश-स्तम्भका कार्य करेगा।

— रवीन्द्रकुमार जैन

अनुक्रम

कविवर बनारसीदास

जीवनी और कृतित्व

• •

आगरा विश्वविद्यालय-द्वारा
पी० एच्० डी० की उपाधिके लिए स्वीकृत
शोध-प्रबन्ध

•

पृष्ठभूमि

(अ) राजनैतिक तथा ऐतिहासिक स्थिति

मनुष्य भूखकी वेदना एक सीमा तक सह सकता है, परन्तु असामाजिक रहकर जीवन चला लेना उसकी शक्तिके परेकी बात है। समाजसे पृथक् रहकर उसे न भोजनमें स्वाद आयेगा, न वस्त्रोंसे मन प्रसन्न होगा और न ही उसकी अगाध धन-सम्पत्ति उसे सुखी बना सकेगी। अतः यदि मनुष्यत्व और सामाजिकताको अन्योन्याश्रयी कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। जितने क्षण हम समाजसे दूर रहते हैं—उनमें भी रूठकर, क्रुद्ध होकर अथवा परवशता वश ही सही हम अपने समाजका स्मरण करते हैं। हमारा उपचेतन उसीके चिन्तनमें व्यस्त रहता है। निष्कर्षमें हम कह सकते हैं कि समाजसे पृथक् मनुष्यका अस्तित्व नहीं बन सकता। पशुओं-का भी एक सामाजिक जीवन होता है। वे परस्पर बैठते हैं, उठते हैं, खाते-पीते हैं, खेलते हैं। पारस्परिक सुख-दुःखमें भी यथासाध्य सहानु-भूतिका परिचय भी देते हैं, फिर बुद्धि और भावनाओंका अक्षयकोष मानव असामाजिक कैसे रह सकता है। जब मनुष्य मात्रमें सामाजिकता सुनिश्चित है, तब एक विशिष्ट विद्वान्, प्रतिभावान् एवं भावविह्वल साहित्यकारका जीवन, अवश्य ही प्रगाढ़ रूपसे अपने युगके समाज और उसके जीवनको प्रभावित करेगा तथा उससे स्वयं भी प्रभावित होगा ही। अतः किसी साहित्यकारके प्रामाणिक अध्ययनके लिए हमें उस युगके सामाजिक एवं राजनैतिक वात्याचक्रको भी समझना होगा।

कविवर बनारसीदासने अपने जीवन-कालमें सम्राट् अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँके साम्राज्य देखे थे। पूर्वजों-द्वारा बाबर और हुमायूँकी चर्चाएँ सुनी थीं। इस प्रकार औरंगज़ेबके अपवादके साथ प्रायः सम्पूर्ण मुग़ल-कालके सर्वतोमुखी वायुमण्डलसे हमारे कविका सम्पर्क रहा है। जिन-पर मुग़ल साम्राज्यका स्वर्णमुकुट विशेष आदर और लोकप्रियताके साथ

रहा वे सम्राट् अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ तो कवि-जीवनको प्रत्यक्ष रूपेण प्रभावित कर ही चुके हैं। तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक सैन्य-शासन-सम्बन्धी एवं व्यावहारिक आदि सभी प्रकारका प्रभाव कविपर अवश्य ही रहा है। इसीके परिणामस्वरूप कविके जीवनने भी समय-समयपर काफ़ी मोड़ लिये हैं अर्धकथानक। (कविके आत्मचरित) में ये सम्पूर्ण प्रभाव स्पष्ट हैं जो अगले अध्यायोंमें यथावसर विवेचित होंगे।

विश्वसाहित्य और राजनीति

विश्व[1] इतिहासपर यदि हम दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि राजनैतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियोंका बहुधा प्रत्यक्ष और यदा-कदा अप्रत्यक्ष प्रभाव तद्देश-विशेषके साहित्यपर अवश्य पड़ा है।

भारत—वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि सुविख्यात ग्रन्थ-रत्न देशके तत्कालीन बौद्धिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक अभ्युदयके ज्वलन्त प्रमाण हैं। साधारण, बर्बर एवं चरित्रहीन जातियों-द्वारा ऐसे ग्रन्थोंका निर्माण कदापि नहीं हो सकता था।

बौद्ध भारत—जब सम्पूर्ण भारतने बौद्ध धर्मकी विशेषतासे स्वयंको प्रभावित पाया अथवा राज्याश्रयके कारण वह भारतके कोने-कोनेमें विस्तार पा गया—और आगे चलकर उसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि भारतके पड़ोसी देश चीन, जापान, जावा, सुमात्रा आदिमें भी उसका प्रसार हुआ तो प्रकृत्या उस धर्मकी प्रगतिके साथ पाली भाषा और साहित्यने भी सहजमें ही प्रगतिकी ध्वजाएँ चूम लीं। इतिहासने आगे चलकर फिर एक क्रान्तिकारी मोड़ लिया। वैदिक धर्मके अनुयायी सम्राटों-द्वारा बौद्ध धर्मके साम्राज्यकी समाप्ति हुई और पुनः वैदिक धर्मका साम्राज्य बढ़ा। इन धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियोंके प्रभावोंसे साहित्यका आँचल भी यथावसर शुभ्र तथा मलिन होता रहा।

जैन भारत—जैनधर्मानुयायियोंमें आचार-विचार और साहित्य-साधनाकी एक निश्चित और अव्यवहित पद्धति एक निश्चित समयसे (प्राकृत-अपभ्रंशके उदय कालसे) चली आ रही थी। उसी आधारपर चारित्रिक एवं आध्यात्मिक ग्रन्थोंकी रचनाएँ भी पर्याप्त अभिराम साहित्यिक साज-सज्जाके साथ वरेण्य साहित्यकारों-द्वारा होती चली आ रही थी,

---

१. सहायता—
'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति'—भूमिका, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद।

परन्तु समयने अपनी चाल बदली—जाति और समाजमें चारित्रिक दृढ़ताके प्रति कुछ शिथिलताके भावोंने प्रवेश किया। साधुओंमें आचरणके प्रति भेदका प्रारम्भ लगभग विक्रमीय छठी शताब्दीके मध्यसे प्रारम्भ हो गया था। श्वेताम्बर और दिगम्बर ये दो शाखाएँ जैनोंकी यहींसे अंकुरित हो उठीं। आगे चलकर इस वैयक्तिक और सामाजिक शैथिल्यके परिणाम-स्वरूप अनेकों सुधारवादी आदर्श ग्रन्थ लिखे गये। विक्रमीय दसवीं शताब्दीके पश्चात् (यवन आक्रमणके आरम्भसे) तो यह जातीय भेद-प्रभेद बढ़ते ही गये और साहित्य भी इनके परिणाम और प्रभावोंको स्वयं-में ढालता गया। कुछ भी सही इतना तो सुनिश्चित है कि आज हिन्दी भाषाके आदि स्रोतोंके लिए अपभ्रंशमें हमें जाना होगा और अपभ्रंश जैन साहित्यमें अतुलनीय मात्रामें है। सामाजिक और ऐतिहासिक विकासका क्रम भी जैन साहित्य-द्वारा प्राप्त हो सकेगा। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—"हिन्दीकी काव्यधाराका मूल विकास सोलह आने अपभ्रंश काव्यधारामें अन्तर्निहित है, अतएव हिन्दी साहित्यके ऐतिहासिक क्षेत्रमें अपभ्रंश भाषाको सम्मिलित किये बिना हिन्दीका विकास समझमें आना असम्भव है। भाषा-भाव-शैली तीनों दृष्टियोंसे अपभ्रंशका साहित्य हिन्दी भाषाका अभिन्न अंग समझा जाना चाहिए। अपभ्रंश (८-११वीं सदी), देशी भाषा (१२-१७वीं सदी) और हिन्दी (१८वींसे आज तक) ये ही हिन्दीके आदि, मध्य और अन्त तीन चरण हैं। लगभग ७वीं शताब्दीसे अपभ्रंश भाषामें साहित्य-निर्माणका कार्य प्रारम्भ हो गया था जैसा कि दण्डीके काव्यादर्शके एक उल्लेखसे ज्ञात होता है—

"आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।१।३६"

अर्थात् अपभ्रंश वह भाषा है जो आभीरादिकोंकी बोली है और जिसमें काव्य-रचना भी होती है।"[1]

स्वर्ण मूलमें स्वर्ण ही है भले ही आवश्यकता और रुचि-भेदके कारण उससे विभिन्न प्रकारके आभूषण बना लिये जायें। जैन साहित्यने भी अपने मूल मर्मसे च्युत न होकर स्वयंको समयके साथ चलनेमें स्वर्ण-जैसी क्षमता प्रदान की। जैन साहित्य और इतिहासके मर्मज्ञ विद्वान् बाबू कामता प्रसाद जैन लिखते हैं—"भारतके इस परिवर्तन (१५वीं से

---

१. कामताप्रसाद जैन कृत 'हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास' प्राक्कथन पृ० ६, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डी० लिट्।

१७वीं शताब्दी) प्रभावसे जैनी अछूते न रहे—वे भी यहाँके निवासी थे और अपने पड़ोसियोंसे पृथक् नहीं रह सकते थे। जैन-जगत्में इस परिवर्तनकी प्रक्रिया सर्वांगीण हुई।"[1] इस प्रकार जैन साहित्यपर भी परिवर्तन (सामाजिक-राजनैतिक) का प्रभाव स्पष्ट है।

भारतीय प्रादेशिक भाषाओंका साहित्य भी इसी बातको स्पष्ट करता है कि जिस समय जिस प्रान्तमें राष्ट्रीय भाव जाग्रत हुआ है उसी भाषाका साहित्य भी उन्नत और लोकग्राह्य हुआ है। बंगला, मराठी, गुजराती और कतिपय मात्रामें दक्षिणी भाषाओंका साहित्य इस बातका प्रमाण है।

भारतके अतिरिक्त विश्वके अन्य महान् देशोंके उत्थान-पतनका पूर्ण प्रभाव वहाँके साहित्यमें प्राप्त होता है। युरॅपकी प्रधान जाति ग्रीक है— जिसकी विद्या, कला और साहित्यका प्रभाव वहाँके समस्त साहित्यपर पड़ा है। ग्रीक जातिका साहित्य आज भी सम्पूर्ण युरॅपमें बड़ी रुचिके साथ पढ़ा जाता है।

५०० ई० पूर्व पारसियों-द्वारा ग्रीक जातिपर आक्रमण हुआ था। इस आक्रमणको रोकनेमें वहाँके सभी छोटे-छोटे राज्योंमें-से एथेन्स ही ऐसा था जो उसे रोकनेमें अग्रणी हुआ था। एथेन्सके कारण युरॅप जीता भी। इसके पश्चात् युरॅपमें एथेन्सको सबसे अधिक मान मिलता रहा।

इस्लामी सभ्यताने अपने ५०० वर्षोंमें ही एशिया, अफ्रीका और युरॅपके पर्याप्त भागपर अपनी प्रभुताकी छाप लगा दी। जो आज भी किसी-न-किसी रूपमें तत्तद्देशीय साहित्यपर स्पष्ट भी है।

इंग्लैण्डके इतिहासमें महारानी एलीजाबेथ और महारानी विक्टोरिया-का समय तो प्रसिद्ध है ही, परन्तु १९वीं शताब्दीकी प्रसिद्धि सर्वाधिक है। इस शताब्दीकी सबसे बड़ी बात थी इंग्लैण्डका नैपोलियनके विरुद्ध विजय प्राप्त करना। इस विजयसे इंग्लैण्डकी युरॅपकी महाशक्तियोंमें गणना होने लगी। सच तो यह है कि महाशक्तियोंमें भी सर्वातिशयी स्थान इसे मिलने लगा। वर्ड्सवर्थ, वाल्टर स्काट, बायरन, शैली, टेनीसन, ब्राउनिंग-की कविताएँ और कार्लाइल, रस्किन, जौन मोर्ले आदिका गद्य काव्य तथा थैकरे और डिकिन्सके उपन्यास आज भी अपनी विश्व-प्रसिद्धिको अक्षुण्ण बनाये हैं।

---

१. कामताप्रसाद जैन कृत, 'हिन्दी जैन सा० का संक्षिप्त इतिहास' पृ० ६३।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचनसे यह निर्विवाद है कि राजनीतिक वातावरण-का पूर्ण प्रभाव साहित्यपर रहता है। राजनीति जीवनसे पृथक् नहीं है और साहित्य भी जन-जीवनके सुख-दुःखमें स्वयंको निमग्न देखना चाहता है। प्रौढ़ विचारक डॉ० राजेन्द्रप्रसाद (राष्ट्रपति-भारत) लिखते हैं—

"साहित्य मानव जातिके उच्चसे उच्च और सुन्दरसे सुन्दर विचारों तथा भावोंका वह गुच्छ है जिसकी बाहरी सुन्दरता और भीतरी सुगन्धि दोनों ही मनको मोह लेते हैं। कोई जाति तबतक बड़ी नहीं हो सकती जबतक कि उसके भाव और विचार उन्नत न हों, जब भाव और विचार उन्नत होंगे तब उनका विकास उस जातिके साहित्यके रूपमें ही हो सकता है। इसलिए जाति या राष्ट्रके उत्थानके साथ-साथ उस जाति या राष्ट्रके साहित्यकी भी उन्नति या उत्थान होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार साहित्यकी अवनति उस जातिके पतनका अटल और अटूट प्रमाण है। राजनैतिक परिस्थितिका प्रभाव सामान्यतया जनजीवनकी सर्वतोमुखी गतिका प्रसारक अथवा अवरोधक अवश्य ही होता है। साहित्य, शिल्प और कलापर तो इसका प्रभाव तत्काल लक्षित होता है। सम्पूर्ण साहित्य-का मूल प्रेरणा स्रोत राजनीतिक परिस्थिति ही रही है।"[1]

मुग़लकालीन राजनैतिक स्थिति

भारतवर्षके इतिहासमें मुग़ल सम्राटोंने कई दृष्टियोंसे एक युगान्तर ही उपस्थित कर दिया। शासन-व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था, धर्म, वेष-भूषा, रहन-सहन इत्यादि सभी जीवनके अंगोंपर एक गहरा प्रभाव अपने शासनके लगभग २०० वर्षोंमें मुग़ल सम्राटोंने डाला। वास्तवमें मुग़लोंके पूर्व खिलजी, तुग़लक आदि मुसलमान वंशोंने ऐसी कोई आदर्श-परम्परा भारत-को नहीं दी जिसपर भारत गर्व कर सके अथवा उन वंशोंकी स्मृति भी स्थिर रह सके। वे वंश वास्तवमें आततायी—भ्रामक आक्रामक और लुटेरे थे। जीवनको लूट और भोगविलासके परे मानव-मिलनके संगमपर देखने-की न उनके पास आँखें थीं और न पर-दुःखकातर हृदय ही था। हृदयका स्नेह और आत्माका स्वर उनमें जन्मा ही न था। यद्यपि मुग़लोंने भी भारतमें कोई ऐसा अद्वितीय स्वर्णयुग अथवा रामराज्य (आदर्श राज्य) स्थापित नहीं किया, जिसे भारतने इसके पूर्व देखा ही न था, परन्तु

---

१. डॉ० राजेन्द्रप्रसाद कृत 'साहित्य, शिक्षा और संस्कृति' पृ० ४।

अन्य यवन वंशोंकी अपेक्षा सभी दिशाओंमें इस वंशने सन्तोषजनक प्रगति की है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मुग़लोंमें भी बाबर और हुमायूँकी अपेक्षा सम्राट् अकबरने पर्याप्त अधिक विवेकपूर्ण कार्य किये। राजनीति, धर्म, रहन-सहन, एवं साहित्यिक अभिरुचि इत्यादिमें अत्यन्त उदारता-पूर्ण नीतिसे काम लिया। इतिहासके लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ० सरकार लिखते हैं—'मुग़ल साम्राज्यके दो सौ वर्षोंने सम्पूर्ण उत्तर भारत और दक्षिण भारतके सभी वर्गोंको, राजकीय भाषा, शासन-पद्धति, सिक्का और एक लोकप्रिय जनभाषाकी एकता प्रदान की। केवल हिन्दीके पुरोहित और ग्रामीण जनता इसमें अपवाद थे। राज्य सीमाओंके परे भी शासन-पद्धति, राजकीय उपाधियाँ, राजकीय शिष्टता और आर्थिक क्रम-व्यवस्थाका ऋण छोटे या बड़े रूपमें समीपवर्ती पड़ोसी हिन्दू राजाओंने भी लिया था।'[१]

मुग़लोंकी राज्य-व्यवस्थाका स्वर्णकाल अकबर-द्वारा ही उपस्थित किया गया। और उसके पश्चात् फिर अपराह्ण आरम्भ हुआ। अपने पूर्वजों और अगली पीढ़ियोंके लिए एक ऐसा मिलन-बिन्दु था जिसपर दोनों गौरवान्वित हो सकें। अकबरके सम्बन्धमें एस० एम० एडवर्ड लिखते हैं:

'सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीकी शासन-व्यवस्था और सिद्धान्त-निर्माण मुख्य रूपमें अकबरके दूरदर्शी-बुद्धिमान् मस्तिकका ही परिणाम था।"[२]

---

१. "The two hundred years of Mughal rule gone to the whole northern India and to much of Deccan also, oneness of official language, administrative system and coinage and also a popular lingua franca for all classes except the Hindi priests and stationary village folk. Even outside the territory directly administrative system, official titles, court etiquette and monetory type were borrowed, more or less by the neighbouring Hindu Majabs."

'India Through Ages' P. 44 By Dr. Sarkar.

२. "The principles and system of Mughal administration in the sixteenth and seventeenth centuries were mainly the product of the genius of Akbar.

'Mughal Rule in India' Page 159.

By S. M. Edwards.

मुग़लोंकी राजनीति और शासन-व्यवस्थाके सम्बन्धमें कुछ प्रसिद्ध इतिहासज्ञोंके मत उद्धृत किये जाते हैं :

डॉ० सरकार – "मुग़लोंके उद्देश्यकी एक विस्तृत सीमा थी जिसमें स्वार्थ और लालसाजन्य प्रवृत्तिकी प्रधानता थी। कठोर नियम और करसंग्रह-द्वारा राज्य-संचालन होता था।"

डॉ० मोरलेण्ड – "मुग़ल शासनका उद्देश्य एक योग्य सैन्य-दलका संगठन था।"

डॉ० बेनीप्रसाद – "मुग़लोंका एक सांस्कृतिक साम्राज्य था।"

डॉ० विश्वेश्वरप्रसाद – "मुग़ल शासनने अपने समयमें एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर ली थी जिसमें शान्तिमय जीवन सम्भव था और इसीलिए तत्कालीन निरंकुशताको हम परमार्थी निरंकुश शासन कह सकते हैं।"

फैरी – "समाजमें संयम, नियम, न्याय और अथक परिश्रमका भाव विद्यमान था और भारतीय चरित्रकी यह एक विशेषता थी। देशकी जनता शान्त प्रकृतिकी थी। सार्वजनिक विचार मद्यपानके विरुद्ध थे।"

ऊपरके सभी मतोंसे हम इसी निर्णयपर पहुँचते हैं कि मुग़लोंमें सैन्य-दलकी वृद्धि, अपनी संस्कृतिके प्रति मोह, शान्तिका प्रयत्न तथा कुरीतियोंका दमन इत्यादि बातें थीं। प्रमुख रूपसे उल्लेखनीय सैन्यदलका अधिकाधिक संगठन और अपना एक सांस्कृतिक 'मिशन' मुग़लोंकी नीवमें थे।

कविवर बनारसीदासजी के 'अर्धकथानक' (आत्मचरित)-द्वारा भी मुग़लकालीन शासन-सम्बन्धी, राजनैतिक एवं विभिन्न सामाजिक परम्पराओंका सुन्दर और युक्तिसंगत परिचय मिलता है। सम्राट् अकबरकी लोकप्रियताका इससे बड़ा क्या प्रमाण होगा कि स्वयं बनारसीदास उनकी मृत्युका समाचार सुनते ही पृथ्वीपर संज्ञाहीन होकर गिर पड़े, मस्तकसे रक्तकी धार बह निकली।

"अकस्मात बानारसी, सुनि अकबर को काल।
सीढ़ी पर बैठ्यौ हुतौ, भयौ भरम चित चाल॥
आय तिवाला गिर पर्यौ सक्या न आपा राखि।
फूट भाल लोही चल्यौ, कह्यो देव मुख साखि॥
लगी चोट पाषाण की, भयो गहंगण लाल।
हाय हाय सब कर उठे, मात तात बेहाल॥"[1]

---

1. बनारसीदास कृत 'अर्धकथा' छन्द २४८–५०।
सम्पादक, माताप्रसाद गुप्त. डी० लिट्।

अकबरने विद्वानोंका भरपूर आदर किया है इसमें सन्देह नहीं। चर्चा मात्रसे संज्ञाहीन होकर गिर पड़ना और एक विद्वान्का; साधारण बात नहीं हो सकती। हो सकता है कि कविका व्यक्तिगत सम्पर्क भी सम्राट् अकबरसे रहा हो और दोनोंने एक-दूसरेको पर्याप्त प्रभावित किया हो।

इतिहासकी अनेकों ऐसी घटनाएँ हैं जिनपर इतिहासज्ञोंका अभीतक ध्यान ही नहीं गया है और यदि कुछपर गया है तो बहुत कम मात्रामें—वह भी मुसलमान इतिहासकारोंके ग्रन्थों-द्वारा। कविवर बनारसीदासके आत्म-चरित-द्वारा इतिहासकी अनेकों बहुमूल्य घटनाएँ आज भी प्राप्त की जा सकती हैं। कविका अनुभव और अक्षिसाक्ष्य अवश्य ही इतिहासको कुछ नये अध्याय दे सकेगा और कुछकी कायापलट भी करेगा। डॉ० माताप्रसाद गुप्त लिखते हैं—"प्रस्तुत आत्मकथाका महत्त्व एक अन्य दृष्टिसे और भी अधिक है: वह मध्यकालीन उत्तरी भारतको सामाजिक अवस्था तथा धनी और निर्धन प्रजाके सुख-दुःखका यथार्थ परिचय देती है। बादशाहोंकी लिखी दिनचर्याओं और मुसलमान इतिहास लेखकों-द्वारा लिखित तत्कालीन तारीखोंसे हमें शासन और युद्ध-सम्बन्धी घटनाओंको अटूट शृंखलाएँ भले ही मिल जायें, किन्तु इतिहासके उस स्वर्णयुगमें राजधानियोंसे दूर हिन्दू जनता—विशेष करके उसके धनी और व्यापारी वर्गको अहर्निश कितनी यातनाएँ भोगनी पड़ती थीं इसका अनुमान उन दिनचर्याओंसे नहीं किया जा सकता। उसके लिए हमें 'अर्द्धकथा' ऐसी रचनाओंका ही आश्रय लेना पड़ेगा। जिस दिन अद्धकथाकी भाँति कुछ अन्य रचनाएँ भी प्रकाशमें आयेंगी मध्यकालीन भारतीय इतिहासके कुछ पृष्ठ निश्चय ही फिरसे लिखने पड़ेंगे।"[1]

जनताके हृदयमें यदि सम्राट्के प्रति आदरभाव था तो नवाबोंके प्रति गहरी घृणा। नवाबोंके अत्याचारोंसे श्रमहारा और धनिक दोनों ही दुःखी थे। श्रमिकोंसे बेगार और धनिकोंसे अकारण अधिकाधिक धन नवाब लोग लिया करते थे, न मिलनेपर अंग-भंग, कोड़ा मारना, बेइज्जत करना इत्यादि निन्द्य कर्म करते थे। कविने अपनी आत्मकथामें जौनपुरके नवाब

---

१. बनारसीदास कृत 'अर्धकथा' भूमिका पृ० १५. सम्पादक, माताप्रसाद गुप्त, डी० लिट्।

किलीचके अत्याचारोंकी एक घटना लिखी है, वैसे घटनाएँ कई हैं परन्तु यहाँ एक उद्धृत की जाती है—

"विपदा उदै भई इस बीच, पुरहाकिम नौवाब किलीच।
तिन पकरे सब जौहरी, दिये कोठरी माँहि।
बड़ी वस्तु माँगे कछू, सो तो इनपै माँहि॥
एक दिवस तिनकौ पकरि, कियो हुकुम उठ भोरि
बाँधि-बाँधि सब जौहरी, खड़े किये ज्यों चोर॥
हने कुटीले कोरड़े, कीने मृतक समान।
दिये छोड़ तिसबार तिन, आये निज निज थान॥
आय सबन कीनौ मतौ, भाग जाव तजि भौन।
निज निज परिग्रह साथ लै, परै काल मुख कौन॥
यहु कह भिन्न भिन्न सब भये, फूट फूट कै चहुँ दिस गये।"[१]

कलीचके इस अत्याचारके भाजन कविके पिता खरगसेनजी तथा नगरके अन्य जौहरी हुए थे। नगरमें नवाबका आगमन जनताके लिए प्रलयसे कम न था। नवाबोंके अत्याचारोंसे लोग नगर छोड़कर भाग जाते थे और जब नवाब नगरसे चला जाता था तब नगरमें आते थे। इस प्रकार भटकनेमें कभी-कभी कई वर्ष लग जाते थे। लोग अन्य नगरोंमें शरणार्थी बनकर अनाथ-से घूमते थे।

जैन साहित्यके खोजी विद्वान् पण्डित नाथूरामजी प्रेमी भी अर्धकथा-की भूमिकामें लिखते हैं[२]—"उस समय राज्यकी ओरसे प्रजापर और धनी व्यापारियोंपर कितने अत्याचार होते थे और प्रजा कितनी डरपोक और प्रतिकारकी भावनासे शून्य हो गयी थी, इसपर भी इस आत्मकथासे प्रकाश पड़ता है। उस समयके मुसलमान इतिहास लेखकोंने जिनको छूआ भी नहीं है ऐसी अनेक बातें इस पुस्तकसे जानी जाती हैं।"

---

१. अर्धकथा, ११०–११४, सम्पादक, माताप्रसाद गुप्त, डी० लिट्।
२. 'अर्धकथा', सम्पादक—नाथूराम प्रेमी, भूमिका पृ० १२।

मुग़ल युगमें साहित्य

फ़ारसी संस्कृति और सभ्यतासे प्रभावित मुग़ल सम्राटोंने सांस्कृतिक और साहित्यिक कार्योंमें भी पर्याप्त रुचि दिखायी। वास्तवमें मुग़लोंका दरबार उत्तम, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक कार्योंका अनोखा केन्द्र था, केवल धारके परमार राजा भोजके अतिरिक्त उत्तरी भारतमें अन्यत्र ऐसी विशेषता न थी। बादशाहोंके अतिरिक्त हुमायूँकी माँसे लेकर औरंगज़ेबकी प्रसिद्ध पुत्री ज़ेबुन्निसा तक राजवंशकी महिलाएँ भी कला, साहित्य और सभ्यताका आदर करती थीं। कवियों, विद्वानों और दार्शनिकोंको अधिक प्रोत्साहन देती थीं। अकबरके विद्वानोंके प्रति उत्तम भाव और दार्शनिक-सांस्कृतिक कार्योंमें प्रगाढ़ स्नेहका परिणाम यह हुआ कि एशियाके विविध भागोंके विद्वान् उसके दरबारमें आये। अब्दुर्रहीम खानखाना फ़ारसीके साथ हिन्दीका भी योग्य कवि था। टोडरमलजी हिन्दू धर्मशास्त्रोंके अच्छे ज्ञाता और लेखक भी थे। पृथ्वीराज राठौर 'कृष्ण रुक्मिणी' के लेखक थे। तानसेन सुयोग्य गायक एवं कवि थे। कवीन्द्राचार्य, सुन्दरदास, पुहकर, चिन्तामणि, बनवारी, हरिनाथ इत्यादि सभी विद्वान् अकबरी दरबारके थे।

सभी धर्मोंकी स्वतन्त्र रचनाओंको अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँने खुले वातावरणमें पल्लवित, पुष्पित और फलित होनेका पूर्ण सुअवसर दिया जिसकी ओर पूर्ववर्ती सम्राटोंका ध्यान नहीं गया था।

---

१. "The Moghul Court with its perseanised rulers was a centre of cultural activity such as no north Indian Court had been since the time of Bhoje, the permar Emperor of Dhar. Not only the emperor but the ladies of the royal house hold from Humayun's mother to Zebunisa, the famous daughter of Aurangzeb, were pattons of Art and letters, cultivated people enterested in beautiful things, gardens, painttings, carpets, fine buildings and in encouragement of poets, scholars and thinkers. Akbar's generosity to scholars and his deep interest in religions and philosophical matters brought scholars from all parts of Asia to his Court."

'A Survey of Indian History' by Panikar,

सामाजिक स्थिति

मुग़ल कालीन सामाजिक स्थितिके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे कहा जा सकता है और प्रायः सभी इतिहासकार एकमत हैं कि वह सन्तोषजनक नहीं थी।

"मुग़लोंकी पिछली सन्तान बहुत कुछ नष्ट हो चुकी थी। शिक्षाकी कमी और असभ्य समाजके कारण उनका पतन हो गया था। असंयम तथा मद्यपानने उन्हें अवनतिके गर्तमें फेंक दिया था। देशमें स्थित प्रत्येक वर्गके लोग घोर अन्धकारमें पड़े हुए थे। निर्धन और धनवान् प्रत्येकके जीवनका प्रत्येक कार्य ज्योतिषके अनुसार ही होता था।"[1] धार्मिक पुरुषोंकी इतनी भक्ति होती थी कि उनकी मृत्युके पश्चात् उनके स्मारकोंकी भी पूजा की जाती थी। अन्धविश्वास और अन्धानुसरण यदि मनुष्यकी विवेक-बुद्धिको हतप्रभ कर दें तो आश्चर्य ही क्या है। वास्तवमें जनताके साधारण व्यक्तिसे लेकर सम्राट् पर्यन्त सभीको अपने पुरुषत्वको अपेक्षा भाग्य (दैवी शक्ति) पर अधिक विश्वास था। यदि मुग़ल युगको एक दृष्टिसे धार्मिक-अतिविश्वासोंका युग कहा जाये तो अनुचित भी न होगा, यद्यपि धार्मिक ऐक्य और समन्वयके प्रयत्न भी चल रहे थे। नाथपन्थियोंका, शैवी कनफटे तथा लिंगायत साधुओंका, सूफ़ियोंका, तान्त्रिकोंका और सबसे बढ़कर दैवी चमत्कारोंका जनतापर अटूट प्रभाव था। हमारे प्रस्तावित कविवर बनारसीदासपर भी अनेक धर्मों, सम्प्रदायों, परम्पराओं, तान्त्रिक क्रियाओं तथा अन्धविश्वासोंका प्रभाव पड़ा था, जिसका उन्हें बादमें पर्याप्त पश्चात्ताप भी करना पड़ा। कविके निजी जीवनकी एक घटनासे तत्कालीन अन्धविश्वासोंका परिचय मिल जायेगा। संवत् १६५९ में एक साधुने कविको एक मन्त्रका आश्चर्यपूर्ण चमत्कार सुनाया। उस मन्त्रकी एक वर्षकी सिद्धिके पश्चात् एक दीनार प्रति दिन द्वारपर पड़ी मिला करेगी यह भी कहा। बनारसीदासजीने तत्काल साधुके चरण पकड़ लिये और मन्त्र लिख लिया। एक वर्ष बड़ी श्रद्धासे मन्त्रका जाप किया परन्तु अन्तमें जब कुछ न मिला तो बड़े दुःखी हुए। घरवालोंने समझाया यह भ्रम है। मिथ्यात्वी लोग भोले प्राणियोंको इसी भाँति छलसे लूटते हैं। इससे कविको सान्त्वना मिली और वे फिर आत्मस्थ हो अपने

---

१. डॉ० विश्वेश्वरप्रसाद डी० लिट् कृत 'भारतवर्षका इतिहास'।

कार्यमें लग गये।[1]

बनारसीदासजीने इसी प्रकार एक साधुके कहनेसे धनके लोभमें शिवजीकी प्रतिमाकी पूजा आरम्भ की परन्तु अन्तमें फल और रक्षा न पा उसे भी छोड़ दिया।

[2]"जोगी एक मिलो तिस आय, बनारसी दियो भो दाय।
दीनी एक संखौली हाथ, पूजा की सामग्री साथ।
कहै सदासिव मूरत एह, पूजै सो पावै सिव गेह।
तब बनारसि सीस चढ़ाय, लीनी नित पूजै मन लाय॥" इत्यादि

आगे चलकर जब कविपर संकट आया और शिवने रक्षा न की तो कवि फिर सचेत हो बोल उठा —

"बैठो मन में चिन्तै एम, मैं सिव पूजा कीनी केम।
जब मैं गिरयौ परयौ मुरझाय, तब सिव कछू न करी सहाय॥
यहु विध सिव पूजा तजी, लखी प्रगट सेवा में बजी।
तिस दिन सों पूजा न सुहाय, सिव संखोली धरी उठाय॥"[3]

इस प्रकार जनता धनप्राप्ति आदि प्रलोभनोंमें पड़कर विविध धर्मों, विश्वासों और तन्त्रोंमें पड़कर स्वयंपर-से विश्वास खो बैठी थी। हिन्दू, मुसलिम और सिख ये तीनों जातियाँ अपने गुरुओं और महन्तोंकी सेवा बड़ी भक्ति और तत्परतासे करती थीं।[4] कीमियागरी एक विज्ञान समझी जाती थी और उच्चतम स्तरके शिक्षित व्यक्ति इस विज्ञानको प्रोत्साहित करते थे और इस विज्ञानका परिचय बादशाहको भी देते थे। स्वर्ण अनुसन्धानके लिए जीवन बलिदान भी होता था, यद्यपि बादशाहको इसका पता चल जानेपर कठोर दण्ड मिलता था। इस प्रकार अति-भौतिक और अभौतिक चमत्कारोंके बीच जनता भेड़-सी चल रही थी। उसे धनकी इच्छा इतनी प्रबल रहती थी कि उसका हिताहित ही नष्ट हो चुका था।

---

१ 'अर्धकथा' छन्द २०६-२१८। सम्पादक — माताप्रसाद डी० लिट्।
२ 'अर्धकथा' छन्द २१६-२० । सम्पादक — माताप्रसाद डी० लिट्।
३ 'अर्धकथा' छन्द २६२-२६३। सम्पादक — माताप्रसाद डी० लिट्।
४. 'India Through Ages' By Dr, Sarkar.

भृत्यवर्ग (साधारण जनता) और अधिकारी वर्गके जीवन-स्तरमें कुत्ते और मालिक-जैसा अन्तर था। पौष्टिक भोजन, सुन्दर वस्त्र, निर्वाह योग्य मकान तथा साक्षरता तो निर्धन वर्गके भाग्यमें थी ही नहीं। नौकर स्वयं-को कभी सुखी समझ पाये ऐसी शुभ घड़ी असम्भव ही थी। मुग़लकालीन समाजका चित्रण डॉ० आर० सी० मजूमदार और उनके साथी लेखकोंने बड़े मार्मिक शब्दोंमें[1] किया है—

"मुग़लकालीन समाज सम्राट्के लिए सामन्ती समाजका संगठन था। सम्राट्के पश्चात् द्वितीय श्रेणीमें उच्चाधिकारी सामन्त, नृपति अथवा शाही व्यक्ति थे जो विशेष आदर और विशेषाधिकारके चिरन्तन उपभोक्ता थे। ये सभी सुविधाएँ और सुख सामान्य जनताके भाग्यमें कभी न थे। इस स्थितिसे स्वभावतः उनके जीवन-स्तरमें अन्तर आ गया। उच्चाधिकारी सम्पत्ति और विलासमें गोते लगा रहे थे, जबकि निम्न व्यक्ति (साधारण वर्ग-निर्धनवर्ग) की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। शाही व्यक्तियोंमें सुरा और सुन्दरी सेवन तो एक साधारण एवं प्रचलित अवगुण था।" मुग़ल युगमें अधिकारी और अधिकृत अर्थात् पूरे समाजके जीवन-स्तरको स्पष्ट करनेमें ये उल्लिखित पंक्तियाँ पूर्ण सहायक हैं।

[2]"जनताकी सुरक्षा और अभयकी स्थितिपर जब हम विचार करते

---

१. 'Society looked like a feudal organisation with the kind to its apex. Next in rank to the kind were the official nobles, who enjoyed special honours and privileges, which never fell to the lot of the common men. This naturally produced a difference in their standard of living. The former molled in wealth and comforts, while the condition of the other was comparatively pitiable. Excessive addiction to wine and women was a very common vice among the aristocrates.'

'An Advanced History of India' P. 566. By Dr. R.C. majumdar and others

२. भई सगाई बावने, परो त्रेपना काल।
अन्न महर्घ न पाइए, भयो जगत बेहाल॥
गयो काल दिन बीत घने, संवत् सोलह सौ चौवने।
— 'अर्धकथा' छन्द १०४, १०५ सम्पादक, माताप्रसाद गुप्त डी० लिट्।

हैं तो बड़ी निराशा होती है। संवत् १६५३ (१५९६-९७ ई०) में अकाल पड़ा। जनता अन्नाभावके कारण अत्यन्त दुःखी थी। राज्यकी ओरसे कोई व्यवस्था न देख जनता नगर छोड़-छोड़ भागी। अकाल-समाप्तिपर पुनः लौटी।"

[1]"इसी प्रकार संवत् १६७३ (१६१६ ई०) में आगरेमें मरीका प्रथम प्रकोप हुआ। प्राणोंकी रक्षार्थ लोग घर छोड़-छोड़कर सुरक्षित स्थानोंको भागे। वैद्यादि कुछ न कर सके। शान्ति होनेपर लोग लौटे।" इन दोनों ही घटनाओंका सजीव आँखों देखा चित्रण कविवर बनारसीदास-ने अपनी अर्धकथामें किया है।

जहाँ मुग़ल-युगमें एक ओर कला, संस्कृति, विद्वत्ता और साहित्यके प्रति श्लाघ्य कोटिका आदर था, वहाँ सामान्य जनता—जिसकी उन्नति किसी भी साम्राज्यकी उन्नतिका सबसे बड़ा प्रमाण है, अत्यन्त उपेक्षित थी।

मुग़ल-युगमें जब एक सम्राट्की मृत्यु होती थी और उसका उत्तरा-धिकारी यदि कुछ विलम्बसे सिंहासन ग्रहण करता था, उस समय असहाय-अनाथकी भाँति जनता कितनी दुःखी रहती थी इसका सजीव चित्रण बनारसीदासजीने अत्यन्त मार्मिक ढंगसे किया है। सम्राट् अकबरकी मृत्यु होते ही जनताकी क्या दशा थी—[2]"नगरके चारों ओर हाहाकार

---

१. इस ही समै ईत बिस्तरी, परी आगरे पहली मरी।
जहाँ तहाँ भागे सब लोग, परगट भया गाँठका रोग।
निकसे गाँठि मरे छिन माँहि, काहूकी बसाय कछु नाहिं।
चूहे मरहिं वैद मर जाँहि, भय सौं लोग अन्न नहिं खाँहि॥
— 'अर्धकथा' छन्द ५६३-६४ सं० माताप्रसाद गुप्त डॉ० लिट्०

२. 'इस ही बीच नगर में सोर, भयो उदंगल चारों ओर।
घर घर देइ दिये हैं कपाट, हटवानी नहिं बैठे हाट॥
भले वस्त्र अरु भूषण भले, ते सब घर में बाँधि के धरे।
हड़वाई गाड़ी कहु और, नगदी माल निभरमी ठौर॥
घर-घर सबनि बिसाहे सस्त्र, लोगन पहिरे मोटे वस्त्र।
ओढ़े कम्बल अथवा खेस, नारिन पहिरे मोटे भेस॥
ऊँच नीच को नहिं पहिचान, धनी दलिद्री भये समान।
चोर धारि कहु दीसे नाहिं, यों ही अपभय लोक डराय॥
— अर्धकथा – २५२–५५।

मच गया, प्रत्येक घरके किवाड़ बन्द कर दिये गये, दुकानदारोंने दुकानों-पर बैठना छोड़ दिया। लोगोंने अच्छे वस्त्रोंके स्थानपर मलिन वस्त्र धारण किये। धन-सम्पत्ति गुप्त स्थानोंमें छिपाकर रख दी। यथाशक्ति प्रत्येक गृहस्थने रक्षार्थ हथियार भी जुटाये। धनिक और दरिद्रोंकी वेषभूषा एक हो गयी। यद्यपि उस समय कोई लूट-पाट न हुई परन्तु जनतामें भयकी मात्रा कम न हुई।" स्पष्ट है कि जनताने ऐसे दुःख-भरे अनेकों अवसर देखे होंगे, अन्यथा सम्पूर्ण जनतामें इतना भय और हाहाकार अकारण और पहली ही बार नहीं हो सकता था।

किसी भी वस्तुके पूर्ण ज्ञानके लिए प्रत्यक्ष प्रमाणसे बढ़कर अन्य साधन नहीं हो सकते। मुगल-युगकी सामाजिक स्थितिके सम्बन्धमें यदि एक अनुभवी पाश्चात्य विद्वान् फ्रान्सिस पोलसक्रेटका आँखों देखा विवरण न दिया गया तो चर्चा अधूरी-सी रह जायेगी। पोलसक्रेट अपने ७ वर्षोंके आँखों देखे मुगलकालीन अनुभवमें लिखते हैं—

[१]"जनताके तीन वर्ग जो वास्तवमें नाम मात्रसे स्वतन्त्र हैं, परन्तु उनकी जीवनधारा स्वयं-स्वीकृत-दासतासे नहींके बराबर ही भेद खाती है। कार्यकर्ता, चपरासी, नौकर और दुकानदार इनका कार्य स्वतन्त्र नहीं था। पारिश्रमिक अल्प था। भोजन और मकान दयनीय थे। सदैव शाही कार्यालयके दबावके शिकार रहते थे। दुकानदार यद्यपि कभी-कभी धनवान् और आदृत थे, परन्तु बहुधा अपनी सम्पत्ति गुप्त रखते थे।"

इस प्रकार मुगल-युगकी समाज-व्यवस्थाके अध्ययनसे हम इसी निर्णय-पर पहुँचते हैं कि तत्कालीन समाज व्यवस्थाकी उन्नतिके लिए साम्राज्यकी ओरसे कोई प्रयत्न नहीं किये जाते थे। वरन् शासनके अधिकारी जनता

---

१. Three classes of people who are indeed nominally free but whose status differs very little from voluntory slavery workmen, peons or servants and shop-keepers, their work was not voluntory, wages were low, food & houses poor, and they were subject to the opression of the inperial offices, the shopkeepers, though sometimes rich and respected, generally kept their wealth hidden. 'History of India,' by Francis Pelscret.

रूपी खेतको स्वच्छन्दतापूर्वक साँड बनकर चरा करते थे। अन्धविश्वास, बहुधर्मिता, निरक्षरता, अरक्षा और अज्ञानसे भी समाज पीड़ित था।

न्याय-शासन

प्राचीन खलीफ़ाओंकी भाँति पूर्वी रीतिके अनुसार मुग़ल सम्राट् एक निश्चित दिवसको अपना दरबार करते थे। उसी समय विभिन्न अभियोगोंकी जाँच किया करते थे। अपीलका सर्वोच्च न्यायालय स्वयं सम्राट् था। काज़ी उलकुज्जात न्यायका प्रधान अफ़सर था।

न्याय-निर्माण

[1]"सम्पूर्ण मुग़ल साम्राज्यमें जहाँगीरके १२ नियमों और औरंगज़ेबके फ़तवाए आलमगिरीके अतिरिक्त राज्य क़ानूनकी कोई लिखित पुस्तक नहीं थी। न्यायाधीशोंके विचाराधीन जो क़ानून होते थे वे कुरानके नियमोंके आधारपर निर्मित होते थे। फ़ौजदारीके मुक़दमेमें धार्मिक आधारपर कोई भेद-भाव नहीं किया जाता था, परन्तु दीवानीके मुक़दमेमें जब एक दल किसी सम्प्रदायका होता था तो उसके परम्परागत अधिकारों तथा प्रथाओंका उचित सम्मान किया जाता था।"

दण्ड

आजके दण्डके नियमोंकी तुलनामें मुग़ल-कालीन दण्ड काफ़ी कठोर था। अंग-भंग और चाबुक लगाना तो साधारण-सी बातोंपर होता था। विद्रोहियोंको विषपान तथा जीवित-दाह भी कराया जाता था। मुग़ल-युगके काज़ीवर्गकी निरंकुशतासे भी जनता काफ़ी त्रस्त थी। कविवर बनारसीदासको अपने कुटुम्बके साथ कई बार इन्हीं काज़ियोंके कारण घर छोड़ना पड़ा था। कविके पिताके तो बेंतोंकी मार भी काज़ियोंने धनके हेतु लगायी थी। जनतामें काज़ियोंके प्रति कैसे भाव थे इस सम्बन्धमें डॉ० जे० एन० सरकार लिखते हैं—[2] "मुग़ल-कालके काज़ी घृणित रूपसे

---

१. 'भारतवर्षका इतिहास' पृ० १५५, डॉ० ईश्वरीप्रसाद डी० लिट्।

२. The Kazis of Mughal days were notoriously corrupt. Every provincial capital had its local Kazi, who was appointed by the Chief Kazi and these appointments were frequently purchased by bribery. When the Kazi's bitch died, the whole town was at funeral, when the Kazi himself died, not a soul followed his coffin.'

'India Through Ages' by Dr. Sarkar.

भ्रष्ट थे। प्रत्येक प्रान्तीय राजधानीमें एक स्थानीय काजी होता था जो प्रधान काजी-द्वारा नियुक्त होता था और ये नियुक्तियाँ तेजीके साथ घूस देकर खरीदी जाती थीं। जब काजीकी कुतियाकी मृत्यु होती थी तब सम्पूर्ण नगर साथ होता था और जब स्वयं काजी मरता था तो एक भी व्यक्ति साथ न जाता था।"

इतनी गहरी घृणा काजियोंके प्रति जनतामें रहती थी और इसका प्रमुख कारण काजियोंके अमानवीय अत्याचार थे।

सम्पूर्ण भक्तियुगका साहित्य, जिसका मुग़ल युगकी राजनीति और समाज-व्यवस्थासे घना सम्पर्क है, इन्हीं सब उल्लिखित परिस्थितियोंके कारण धार्मिक दृढ़ताके साथ लिखा गया। यदि भक्तियुगमें धर्मप्रधान साहित्य न रचा जाता तो सम्भवतः आज अधिकांश भारत यवन होता। साहित्यकी धरापर धर्म सरल, सरस होकर जीवनमें एकरस हो जाता है। साहित्य अपनी स्वर्ण-जैसी बहुमुखी क्षमतासे धर्मकी अप्राकृतिक जड़ता भी सहजमें हर लेता है, भक्तिकालीन विपुल साहित्य इस बातके लिए दर्पण तुल्य है।

अब यह भी निर्विवाद है कि राजनीतिक वातावरणका पूर्ण प्रभाव साहित्यपर रहता है। राजनीति जीवनसे पृथक् नहीं है और साहित्य भी जन-जीवनके सुख-दुःखमें स्वयंको निमग्न देखना चाहता है और देखता आया है।

(ब) धार्मिक सम्प्रदाय और जैनधर्म (१६-१७वीं शती)

भारतवर्षमें अनेक विदेशी जातियाँ आयीं, बसीं तथा कुछ समयके पश्चात् भारतीय संस्कृतिमें स्वयंकी संस्कृतिको ऐसा एकाकार कर लिया कि फिर उन्हें पृथक् करके समझना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव-सा प्रतीत होने लगा। भोजन, वेशभूषा,, आचार-विचार प्रायः एक-से हो गये। परन्तु यवन लोग ऐसे आततायी बनकर आये कि भारतकी धर्म-प्राण जनताकी आत्मा तिलमिला उठी, उसे ऐसा लगा कि धर्म, आचार-विचार और एक ही शब्दमें कहा जाय तो सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति ही इन यवनोंके द्वारा अविलम्ब छिन्न-भिन्न कर दी जायेगी। इसके लिए यवन सम्राटोंने कभी राक्षसी वृत्तिसे अधिकारपूर्वक, तो कभी साधुताके आवरणमें छलपूर्वक बड़े प्रयत्न किये। अनेक पवित्र देवालय भूमिसात्

किये गये, ग्रन्थालय अग्निसात् किये गये तथा बहुमूल्य मणिरत्न आत्मसात् किये गये। अधिकाधिक संख्यामें भारतीय जनताका यवनीकरण किया गया। यद्यपि अकबर-जैसे उदार सम्राट् इसके अपवाद थे। ऐसी स्थितिमें यह स्वाभाविक ही था कि भारतीय जनता अपनी सीमाओंमें रहकर ही यथाशक्ति जितना सम्भव हो सके अपने पूर्वजोंकी अमूल्य निधि भारतीय संस्कृति और धर्मकी रक्षा करे।

भारतीयोंको मुसलिम संस्कृति और सभ्यताकी इतनी टक्करें झेलनी पड़ीं, इसके भी प्रबल कारण थे। जब भारतकी संस्कृति, सभ्यता और धर्मके किसी अंगसे भी उनका मेल न खाया तो उनका जो पैशाची अधिकार-मद फूटा वह कुछ स्वाभाविक भी था—विशेष रूपसे स्वयंके अतिरिक्त विश्व-भरको 'काफ़िर' समझनेवाली जातिके लिए। सामान्यतया मुसलमान एक ही ईश्वर मानते थे, फ़रिश्तों और शैतानकी उपासनामें विश्वास नहीं था, मूर्ति-पूजा नहीं करते थे। अवतार नहीं मानते थे, गो-ब्राह्मणका भी उनकी दृष्टिमें कोई सम्मान न था। भोजनादिकी पवित्रताको भी वे उतना महत्त्व नहीं देते थे। उनकी पूजा-उपासना पद्धति भी भारतसे मेल न खा सकी। यहाँकी सभी आचार-विचारकी पद्धतियाँ इनसे भिन्न थीं। भारतीय सामान्यतया बहुदेवोपासक थे, मूर्ति-पूजक थे, अवतारवादी थे, गो-ब्राह्मणका आदर भी करते थे। हिन्दुओंके अतिरिक्त जैन और सिखों-से भी इनका मेल नहीं खाया, परिणामतः भयंकर संघर्ष चले। शताब्दियाँ बीत गयीं। प्रत्येक सम्प्रदायने स्वयंको काफ़ी पुष्ट बनानेका प्रयत्न किया। इसी समय एक और अनहोनी 'अमर बेल' ने जन्म लिया और वह थी हमारी पारस्परिक असहिष्णुता। प्रारम्भ जिसके विरोधमें हुआ था, वहाँसे हटकर सभी भारतीय सम्प्रदाय बहुधा परस्परमें ही एक-दूसरेको छोटा-बड़ा सिद्ध करने लगे। आगे चलकर इसीके कारण असहिष्णुता प्रदर्शनके लिए अनेकों शास्त्रार्थ भी होने लगे। अब हमारा लक्ष्य परस्परमें एक-दूसरेको गिराना हो गया था। उस परम्पराके अंकुर, ध्वस्त रूपमें ही सही पर हममें आज भी विद्यमान हैं, यद्यपि इस कटुताको वात्सल्य और मैत्रीमें परिवर्तित करनेके लिए अत्यन्त प्रशस्त एवं वरेण्य प्रयत्न सन्तोंके आदर्शमार्ग-द्वारा समय-समय पर होते रहे हैं।

सन्त कवियोंने अपनी वाणियों-द्वारा हिन्दुत्व और मुसलमानत्वकी अपेक्षा मनुष्यत्व ही अधिक जीवित रखा। हिन्दू जनतापर मुसलिम मतकी

प्रबल धाराका घोर आतंक छा गया था। जनताको मुसलमान होनेसे बचानेके लिए इन सुधारकोंने अपने पन्थकी रचना इस ढंगसे की कि मुसलिम मतकी ओर झुकी हुई जनता सहजमें ही इनकी अनुयायी हो गयी। वर्णाश्रम धर्म, अवतारवाद, बहुदेवोपासना, मूर्ति-पूजा, साकारवाद आदि हिन्दुत्वकी विशेषताओंको हटाकर इन पन्थोंने उपासना-विधि मुसलमानोंकी भाँति सरल कर दी। इसीलिए कबीरपन्थ, दादूपन्थ, महानुभाव आदि पन्थ जोरोंसे फैल गये। इनमें-से प्रायः सबने वेद-मार्गको छोड़ एक ऐसा मध्य मार्ग चलाया कि बहुत बड़ी संख्या मुसलमान बननेसे बच गयी।"[1] एक दीर्घकालीन संघर्षके बीच पिसती हुई जनता अब एक सरल, सीधा व्यय और क्रियाकाण्ड-रहित मार्ग चाहती थी। ऐसे ही समयमें विविध उदाराशय सन्तों और कवियोंने एक सामान्य, सुबोध और सहज-आचरण योग्य धर्मका प्रचार कविता-द्वारा, उपदेशों-द्वारा तथा जन-सेवा-द्वारा किया, जिससे जनताने पुनः सान्त्वना प्राप्त की।

हमें यह न भूलना चाहिए कि सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य भारतकी स्वाभाविक चिन्ता-धाराका विकसित परिणाम है, वह यवन नीतिकी प्रतिक्रियाका आवेशपूर्ण साहित्य नहीं है, हाँ यवनों-द्वारा वह साहित्य एक सीमा तक प्रभावित अवश्य हुआ है। एतदर्थ भारतीय जनता ऐसा साहित्य बिना प्रभावके न लिख सकती थी—यह पूर्वाग्रह लेकर चलना अनुचित होगा। यज्ञोंकी, शास्त्रार्थोंकी और अतिआचारोंकी धूमसे भारतीय जनता पहलेसे ही काफ़ी ऊब चुकी थी—जनपथके बीज स्वभावतः पड़ चुके थे। प्रौढ़ विचारक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"कभी-कभी यह शंका की गयी है कि हिन्दी साहित्यका सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात् भक्ति-साहित्य मुसलमानी प्रभावकी प्रतिक्रिया है और कभी-कभी यह भी बतानेका प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिया सन्तोंकी जाति-पाँतिकी विरोधी प्रवृत्ति अवतारवाद और मूर्तिपूजाके खण्डन करनेकी चेष्टामें मुसलमानी जोश है। किसी-किसीने तो कबीरदास आदिकी वाणियोंको 'मुसलमानी हथकण्डे' भी बताया है। ये सभी बातें भ्रममूलक हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि निर्गुण मतवादी सन्तोंके केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य, वस्तुके उपस्थापनकी प्रणाली, छन्द और भाषा पुराने भारतीय आचार्योंकी

१. रामदास गौड़ 'हिन्दुत्व', पृ० ७२५।

देन है ?"[1] द्विवेदीजी आगे लिखते हैं—"परन्तु इन सबका यह अर्थ नहीं है कि मुसलमानी धर्मका कोई प्रभाव इस साहित्यपर नहीं पड़ा है। यह कहना अनुचित है। एक जीवित जातिके स्पर्शमें आनेपर दूसरीपर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। भारतीय साहित्यके सुवर्ण-कालमें भी इस प्रकार विदेशी प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। परन्तु जिस प्रकार कालिदासकी कविताओंमें यावनी या ग्रीक प्रभाव देखकर यह नहीं कहा जाता कि वह दुर्बल जाति की प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्तिका निदर्शक है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्यमें भी यह प्रभाव 'प्रभाव' के रूपमें ही स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रियाके रूपमें नहीं।"[2]

उल्लिखित विवेचनको ध्यानमें रखकर यदि भारतीय साहित्यका अध्ययन किया जाये तो हिन्दीके साथ बँगला, मराठी और गुजरातीके साहित्यमें भी धर्मकी प्रमुखरूपेण प्राण-प्रतिष्ठा होती मिलेगी।

इस सत्यको "दोहरानेकी आवश्यकता नहीं कि १५वीं और १६वीं शताब्दीकी धर्म-परम्परा और वैष्णव धर्मकी पुनर्जागृतिका हिन्दी साहित्य ऋणी है, विशेष रूपसे तुलसीदास, बल्लभाचार्य और हित हरिवंशके नेतृत्वमें, जिन्होंने धार्मिक रचनाओंको निर्मित और गायनको महती शक्ति दी, जिसने हमारे साहित्य-कोषको अनुपम प्रतिभाके मणि-रत्नोंसे आपूरित कर दिया।"[3]

भक्तियुगमें धर्मकी मात्रा प्रमुख रूपसे है। इसका प्रधान कारण उस समय सम्पूर्ण देशकी परिस्थितिका ऐतिहासिक दृष्टिसे एक-सा होना है।

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' पृ० २८।
२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' पृ० २८-२९।
३. I hardly need repeat the fact that Hindi literature is greatly indebted to the religious fervour and Vaishnav revival of the 15th and 16th centuries chiefly under the leadership of the great Tulsidas, Ballabhacharya and Hit Haribansh, who gave a great empetus to the composition and singing of religious songs which have filled the treasure house of our literature with jewels of unparalleled brilliance. —Second Terminal Report on Hindi, 1909, 1910, 1911.

यही कारण है कि सभी भारतीय भाषाओंका तात्कालिक साहित्य धर्म-प्रधान है। डॉ० शशिभूषण दास गुप्त लिखते हैं—"सभी अद्यतन भारोपीय भाषाओंके साहित्यकी ऐतिहाहिक प्रगतिकी एकात्मता वास्तवमें आश्चर्य-चकित कर देनेवाली है। इस ऐतिहासिक एकताका कारण यही है कि सभी भाषाओंके साहित्यका इतिहास प्राचीन और मध्ययुगमें जो निर्मित हुआ उस समय भारतके विभिन्न प्रदेशोंकी ऐतिहासिक दशा प्रायः एक-सी थी।"[1] यह धार्मिक साहित्य-सृजनका क्रम छोटे या बड़े रूपमें १८वीं शताब्दीके अन्तिम चरण तक चलता रहा। उसके पश्चात् गौरांगोंकी भौति-कताके बाह्य आकर्षणसे मोहाभिभूत कविताने अब धीरे-धीरे अपने प्राचीन वस्त्र उतारना आरम्भ कर दिया। मध्यकालीन कविताकी धार्मिक पृष्ठ-भूमिके सम्बन्धमें डॉ० शशिभूषणदास गुप्तके ये विचार उद्धरणीय हैं—

"आधुनिक भारतीय साहित्योंका उद्भव और विकास कुछ निश्चित धार्मिक सम्प्रदायोंसे घनिष्ठ रूपसे है—जिन सम्प्रदायोंने दशम शताब्दीसे आगेके समयमें जन-जीवनको इस दिशामें उद्वेलित किया था।"[2] साहित्यका एक प्रमुख लक्ष्य सदैवसे रहा है। विश्वके सभी देशोंमें और विशेष रूपसे धर्म-प्रधान भारतमें तो ऐसा हुआ ही है। वास्तविक रूपमें भारतीय साहित्यके इतिहाससे कुछ प्रमुख धर्मोंका इतिहास ऐसा लिपटा हुआ है कि उसके अध्ययनके अभावमें तत्कालीन साहित्यका प्रामाणिक अध्ययन सम्भव नहीं है। अतः हमें यदि किसी मध्ययुगीन अथवा भक्तिकालीन साहित्यका अध्ययन पूर्ण रूपमें करना है तो तत्कालीन उत्तर भारतमें प्रचलित सभी धार्मिक सम्प्रदायोंपर एक विहंगम दृष्टि अवश्य डालनी होगी।

कविवर बनारसीदासका जीवन तो एक ऐसे साहित्यकारका जीवन था जिसने जैन परम्पराके अन्तर्गत रहकर ही साहित्य-सेवा की। सम्पूर्ण जैन-साहित्य-प्रकृतिका ब्रह्म धर्म प्रमुख रूपसे रहा है, इसे स्वीकार करनेमें भी जैन साहित्यकारोंने लज्जा और संकोचकी अपेक्षा गौरवका ही अनुभव किया है।

धर्ममें आडम्बर और क्रियाकाण्डकी निरर्थक व्यस्त योजनाओंके कवि-

---

१. S. B. Das Gupta, Obscure Religions Cults : p. 33.
२. वही, पृ० ३३।

वर बनारसीदासजी विरोधी थे। उनका सम्पूर्ण जीवन यदि विविध धर्मोंकी एक 'प्रयोगशाला' कहा जाये तो कोई अतिशयपूर्ण वार्ता न होगी। कभी वैष्णव, कभी शैव, कभी तान्त्रिक, कभी क्रियाकाण्डी, कभी नास्तिक, कभी श्वेताम्बर तो कभी दिगम्बर जैनके रूपमें कविने सभी धर्मोंका अनुभव किया और इसी निष्कर्षपर पहुँचे कि धर्मका सम्बन्ध यदि बाह्य प्रदर्शन क्रियाकाण्डादिसे रखा जायेगा तो उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ क्षुद्रता और स्वैराचार पनप उठेंगे। धर्मके नामपर सभी अमानवीय तत्त्व भी पुष्ट होंगे। अतः धर्मका नाता अन्तस्से—आत्मासे होना चाहिए। यदि हम निश्चित रूपसे अन्दरसे शुद्ध हैं तो संसारकी कोई भी शक्ति हमारा पतन कदापि नहीं कर सकती।

तो अब हम कविके जीवनको प्रभावित करनेवाले १६वीं और १७वीं शताब्दीके वे सभी धार्मिक सम्प्रदाय समझ लें जो उस समय उत्तर भारतमें विद्यमान थे और साहित्य-संसारको अपनी अलौकिक आभासे आलोकित कर रहे थे।

इस प्रकरणमें हमारा ध्येय विभिन्न धर्मोंकी ऐतिहासिक तिथियोंके आधारपर नवीनता और प्राचीनता सिद्ध करना तथा उसी नवीनता और प्राचीनताके आधारपर उन्हें लघु-गुरु कर दिखाना नहीं है। १६वीं-१७वीं शताब्दीमें उत्तर भारतमें किसी भी रूपमें विद्यमान सभी प्रमुख धर्मोंका सामान्य तथा जैन धर्मका विशेष परिचय इस शाखामें दिया जायेगा।

शैव धर्म

शैव धर्म यद्यपि उत्तर भारतमें दक्षिण भारतकी ही देन है, परन्तु यहाँके वर्तमान धर्मोंमें इस धर्मकी प्रमुखता रही है। वेदादिमें वैसे मूर्ति-पूजाकी कोई चर्चा नहीं है, परन्तु आगे चलकर वेदोंके रुद्रादि देवता ही शिवके रूपमें अर्चित होने लगे। रुद्रको ऋग्वेदमें भय और ताड़नाका देवता माना है, तो ऐसे सूक्त भी ऋग्वेदमें है जिनमें रुद्रको रक्षा और निर्माणका देवता माना गया है। डॉक्टर मूर और वेबर जो प्रसिद्ध वेद-व्याख्याता थे, वे भी रुद्रको भयका देवता मानते थे। सी० वी० नारायण अय्यर लिखते हैं—"वैदिक देवताओंकी ठीक विशेषताओंके समझनेमें ये विदेशी विद्वान् असफल रहे हैं, क्योंकि प्रकृतिकी घटनाओंका व्यक्तीकरण इन्हींके द्वारा होता था, ऐसी इनकी धारणा थी। कोई भी व्यक्ति वैदिक सूक्तोंके

अध्ययनसे इस निश्चयपर पहुँच जायेगा कि रुद्रके दो कार्य थे—सफलता वितीर्ण करना और दुःखोंका नाश करना।"[1]

दक्षिण भारतने कला और संस्कृतिके साथ उत्तर भारतको कुछ धार्मिक देन भी दी है। शैव धर्मका आगमन उत्तर भारतमें दक्षिणसे हुआ। दक्षिण भारतमें शैव [2]आलवारोंकी संख्या ६४ मानी जाती है। इनमें माणिक वाचक, सम्बन्ध, वागीश और सुन्दर अधिक प्रसिद्ध हैं। आलवारोंकी अमर वाणियाँ आध्यात्मिक साहित्यके दो महान् संग्रह ग्रन्थोंमें सुरक्षित हैं। उनमें-से एकका नाम 'देवरन' अर्थात् भगवत् प्रेमके हार और दूसरेका नाम है 'तिरु वाचकम्' अर्थात् पवित्र वाणी। 'परिय पुराणम्' तथा 'ईश्वर लीला' नामक महान् ग्रन्थोंमें इनके पवित्र चरित्रका वर्णन है।

शैवोंके मुख्य पाँच भेद हैं—१. सामान्य शैव, २. मिश्रशैव, ३. वीरशैव, ४. बसव पक्षी लिंगायत शैव, ५. कापालिक शैव।

१. सामान्य शैव—भस्म धारण करते हैं। भू-प्रतिष्ठित शिवलिंगकी अर्चना करते हैं। अष्टविधिसे शिवका ध्यान करते हैं।

२, मिश्र शैव—सिंहासनस्थ लिंगकी पूजा करते हैं। उमा, विष्णु, गणपति, सूर्यकी पूजा करते हैं। ये शंकराचार्यके अनुयायी स्मार्त शैव हैं। अनेक देवोंकी मिश्रित भावसे पूजा करते हैं अतः मिश्र कहलाते हैं।

३. वीर शैव—इन मतानुयायियोंकी मान्यता है कि सम्पूर्ण जगत्का निर्माण, विकास और नाश शिव-द्वारा ही होता है। सम्पूर्ण विश्वको ये शिवमय ही मानते हैं। यह मत पाशुपत मतसे अभिन्न है। ये लोग लिंगायत नामसे भी प्रसिद्ध हैं। इनकी मान्यता है—"शिवलिंग सब संकटोंका नाशक है, परब्रह्म है जो इसे भक्तिसे धारण करता है उसे पाशुपत कहा

१. सी० वी० नारायन अय्यर, 'ओरीजिन ऐण्ड अर्ली हिस्ट्री ऑव शैविज्म इन साउथ इण्डिया': प्रथम अध्याय, पृ० १।

२. दक्षिण भारतमें लोगोंके हृदयमें भगवत्-प्रेमकी बुझती हुई लौको पुनः उद्दीप्त तथा वायुमण्डलको पवित्र करनेवाले सन्त हुए जो आलवार नामसे अब भी प्रसिद्ध हैं। आलवारका अर्थ है अध्यात्म ज्ञानरूपी समुद्रमें गहरे गोते लगानेवाला। शैव और वैष्णव दोनों ही अपने सन्तोंको अलवार शब्दसे सम्बोधित करते थे।—'विश्व धर्म दर्शन' श्री साँवलिया बिहारीलाल वर्मा, पृ० २८०।

जाता है।"[1] इसी आधारपर मृत्युपर्यन्त शरीरपर ये लिंग धारण किया करते हैं। मद्रास और हैदराबादमें इनकी प्रधानता है।

शैव धर्मके सभी सम्प्रदायोंमें वीर शैवोंका सम्प्रदाय अधिक प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदायकी प्राचीनताके सम्बन्धमें डॉ० भाण्डारकर और फर्कुहरने एक ही आशयमें लिखा है—"वसव नामक एक शैवोद्धारकसे कुछ समय अर्थात् आजसे लगभग आठ सौ वर्ष पहले वीर शैवमतका आरम्भ हुआ है।"[2]

४. वसव पक्षी लिंगायत—शैव मतकी इस शाखाका आधार वसवेश्वर पुराण है। यह एक प्रकारसे सुधारवादी मत है। वीर शैवोंकी बहुत-सी बातें न मानकर केवल शिवको ही एक देवता स्वीकार किया। क्रियाकाण्ड, तीर्थयात्रादिको सर्वथा व्यर्थ ठहराया।

५. कापालिक शैव—ये तान्त्रिक साधु होते हैं। मनुष्यकी खोपड़ी लिये रहते हैं। मद्य-मांसादिका भी भक्षण करते हैं। पहले इनमें नरबलि भी होती थी। ये वाममार्गी हैं, श्मशानमें रहकर वीभत्स रीतिसे ये उपासना करते हैं।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन—यह शाखा काश्मीरी शैवोंकी है। इनके अनुसार सम्पूर्ण संसार शिवमय है। जीव और ईश्वर एक है, इस ज्ञानकी प्राप्ति ही मुक्ति है। यह मत शंकराचार्यके अद्वैत सिद्धान्तका पोषक और शिव-सूत्रोंपर निर्भर है।

शिवाद्वैतवाद—"भक्ति-प्रधान शैव मत है। इस मतकी मान्यता है—शिव भक्तिसे ही मुक्ति मिलती है। कर्म और ज्ञानका फल मुक्ति है, यही इस मतकी मान्यता है। सर्व शक्तिमान् शिव ब्रह्म हैं और जीवोंको उनके कर्मानुसार भोग प्रदान करते हैं। जीव अज्ञान-वासनाओंसे बद्ध है। बन्धन कट जानेपर परब्रह्मके समान ऐश्वर्य प्राप्त कर असीम आनन्दका अनुभव करता है।"

वैष्णव धर्म

'महाभारत' काल तक वैदिकके वरुन तथा इन्द्रका स्थान विष्णु ले

१. परब्रह्म इदं लिङ्गम्, पशुपाशविमोचनम्।
यो धारयति सद्भक्त्या स पाशुपत उच्यते॥

२. 'वैष्णविज़म शैविज़म एण्ड माइनर रिलीजन सिस्टिम्स': डॉ० भाण्डारकर, पृ० १६०।

चुके थे। आगे चलकर भारतवर्षमें विष्णु-पूजाके साथ-साथ उनके अवतार राम और कृष्णकी पूजा भी आरम्भ हो गयी। प्राचीनतकी दृष्टिसे पांच-रात्र मतको पुष्ट करता हुआ भागवत सम्प्रदाय या वैष्णव मत महाभारत कालमें भी था, परन्तु आगे चलकर बौद्ध धर्मकी प्रतिष्ठा बढ़ी और इसका ह्रास भी हुआ। समय पाकर पुनः यह धर्म उठा और सम्पूर्ण भारतका एक व्यापक धर्म बन गया।

श्री विष्णुके चरित्रसे सम्बन्धित अनेकों पुराण हैं— विष्णु पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, हरिवंश पुराण और श्रीमद्भागवत् इत्यादि। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्धि 'श्रीमद्भागवत्' को ही है। वैष्णव सन्तोंने समय-समयपर धार्मिक विषमता तथा पारस्परिक कटुता समाप्त करनेके लिए जनताका हृदय भगवद्भक्तिमें एकात्म करनेके लिए अनेकों अथक भव्य प्रयत्न किये। ये सन्त केवल ज्ञाता और उपदेष्टा न थे, वरन् चरित्रकी भव्य मूर्ति भी थे। वैष्णव सन्तोंके सम्बन्धमें प्रकाण्ड पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"सुदूर दक्षिणमें आलवार भक्तोंमें भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति वर्तमान थी। आलवार बारह बताये जाते हैं जिनमें कमसे कम नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं ही। इनमें आण्डाल नामकी एक महिला भी थी। इनमें-से अनेक भक्त उन जातियोंमें उत्पन्न हुए थे जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है। इन्हीं लोगोंकी परम्परामें सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुजका प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिणमें आजकी भाँति ही जाति-विचार अत्यन्त जटिल अवस्थामें था।"[1] आचार्यजी आगे लिखते हैं— "फिर भी जैसा कि अध्यापक क्षितिमोहन सेनने लिखा है, इस जाति-विचार शासित दक्षिण देशमें रामानुजाचार्यने विष्णुभक्तिका आश्रय लेकर नीच जातिको ऊँचा किया और देशी भाषामें रचित शठकोपाचार्यके तिरुवेल्लुअर प्रभृति भक्ति शास्त्रको वैष्णवोंका वेद कहकर समाहृत किया।"[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैष्णव सन्तोंने आरम्भमें दक्षिणमें भी एक धार्मिक क्रान्तिको जन्म दिया और स्पष्ट घोषणा की कि धर्म जातिवाद और वर्गवादकी संकुचित पगडण्डियोंका चेरा नहीं है वह मानवताके राजमार्गका उद्घोषकर्ता है। सर्वश्री नाभादासजी, ज्ञानेश्वरजी, नामदेवजी, तुकारामजी, नरसी मेहता, रामदास, स्वामी, मीराबाई,

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' पृ० ४५।
२. वही।

सूरदास, तुलसीदास एवं आलवार सन्तोंने किसी मत-विशेषका प्रचार करनेका दृष्टिकोण कभी नहीं बनाया। सदैव अपनी गाढ़ भक्तिसे आप्लावित भजनों-द्वारा जनतामें एकता, शान्ति और सन्तोषका अक्षय भण्डार भरते रहे। कृष्णभक्ति-शाखाके अष्टछापके कवियों-द्वारा भी वैष्णव मतका पर्याप्त प्रचार और प्रसार हुआ।

उल्लिखित वैष्णव सन्त भक्तोंके अतिरिक्त कुछ प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य भी वैष्णव सम्प्रदायमें हुए जिन्होंने इस धर्मके विचार-पक्ष (दर्शन)-पर अपने विचार बड़े विस्तारसे रखे। उत्तर भारतमें विशेष रूपसे वैष्णव सम्प्रदायका दार्शनिक पक्ष ही परिपुष्ट किया गया। भक्तिकालीन साहित्यपर भी इसकी गहरी छाप है।

वैष्णव-दर्शनके प्रमुख आचार्य हैं— १. श्री यामुनाचार्य (विशिष्टाद्वैत दर्शन), २. श्री रामानुजाचार्य (विशिष्टाद्वैत दर्शन), ३. आचार्य रामानन्द (जीवन-दर्शन-भक्ति), ४. श्री मध्वाचार्य (द्वैतवाद), ५. श्री निम्बार्काचार्य (द्वैताद्वैत), ६. वल्लभाचार्य (शुद्धाद्वैत), ७. श्री चैतन्य महाप्रभु (अचिन्त्य भेद-भाव)।

श्री यामुनाचार्य आधुनिक वैष्णव धर्मके प्रवर्तक तथा रामानुजाचार्यके गुरु थे। इन सभी आचार्योंमें आचार्यप्रवर रामानन्दजी अत्यधिक उदार, आदर्श, लोकप्रिय तथा विद्वान् थे। आज हिन्दी साहित्यको जिन गिने-चुने कवि-सम्राटोंपर गर्व है, वे उक्त आचार्यप्रवरकी शिष्य-परम्परामें-से ही थे। भारतीयताकी रक्षाके लिए वैष्णव धर्ममें जन-धर्मके भाव भरनेकी बड़ी आवश्यकता थी। आचार्य रामानन्दजीने वैष्णव मतको अत्यन्त सरल, सर्व-ग्राह्य बनाकर लोदी बादशाहोंकी हिन्दू-संहारिणी नीतिके द्वार बन्द कर दिये। महात्मा कबीरदास, महात्मा तुलसीदास, रैदास, पीपा, धन्ना, सेना आदि रामानन्दजीके शिष्य थे। इनमें कबीर जुलाहा, रैदास चमार, पीपा राजपूत, धन्ना जाट और सेन नाई था।

आचार्य रामानन्दके सम्प्रदायकी शिक्षाका सार है—ईश्वरकी भक्तिसे जीव संसारके कष्टों और आवागमनसे मुक्त हो सकता है। यह भक्ति रामोपासनासे ही मिल सकती है। मनुष्य-मात्र इसका अधिकारी है। जाति-पाँतिका भेद भक्तिमें कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकता।

आज सम्पूर्ण भारतमें तथा विशेष रूपसे उत्तर भारतमें प्रचलित धर्मोंमें वैष्णव धर्मके माननेवालोंकी संख्या सबसे अधिक है। हिन्दी,

बँगला, मराठी और गुजरातीके साहित्यको (१६-१७वीं शतीके) वैष्णव मतने सर्वाधिक प्रभावित किया है। भक्तिकालीन साहित्यकी प्रमुख आधारशिला वैष्णव धर्म था। जैन और बौद्ध साहित्यके अपवादके साथ एक विस्तृत सीमा तक अद्यावधिक सम्पूर्ण भारतीय साहित्य वैष्णव धर्मसे अनुप्राणित रहा है।

इसलाम धर्म

इसलाम धर्मके आदि प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद साहबका जन्म ५७० ई० में अरबके मक्का शहरमें हुआ था। हज़रत मुहम्मद साहबके जन्मके समय अरब निवासियोंका आचार-विचार अत्यन्त अधःपतित हो चुका था। नरबलि, व्यभिचार, द्यूत, मद्यपान और बलात्कार आदि बातें तो साधारण हो चुकी थीं। पिताकी अनेकों स्त्रियाँ उसकी मृत्युके पश्चात् पुत्रोंकी हो जाती थीं। छोटे-छोटे बच्चोंको उन्मादवश कौतुकके लिए मार डालना भी साधारण था। इस प्रवृत्तिके प्रति असहिष्णुता दिखानेवाले भी मृत्युके घाट अविलम्ब उतारे जाते थे। हज़रत मुहम्मद साहबके सरल, मेधावी और प्रभावक व्यक्तित्वने इस प्रवृत्तिको रोकनेका बीड़ा उठाया, उन्हें धीरे-धीरे इतनी सफलता मिली कि बादमें इसलाम धर्म अरबमें ही नहीं अपितु विश्वके बहुत बड़े भागमें विस्तार पा गया।

इसलाम धर्मकी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक 'क़ुरान' है। इसका सार है—भिक्षुओंको दान देना प्रत्येक गृहस्थका आवश्यक कार्य है। किसीके साथ अन्याय न करना, रोगीकी सेवा करना, किसीके प्रति घृणा न करना। जो भगवान्के बन्दोंको प्यार नहीं करता ईश्वर उसे भी प्यार नहीं करता इत्यादि।

मुसलमानोंके मुख्य सम्प्रदाय ये हैं—सुन्नी, शिया, बतावी, आगाखानी, कादियानी। इनके अतिरिक्त प्रेममार्गी सूफ़ी मत भी है। मुसलमानोंका वह उदार दल जो प्रियतमाके रूपमें परमात्माकी उपासना करता है, सूफ़ी कहलाता है।

भारतवर्षसे भी इसलाम धर्मका लगभग एक हज़ार वर्ष पुराना सम्बन्ध है। इस देशमें यवन जाति शासकके रूपमें आयी। जिन कुरीतियोंके विरोधमें इसलामने जन्म लिया था, विस्तार पाया था, प्रभुता पाते ही पुनः वे ही कुरीतियाँ और दोष इसलाममें पुनः आ घुसे। सम्पूर्ण वीरगाथा-

कालीन और भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य मुसलिम सभ्यतासे प्रभावित अवश्य रहा है। स्वाभाविक चेतना और यवन प्रभाव ही इस साहित्यके मूलमें हैं।

सूफ़ी शाखाने हिन्दू-मुसलिम संगठनमें बड़ा प्रबल कार्य किया। मलिक मुहम्मद जायसी, रसखान और रहीम – जैसे कविरत्न हमें यवनोंसे ही प्राप्त हुए हैं।

सिक्ख धर्म

सिक्ख धर्मके आदि प्रवर्तक गुरु नानक देव थे। आपका जन्म वैसाख सुदी ३ संवत् १५२६ (१४ अप्रैल, १४६९) में राईकोईको तलमण्डी (आजका नानकाना) में हुआ था। आप बाल्यावस्थासे ही शान्त प्रकृतिके थे। मन भक्तिमें ही तल्लीन रहता था। वैराग्य भावकी वृद्धिके कारण आपने संसार-कल्याणके लिए १५५४ में देशाटन आरम्भ किया। दीर्घ-कालीन अनुभव-द्वारा आपने स्पष्ट किया कि मनुष्यकी एक जाति है और वह है 'मानवजाति'। पृथक् और जातियोंमें बँटकर हम कल्याणकी खोज नहीं कर सकते। सं० १५९६ में आपने निर्वाण प्राप्त किया।

सिक्खोंके गुरु थे—१. गुरु नानक, २. अंगद, ३. अमरदास, ४. रामदास, ५. अर्जुनदेव, ६. हरगोविन्दसिंह, ७. हरिराय, ८. हरिकृष्णगुरु, ९. तेगबहादुर, १०. गुरु गोविन्दसिंह। इन दस गुरुओं तक ही गुरु-परम्परा चली। अन्तिम गुरु गोविन्दसिंहने आज्ञा कर दी थी कि अब भविष्यमें कोई व्यक्ति गुरु नहीं होगा, केवल 'ग्रन्थसाहब' ही गुरु होंगे।

सिक्ख धर्मके मूल सिद्धान्त ये हैं—१. ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। २. धर्म और सदाचारका पालन। ३. ईश्वरको छोड़ अन्यकी पूजा न करना। ४. ईश्वर-द्वारा निश्चित कर्मोंको निष्काम भावसे करना। ५. भ्रातृभाव। सिक्ख धर्मके पाँच चिह्न है—केश, कंघा, कड़ा, कृपाण कच्छा। सिक्खोंका धर्म-ग्रन्थ 'ग्रन्थसाहब' है जिसमें मुक्तिमार्गका विवेचन है।

सिक्ख जाति और उसके सन्तोंको आरम्भसे ही यवनोंसे जूझना पड़ा। कई सिक्ख गुरुओंकी तो दुष्टतापूर्वक हत्या भी की गयी, परन्तु ये अपने धर्मसे कदापि विचलित न हुए। पंजाबी भाषाका साहित्य और पंजाबी धर्मगुरु दोनोंने ही हिन्दीसे लिया और दिया भी है।

बौद्ध धर्म

भारतीय साहित्यको बौद्ध संस्कृति और धर्मने भी पर्याप्त मात्रामें प्रभावित किया है। भक्तिकालीन साहित्यके समय यद्यपि बौद्ध धर्मका उतना प्रभाव उत्तर भारतपर न था जितना कि गुप्तकालमें और स्वयं महात्मा बुद्धके समय, परन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस धर्मके मर्म अहिंसा और सादगीने भारतकी साहित्य-स्रोतस्विनीको अवश्य ही अद्यावधि प्रभावित किया है। भक्तिकालीन सम्पूर्ण सन्तोंपर तात्कालिक ऐतिहासिक परिस्थितिके साथ बौद्ध परम्पराकी भी छाप है।

ईसाई धर्म

नामके लिए तो ईसाई लोगोंका आगमन १७वीं शताब्दी तक आरम्भ हो गया था, परन्तु उस समयके साहित्यको भी इस धर्मने प्रभावित किया हो ऐसी स्थिति इस धर्मवालोंकी उस समय इस देशमें न हो सकी थी। उस समय तक तो 'शरणार्थी'-जैसी ही अँगरेजोंकी दशा थी।

इस प्रकार यदि वीरगाथाकालसे भक्तिकालके अन्त तकके हिन्दी साहित्यकी धार्मिक पृष्ठभूमि देखी जाये तो हमें दो बातें स्पष्ट परिलक्षित हो जायेंगी—१०वीं शताब्दी तक ब्राह्मण धर्म पुनः पूर्णरूपेण प्रभुता स्थापित करनेकी शक्ति पा चुका था। वह वेदमार्गका बड़ी प्रबलताके साथ उद्घोष कर रहा था, जब कि बौद्ध, शैव, शाक्त, जैन और स्वयं यवन इस ब्राह्मण मान्यताके पक्षमें न थे। यह धार्मिक उथल-पुथल हिन्दीके भक्तिकालीन साहित्यमें सगुण, निर्गुण साधनाके रूपमें, विविध नवीन पन्थोंके रूपमें तथा धर्ममें अति आचार (अत्याचार) के विरोधके रूपमें आज भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यदि साहित्यकी धर्म-पीठिकामें थोड़ा और पैठा जाये तो यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि आगे चलकर जब यवनोंकी पूर्ण प्रभुता इस देशपर स्थापित हो गयी और इसलामके विरोधमें उससे बचनेके लिए एक संयुक्त मोरचेकी आवश्यकता हुई तो कुछ स्वाभाविक भी ऐसा ही था कि बौद्ध-शैव और शाक्त स्वयंको ब्राह्मण-धर्मकी ओर सम्मिलित कर लें और हुआ भी ऐसा ही। हाँ सिद्धान्ततः कुछ बातोंमें फिर भी विरोध बना ही रहा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—गोरक्षनाथका जिस समय आविर्भाव हुआ था वह काल भारतीय धर्मसाधनामें बड़े उथल-पुथलका है। एक ओर मुसलमान लोग

भारतमें प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्ध साधना क्रमशः मन्त्र-तन्त्र और टोने-टोटकेकी ओर अग्रसर हो रही थी। दशमी शताब्दीमें यद्यपि ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूपसे अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धों, शाक्तों और शैवोंका एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेदके प्राधान्यको नहीं मानता था। यद्यपि उनके परवर्ती अनुयायियोंने बहुत कोशिश की है कि उनके मार्गको श्रुतिसम्मत मान लिया जाये परन्तु यह सत्य है कि ऐसे अनेक शैव और शाक्त सम्प्रदाय उन दिनों वर्तमान थे जो वेदाचारको अत्यन्त निम्नकोटिका आचार मानते थे और ब्राह्मण-प्राधान्य एकदम नहीं स्वीकार करते थे।"[1]

धर्मके सम्बन्धमें स्वतन्त्र ढंगसे सोचने और माननेकी एक आदर्श परम्परा विकसित होती हुई हमें भक्तिकाल तक प्राप्त होती है। जिसका और भी विकसित परिणाम भक्तियुगीन साहित्यमें हमें प्राप्त होता है।

जैन धर्म

एक समय था जब जैन धर्मको हिन्दू धर्मकी एक स्वतन्त्र सुधारवादी शाखा अथवा बौद्ध धर्मकी एक शाखाके ही रूपमें विद्वान् स्वीकार कर लेते थे, किन्तु समय और अनुसन्धानोंके परिणामस्वरूप अब वे प्राचीन धारणाएँ बदल चुकी हैं। अब उसे एक स्वतन्त्र अस्तित्वमें जीवित एवं चिरकालसे पुष्ट और आदर्श धर्मके रूपमें स्वीकार कर लिया गया है। एक और भ्रान्त धारणा चिरकालसे जैन धर्मके सम्बन्धमें विद्वानोंमें बद्धमूल थी कि जैन धर्मके प्रवर्तक भगवान् महावीर थे अर्थात् जैन धर्म केवल २५०० वर्षसे ही अस्तित्वमें है। अनेक ठोस प्रमाणों-द्वारा अब यह धारणा भी समाप्त हो चुकी है। जैन धर्म आदि तीर्थंकर ऋषभदेव-द्वारा प्रवर्तित धर्म है, यह मान्यता आज अनेक विद्वानोंकी हो चुकी है। उल्लिखित दोनों बातोंकी पुष्टिमें हम कुछ सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञों और दार्शनिकोंके मत उद्धृत करेंगे जिससे उक्त बात प्रमाणित हो सके और तथ्य हमारे सम्मुख आ सके।

"भागवत पुराणसे स्पष्ट है कि जैन धर्मके संस्थापक ऋषभदेव थे। ऋषभदेवकी पूजा ई० की प्रथम शताब्दीमें होती थी। इसके प्रमाण भी

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'नाथ सम्प्रदाय' पृ० १४५।

उपलब्ध हैं। निस्सन्देह जैनधर्म वर्धमान अथवा पार्श्वनाथसे पूर्व प्रचलित था। यजुर्वेदमें ऋषभ, अजित और अरिष्टनेमिका उल्लेख है।"[१]

पं० जवाहरलाल नेहरू

सभी कदीम हिन्दुस्तानी मतोंके लिए और इनमें बुद्धमत और जैनमत भी शामिल हैं—सनातन धर्म यानी प्राचीन धर्मका प्रयोग हो सकता है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म यकीनी तौरपर हिन्दू धर्म नहीं हैं और न वैदिक ही हैं।"[२]

डॉ० ए० सी० सेन

"जैन धर्म भगवान् महावीरसे प्राचीन है, इसका प्रारम्भ सम्भवतः प्राक् आर्यकालीन विचारधारामें गर्भित है।"[3]

प्रो० जयचन्द विद्यालंकार

"जैनोंकी मान्यता है कि उनका धर्म बहुत प्राचीन है और भगवान् महावीरके पहले २३ तीर्थंकर हुए हैं। इस मान्यतामें तथ्य है। ये तीर्थंकर अनैतिहासिक व्यक्ति नहीं थे। भारतका प्राचीन इतिहास उतना ही जैन है जितना वैदिक।"[४]

डॉ० हेडरिक जिम्मर

"जैन धर्मका विकास ब्राह्मण अथवा आर्य स्रोतोंसे नहीं हुआ है।

---

१. 'The Bhagwata Purana' endorses the view that Rishabha was the founder of Jainism. There is evidence to show that so far back as the first century B. C. there were people who were worshipping Rishabha, the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhman or Parshwanath, The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras, Rishabha, Ajit and Aristnemi'.—Dr. S. Radhakrishnan, Indian : Philosophy Vol. I pp 237.

२. पं० जवाहरलाल नेहरू, 'हिन्दुस्तानकी कहानी' पृ० ७६।

३. डॉ० ए० सी० सेन, 'दी इण्डो एसियन कल्चर' १. १. ७८।

४. जयचन्द्र विद्यालंकार, 'भारतीय इतिहासकी रूपरेखा' भाग १ पृ० ३४३–३४६।

उसके जन-जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्त प्राक् आर्यकालीन हैं। पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे।"[1]

प्रो० एम० एस० रामस्वामी आयंगर

"यह प्रमाणित करना कठिन नहीं है कि जैन धर्म बौद्ध अथवा ब्राह्मण सौत्रिक न होकर भारतका एक प्राचीनतम धर्म है।"[2]

मेजर जनरल जे० सी० आर फर्लाग

"ईसासे असंख्य वर्ष पूर्वसे ही जैन धर्म भारतवर्षमें फैला हुआ था, आर्य लोग जब यहाँ आये तब यहाँ जैन लोग मौजूद थे।"[3]

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् स्व० हर्मन याकोबी

"भगवान् पार्श्वनाथ जैन धर्मके प्रवर्तक थे इसमें तो अब कोई सन्देह नहीं है, जैन परम्परा ऋषभदेवको अपना प्रथम तीर्थंकर माननेमें एकमत है। इसमें भी कोई ऐतिहासिक तथ्य सम्भव है जो ऋषभदेवको प्रथम तीर्थंकर प्रमाणित करता है।"[4]

इन विद्वानोंके अतिरिक्त हमारे अति प्राचीन एवं मान्य ग्रन्थ ऋग्वेद, यजुर्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण, वेदान्त सूत्र, भागवत् और विष्णुपुराण भी जैन धर्मकी प्राचीनताका समर्थन करते हैं।[5]

विभिन्न जैनेतर पुराणों-द्वारा भी ऋषभदेव और उनके पुत्र भरतकी ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है—

मार्कण्डेय पुराण : "नाभिरायके पुत्र ऋषभदेव हुए और ऋषभदेवके भरत नामका पुत्र हुआ जो अपने सौ भाइयोंमें श्रेष्ठ था। भरतको राज्य

---

१. डॉ० हेइरिक जिम्मर, 'फिलासफी ऑव इण्डिया' पृ० १८१, २७६।

२. It is not difficult to prove that Jainism far from being an offshoot of Buddhism and Brahmanism was one of the earliest to the religions of India. : Prof. M. S. Ramswami Ayangar, (Jaina Gazette XVI pp. 212).

३. 'दी शॉर्ट स्टडी इन साइन्स ऑव कम्पैरेटिव रिलीजन।' : प्रो० मेजर जनरल जे० सी० आर० फर्लांग।

४. इण्डियन ऐण्टीक्वेरी वोल्यूम—६ : हर्मन याकोबी, पृ० १६३।

५. ऋग्वेद ८. ८. २४, यजुर्वेद २५. १९, ऐतरेय ब्रा० २०, २, वेदान्तसूत्र ११. २. २३. ३६, भागवत २. ७. १०, विष्णुपुराण ५

देकर ऋषभदेवने प्रव्रज्या ले ली और तपस्या की। ऋषभदेवने हिम नामक दक्षिण प्रदेश भरतको दिया था अतः आगे चलकर इस देशका नाम भारत पड़ा।"[1]

"इसी आशयके समर्थक कूर्मपुराण, अग्निपुराण, वायुमहापुराण, ब्रह्माण्डपुराण, वाराहपुराण, लिंगपुराण, स्कन्दपुराण तथा मनुस्मृतिमें अनेकों स्थल हैं।[2]

जैन मान्यताके अनुसार इस दृश्यमान जगत्में समय-चक्र सदैव घूमता रहता है। यद्यपि कालका प्रवाह अनादि और अनन्त होनेसे अविभाज्य है तथापि व्यवस्थाके लिए उसके छह विभाग हैं—१. अतिसुखमा, २. सुखमा, ३. सुखमा दुःखमा, ४. दुःखमा सुखमा, ५. दुःखमा, ६. दुःखमादुःखमा। चलती गाड़ीके चक्रके समान प्रत्येक काल नीचे-ऊपर आता है अर्थात् क्रमशः घूमता रहता है। संसार इस काल-चक्रके अनुसार एक बार दुःखसे सुखकी ओर आता है और एक बार सुखसे दुःखकी ओर आता है। दुःखसे सुखकी ओर जानेको उत्सर्पिणी काल तथा सुखसे दुःखकी ओर जानेको अवसर्पिणी काल (अवनतिकाल) कहते हैं। इन दोनों कालोंकी अवधि करोड़ों वर्षोंसे भी अधिक है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी

---

१. अग्निध्रसूनोः नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः॥ ३९॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंश्रयः॥ ४०॥
हिमाख्यं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥ ४१॥
—मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ५०।

२. कूर्मपुराण अध्याय ४१ (३७, ३८); अग्निपुराण अध्याय १० (१०, ११); वायुमहापुराण पूर्वार्ध अ. ३३ (५०-५२); वाराहपुराण अध्याय ७४; लिंगपुराण अध्याय ४७ (१९-२३); ब्रह्माण्डपुराण पूर्वार्ध (५९, ६०, ६१); विष्णुपुराण द्वितीयांश अ० १ (२७, २८); स्कन्दपुराण (कौमार खण्ड) अ० ३९ (५७)।

मनुस्मृति—
मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुलसत्तमाः।
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः॥
दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः।
नीतित्रितयकर्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः॥

कालके दुःख-सुखात्मक चक्रमें चौबीस तीर्थंकर होते हैं। ये चौबीसों तीर्थंकर संसारको आत्म-कल्याणका उपदेश देकर मुक्तिमार्गकी ओर अग्रसर होते हैं। स्वयं भी मुक्ति प्राप्त करते हैं। इस समय जिस चक्रमें हम लोग चल रहे हैं वह अवसर्पिणी कालका पाँचवाँ खण्ड है। उसके प्रारम्भके चार भाग बीत चुके हैं। तीर्थंकर सदैव चतुर्थकालमें ही होते हैं। वह चूँकि समाप्त हो चुका है अतः अब कोई तीर्थंकर नहीं होगा। ऋषभदेव इस युगके प्रथम तीर्थंकर थे। तृतीय काल विभागमें ८॥ माह जब शेष रहे तब ऋषभदेवका निर्माण हुआ और इसी प्रकार जब चतुर्थ कालके ८॥ माह शेष रहे तो महावीरका निर्वाण हुआ।

जैन धर्मकी विशेषताएँ

आचार अर्थात् क्रियाकाण्ड, भक्ति, उपासना, यज्ञ, उपवासादि तथा विचार अर्थात् परमात्मा, जीव और जगत्‌की व्यवस्थापर सोचना—ये दो बातें ही धर्म कही जाती हैं अथवा प्रत्येक धर्ममें ये दो बातें होती हैं। जहाँतक जैन धर्मके आचार-पक्षका प्रश्न है उसमें बालक, गृहस्थ एवं साधु—सभी प्रकारके व्यक्तियोंके आचारको युक्तिसंगत ढंगसे विभाजित किया गया है। प्रत्येक जैन गृहस्थके प्रतिदिनके छह आवश्यक कर्म हैं—

"देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥"

अर्थात् देवपूजा, गुरुकी सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप तथा दान—ये छह कार्य यथाशक्ति प्रत्येक गृहस्थको नित्यप्रति करना चाहिए। पाँच अणुव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पाँचों अणुव्रतोंका भी गृहस्थको शक्त्यनुसार पालन करना चाहिए।

प्रत्येक जैन-गृहस्थके जैनत्वके मुख्य चिह्न ये आठ गुण भी हैं—अहिंसादि पाँचों अणुव्रतोंके पालनके साथ मद्य, मांस और मधुका त्याग। रात्रिभोजन और अनछना जल भी जैन नहीं लेगा। सूक्ष्म बातें बहुत हैं पर सामान्यतः यह एक गृहस्थ जैनका आचार है।

जैन दर्शन

जैन दर्शनका मूल स्याद्वाद या अनेकान्त है। जीव और अजीव—ये दो ही तत्त्व सम्पूर्ण विश्वके मुख्य तत्त्व हैं। अजीव तत्त्व पाँच भागोंमें विभाजित हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल। इस प्रकार ये छह

द्रव्य विश्वमें व्याप्त हैं या यह विश्व इन छह द्रव्योंसे बना हुआ है। इन छह द्रव्योंके अतिरिक्त संसारमें अन्य कुछ नहीं है। गुण, क्रिया आदि बातें इन्हींके अन्तर्गत हैं। सत् ही द्रव्यका लक्षण है। अभाव नामका कोई पदार्थ जैन दर्शनमें स्वतन्त्र रूपमें नहीं है। दृष्टिभेदसे सत्-असत् रूप पदार्थ हो जाता है।

अनेकान्त शब्दका अर्थ है एक ही वस्तुमें आपेक्षिक दृष्टिसे अनेक धर्म (अवस्थाएँ) देखना। काल द्रव्यके प्रभावसे प्रत्येक पदार्थकी अवस्थामें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है अतः पर्याय दृष्टिसे प्रत्येक पदार्थ नश्वर है, निश्चय दृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ सदैव अस्तित्वमें है अतः अविनश्वर है। पदार्थको हम नाशवान् अथवा अविनाशी किसी एक अवस्थामें बाँध नहीं सकते। यही अनेकान्त है। अनेकान्त चिन्तन-दृष्टिमें सहिष्णुता और विवेकपूर्ण उदारताका संचार करता है।

वस्तु अनेकधर्मात्मक (अवस्थासम्पन्न) है यह तो 'अनेकान्त'-द्वारा स्पष्ट होता है, उसके कथन और स्पष्टीकरणका कार्य स्याद्वाद करता है। 'सप्तभंगी' स्याद्वादका भाष्य है ऐसा समझना चाहिए।

क्या जैन दर्शन नास्तिक दर्शन है! परभव, मुक्ति, आवागमन, स्वर्ग-नरक, ईश्वर आदिका अटूट विश्वासी होनेपर भी जैन दर्शन 'नास्तिक दर्शन' कहकर उपेक्षित भी किया गया है। वेदमें आस्था रखनेपर ही आस्तिकताकी सनद मिलेगी यह मान्यता एक दीर्घकाल तक हमारे बीच रही है और किसी-न-किसी रूपमे आज भी है ही, परन्तु विभिन्न दार्शनिकोंने अब जैन दर्शनको आस्तिक और पुष्ट दर्शनके रूपमें स्वीकार कर लिया है जैसा कि वह स्वयं है भी। ईश्वरको अवतार परम्परा और सृष्टि कर्तव्यमें जैन दर्शन विश्वास नहीं करता। विभिन्न समयमें विभिन्न महान् आत्माएँ जन्म लेती हैं और संसारका कल्याण करती हैं, सृष्टि भी अपनी प्रकृतिसे स्वतः बनती-बिगड़ती है। मनुष्य भी स्वयं अपने पूर्वकृत कर्मानुसार सुख-दुःखको भोगता है, यह जैन-आस्था है।

जैनोंमें विभिन्न सम्प्रदायोंका अर्थ : सम्पूर्ण विश्वकी जातियाँ, धर्म, संस्कृतियाँ और कृतियाँ—सभीमें सम्प्रदाय, शाखाएँ, उपशाखाएँ आदिके प्रकारान्तरसे भेद प्राप्त होते हैं। यह भेद अर्थात् अनेकताकी परम्परा उनके स्थापन-कालके कुछ ही समय पश्चात्से भेदसे प्रभेदकी ओर प्रसारित होती ही जाती है। संसारकी ऐसी कोई भी जाति अथवा धर्म नहीं है

जिसमें एकाधिक भेद अथवा पन्थ न हो। वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध, ईसाई, यवन आदि सभी धर्मोंमें विविध धार्मिक पन्थ और परम्पराएँ सम्पुष्ट हैं।

इन सम्प्रदायों और पन्थोंकी उत्पत्ति भी अनेक कारणोंसे होती है—

१. प्रत्येक जाति और धर्ममें अटूट श्रद्धाका एक युग आता है जब प्रत्येक बात बिना किसी ननु-न चके स्वीकार कर ली जाती है। भगवान् बुद्ध और तीर्थंकर महावीरके पूर्व यज्ञादिके सम्बन्धमें ऐसा ही हो रहा था, यद्यपि अनेक विवेकशील क्षत्रिय नृपतियोंने अति व्ययसाध्य एवं बहु-आडम्बरयुक्त यज्ञादिके सम्बन्धमें ऋषियोंसे समय-समयपर विविध प्रश्न किये और ऋषियोंको निरुत्तर भी किया, परन्तु यह सब एक दबी अवस्था में ही हुआ।

२. दूसरा युग विवेकपूर्ण जागृतिका होता है जब प्रत्येक बात युक्ति-संगत एवं लोककल्याणकी होनेपर ही मानी जाती है। यह युग व्यक्तिका नहीं विचारोंका होता है। महावीर और बुद्धके समयमें यज्ञादिका जो विरोध हुआ वह इसी आधारपर। जब श्रद्धा और बुद्धिमें टक्कर होती है तो स्वतः दो प्रकारके धार्मिक सम्प्रदाय हो जाते हैं। एक प्राचीन परम्पराका पोषक अर्थात् स्थितिपालक और दूसरा नवीन आदर्श पन्थ-का समर्थक।

३. कभी-कभी शासन-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, अकाल और देश-दशा आदिके बदलनेके कारण भी धर्ममें परिवर्तन अर्थात् कुछ सुधार-विकार होते हैं। इससे भी पन्थ बढ़ते हैं। हिन्दी साहित्यका भक्ति-युग और उसमें प्रचलित विविध धार्मिक दार्शनिक और तदनुसार उद्भूत साहि-त्यिक सम्प्रदाय इसके साक्षी हैं।

४. कभी-कभी एक ही जाति या धर्मके दो प्रतिष्ठित विद्वानोंमें किसी बातपर मतभेद जब उग्र रूप धारण कर लेता है और मतैक्यकी रंच-मात्र आशा नहीं रहती तब प्रकृत्या अपने-अपने विचारोंके समर्थकोंको दोनों एकत्रित करते हैं और अपना एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय हो चला देते हैं। कभी व्यक्ति-द्वारा तो कभी एक दल-द्वारा इस प्रकार उपजातियों और उप-सम्प्रदायोंका उद्भव होता ही रहता है। आगे चलकर फिर इन सुधारवादियोंमें और भी सुधारोंकी लालसा उत्पन्न होती है, परि-णामस्वरूप भेदसे प्रभेद होनेमें विलम्ब नहीं लगता।

५. बहुत-से पन्थ व्यक्तिगत आवेशमें जन्म लेते हैं और शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

आज एक ही धर्मको विभिन्न रूपोंमें माननेवाली कई पन्थ-परम्पराएँ प्राप्त होती हैं। आरम्भमें भेदका कारण छोटा-सा ही होता है लेकिन आगे चलकर इन पन्थोंका इनके मूल पन्थसे इतना पार्थक्य-सा हो जाता है कि समझना बहुत कठिन हो जाता है। विश्वमें समता, शान्ति और प्रेमका अमर मन्त्र फूंकनेवाले जैन धर्ममें भी समय-समय-पर अनेक पन्थ और सम्प्रदाय जनमे-पनपे और बहुत-से अल्पायुमें ही काल-कवलित भी हो गये। दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो ही सम्प्रदाय जैन धर्मके मुख्यतम और अन्य सभी सम्प्रदायोंके जन्मदाता हैं। दोनों ही सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें इस भेदारम्भका वर्णन प्राप्त होता है।

श्वेताम्बर मान्यता

आजसे लगभग २५०० वर्ष पूर्व भगवान् महावीरने जो उपदेश दिये थे वे उनके प्रधान शिष्य इन्द्रभूति और सुधर्मा नामक गणधरों-द्वारा व्यवस्थित रूपसे संकलित किये गये। यह संकलन आगे चलकर द्वादशांगी कहलाया अर्थात् भगवान् महावीरकी सम्पूर्ण उपदेशवाणी बारह शाखाओं (अंगों) में विभक्त की गयी।

"महावीर निर्वाणकी द्वितीय शताब्दीमें मगधमें एक द्वादशवर्षीय भयंकर अकाल पड़ा। अकालसे पीड़ित हो तथा भविष्यमें अनेक विघ्नोंकी आशंकासे आचार्य भद्रबाहु अपने बहुत-से शिष्यों-सहित कर्णाटक देशमें चले गये। जो लोग मगधमें रह गये उनके नेता स्थूलभद्र हुए।"[1]

अकालकी तीव्रता देख आचार्य स्थूलभद्रको द्वादशांगीके लुप्त हो जानेकी आशंका हुई। वीर निर्वाणके लगभग १६० वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्रमें स्थूलभद्रजीने श्रमण संघकी एक सभा आमन्त्रित की। इस सभामें सर्व-सहयोगसे वीरवाणीका ग्यारह अंगोंमें संकलन किया गया। बारहवें दृष्टिवाद अंगके चौदह भागोंमें-से (जो कि पूर्व कहलाते थे) अन्तिम चार पूर्व शिष्योंको विस्मृत हो चुके थे अतः उनका संकलन न हो सका।

अकाल समाप्त होनेपर जब भद्रबाहु अपने संघसहित मगध लौटे तो स्थूलभद्रके संघसे अपने संघमें उन्हें बहुत अन्तर मिला। स्थूलभद्रके संघके साधु कटि वस्त्र, दण्ड तथा चादर आदिका प्रयोग करने लगे थे,

---

१. 'प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ' : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४४८।

भोजनादिमें भी पर्याप्त अन्तर आ चुका था। इस सब विपरीतताको देखकर आचार्य भद्रबाहुने स्थूलभद्रको पर्याप्त समझाया कि अकालमें जो कुछ हुआ सो हुआ अब आप अपने संघको पुनः दिगम्बर रूप दीजिए, पर वे न माने, परिणाम यह हुआ कि दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो पन्थ ही बन गये।

दिगम्बर मान्यता

दिगम्बर ग्रन्थ भी इस सम्प्रदाय-भेदका प्रारम्भ थोड़े-बहुत अन्तरके साथ लगभग उन्हीं कारणोंसे मानते हैं। भगवान् महावीरकी वाणी इन्द्रभूति (गौतम गणधर) ने संकलित कर सुरक्षित रखी फिर क्रमशः[1] गौतम गणधरसे सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी और इनसे अन्य मुनियोंने महावीर वाणीका अध्ययन किया। इतनी परम्परा तो भगवान् महावीरके बाद चलती रही। इसके पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए जो अंग और पूर्वोंके ज्ञाता थे। भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे। महावीर स्वामीके बासठ वर्ष बाद तक जम्बूस्वामीका और उनके सौ वर्ष बाद तकका भद्रबाहुका समय है। इस प्रकार दिगम्बर मान्यतामें महावीरके पश्चात् एक सौ बासठ वर्ष तक अंग और पूर्वोंका अस्तित्व रहा। भद्रबाहुका समय ही दिगम्बर-श्वेताम्बर भेदारम्भका समय, दोनों सम्प्रदायोंमें एक-सा है।

श्वेताम्बर भगवान्‌की राज्यावस्थाकी उपासना करते हैं जब कि दिगम्बर उनकी सर्व-परिग्रहरहित वैराग्यावस्थाकी। श्वेताम्बरोंकी मान्यता है कि भगवान् ऋषभ और महावीरने सचेलक—वस्त्रसहित और अचेलक दोनों ही मुनि धर्मोंका उपदेश दिया था। दिगम्बर इस बातको नहीं मानते। उनके शास्त्रोंमें चौबीसों तीर्थंकरोंने अचेलक धर्मका उपदेश दिया है, ऐसा वर्णन है।

दिगम्बर साधु और सम्प्रदाय

दिगम्बर साधु अपने साथ केवल मोर पंखकी एक पीछी जीवादि दूर करनेके लिए और मल-मूत्रादि की बाधा दूर करनेके लिए एक कमण्डलु रखते हैं, जिसमें प्रासुक जल रहता है। ये साधु नग्न रहते हैं। दिनमें एक बार खड़े होकर भोजन हाथमें ही कर लेते हैं। सदा ध्यान मग्न रहते हैं। साधुकी यह चर्या दिगम्बरोंमें चिरकालसे रही है। परन्तु कालदोष और कुछ

१. तेनेन्द्रभूतिगणिना तद्दिव्यवचोऽवबुध्यत तत्त्वेन।
ग्रन्थोऽङ्गपूर्वनाम्ना प्रतिरचितो युगपदपराह्ने ॥६६॥—श्रुतावतार।

व्यक्तिगत शैथिल्यके कारण मुनियोंके निवास-स्थानपर-से विवाद आरम्भ हुआ। इस शिथिलताके बीज तो द्वादशवर्षीय अकालसे थे, परन्तु आगे चलकर इसने व्यापक रूप धारण कर लिया। वनवास छोड़कर धीरे-धीरे मुनि मन्दिरों और नगरोंमें रहने लगे। नवम शतीके जैनाचार्य गुणभद्रने इस दशापर खेद प्रकट करते हुए लिखा है—'रात्रिके समय भयभीत मृगादिक जैसे नगरोंके समीप आ बसते हैं उसी भाँति मुनि भी कलिकालमें वनोंको छोड़कर नगरोंमें बसते हैं, यह दुःखकी बात है।'[1] यही शिथिलता आगे बढ़कर चैत्यवासके रूपमें परिणत हो गयी जो श्वेताम्बरोंमें मान्य है। दिगम्बर साधु भी थोड़े-बहुत अन्तरके साथ ऐसा ही करते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें भट्टारक पद इसी प्रवृत्तिका विकसित रूप है। इसी भट्टारक प्रवृत्तिके स्वैराचारके विरोधमें आगे चलकर तेरापन्थका उदय हुआ जिसका नायकत्व पं० बनारसीदासजीने विक्रमकी १७वीं शतीमें डटकर किया था।

दिगम्बर सम्प्रदायमें संघभेद

प्राचीन साहित्यमें दिगम्बर सम्प्रदायके लिए मूल संघ अथवा कुन्द-कुन्दाम्नायका ही प्रयोग हुआ है। आगेके ग्रन्थोंमें तो फिर अनेक शाखाओं, प्रशाखाओंकी परम्पराके दर्शन होते हैं। आचार्य इन्द्रनन्दिने लिखा है—'अर्हद्बलि आचार्यने कुछ मुनियोंको एकत्र करके पूछा, क्या सब मुनि आ चुके हैं। उत्तर मिला हाँ भगवन्, हम सभी अपने संघसहित आ गये। 'संघ' शब्द कानमें पड़ते ही आचार्य समझ गये कि अब जैन धर्म उदासीन भावसे नहीं, बल्कि गणोंके सहारे ही ठहरेगा। तब उन्होंने संघ स्थापित किये। गुफाओंसे आगत मुनियोंको नन्दि, कुछको वीर, अशोक वाटिकासे आगत मुनियोंको अपराजित, कुछको देव, कुछको सेन, कुछको भद्र, शाल्मलि वृक्षके मूलसे आये मुनियोंको गुणधर और गुप्त, खण्डकेसर वृक्ष मूलगत मुनियोंमें-से कुछको सिंह और कुछको चन्द्र नाम दिये।[2]

---

१. इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद् विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥१९७॥—आत्मानु०।

२. आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटाद्,
देवश्चान्योऽपराजित इति च यतिपौ सेनभद्राह्वयौ च।
पञ्चस्तूप्यात् सगुप्तौ गुणधरवृषभः शाल्मलीवृक्षमूला-
न्निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात् खण्डपूर्वात् ॥९६॥—श्रुतावतार।

इन संघोंके सम्बन्धमें मतभेद भी है, जिसे स्वयं आचार्य इन्द्रनन्दिने स्पष्ट किया है। कुछ भी हो इतना तो स्पष्ट है कि इन नामोंका रहस्य-भेद उन्हें भी ज्ञात न था। उल्लिखित सभी संघोंमें-से नन्दि, सेन, देव और सिंह नामक संघ ही आगे परिचित रह सके। इन चारोंके भी बादमें अनेक भेद-प्रभेद हो गये।

साधारणतः संघोंके भेदोंको गण और प्रभेदों या उपभेदोंको गच्छ कहनेकी परम्परा मिलती है। कहीं-कहीं संघोंको गण भी कहा है—जैसे नन्दिगण, सेनगण आदि। कहीं-कहीं संघोंको अन्वय भी कहा है, जैसे—सेनान्वय। गणोंमें बलात्कारगण, देशीयगण और काणारगण इन तीन गणोंके और गच्छोंमें पुस्तकगच्छ, सरस्वतीगच्छ, वक्रगच्छ और तरलिकागच्छके उल्लेख मिलते हैं। इन संघ, गण और गच्छोंकी प्रव्रज्या आदिमें कोई भेद नहीं है।"[1]

जैनाभास सम्प्रदाय

आचार्य देवसेन सूरि (वि० सं० ९९०) ने पाँच जैनाभासोंकी चर्चा की है—श्वेताम्बर, यापनीय, द्राविड़, माथुर और काष्ठा। इन पाँचों संघोंमें-से आरम्भके दो श्वेताम्बर और यापनीय तो आचार और सिद्धान्त दोनों ही दिशाओंमें दिगम्बरोंसे पर्याप्त भिन्न हो गये हैं, शेष तीनमें अति साधारण नगण्य भेद हैं अतः उन्हें दिगम्बर सम्प्रदायका ही अवान्तर भेद मानना चाहिए।

द्राविड़ संघ—इस संघके संस्थापक आचार्य पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दि थे। इसकी मान्यता है कि बीजमें जीव नहीं होता, कोई वस्तु प्रासुक नहीं है। ठण्डे पानीसे स्नान-द्वारा तथा खेती और वाणिज्य-द्वारा वज्रनन्दिने प्रचुर पापका संचय किया। दर्शनसारके अनुसार वि० सं० ५२६ में दक्षिण मथुरामें द्राविड़ संघकी उत्पत्ति हुई।'[2]

---

१. कैलाशचन्द्र शास्त्री—जैन धर्म, पृ० २९३।

२. सिरि पुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणन्दि पाहुडवेदी महासत्थो ॥२४॥
बीएसु णत्थि जीवो उब्भसणं णत्थि फासुगं णत्थि।
सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिहकप्पियं अट्ठं ॥२५॥
कच्छं खेत्तं वसहिं वाणिज्जं कारिऊण जीवन्तो।
ण्हन्तो सीयलणीरे पावं पउरं समज्जेदि ॥२६॥
—देवसेनसूरि—दर्शनसार

काष्ठा संघ—'वि० सं० ७५३ में काष्ठा संघकी उत्पत्ति हुई। इसके संस्थापक कुमारसेन मुनि थे। मयूरपिच्छिके स्थानपर इस संघने गायके बालोंकी पिच्छि ले ली थी। स्त्रियोंको जिन-दीक्षा देता था। बागड़ देशमें उन्मार्गका प्रचार किया, जटा धारण करता था। प्राचीन शास्त्रोंको अन्यथा रचकर मिथ्यात्वका प्रचार किया। इन कारणोंसे श्रमण संघसे बहिष्कृत होनेपर इन्होंने काष्ठा संघकी स्थापना की।'[1]

माथुर संघ—'इस काष्ठा संघके पश्चात् मथुरामें रामसेनने माथुर संघकी स्थापना की। इस संघके साधु अपने साथ पीछी नहीं रखते थे अतः यह संघ निष्पिच्छ कहा जाता था।'[2]

उपर्युक्त उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें दशम शताब्दी तक पर्याप्त शिथिलता आ चुकी थी। साधुजन मन्दिरोंका द्रव्य निजी काममें लाते थे, व्यापार करते थे, खेती करते थे तथा मन्दिरोंमें रहते भी थे। एक प्रकारसे मठाधीशों-जैसी दशा साधुओंकी हो चली थी। आगे चलकर इन्हींकी बढ़ती हुई परम्परा भट्टारकों (मठाधीशों) में बदली भी है। जैन सम्प्रदाय इस परम्पराके लिए परिस्थितिके साथ बौद्धों, नाथों तथा दक्षिणी शैवोंसे अवश्य ही प्रभावित रहा है।

यद्यपि इन तीनों संघोंमें आरम्भमें दिगम्बर मान्यतासे कोई प्रबल भेद न था, परन्तु बादमें यह भेद बढ़ता ही गया और ये सच्चे अर्थोंमें जैनाभास ही हो गये। नाम ही जैन रह गया, जैनत्व इनसे लुप्त हो गया। इसी परम्परासे दुःखी होकर आचार्यप्रवर आशाधरने अपने सागारधर्मामृतमें

---

१. आसीकुमारसेणो णंदिपडे विणयसेण दिक्खियओ।
संणासभंजणेण य अगहिय पुण दिक्खओ जादो ॥३४॥
परिवज्जिऊण पिच्छं चमरं चित्तूण मोहकलिदेण।
उम्मग्गं संकलियं बागण विसयेसु सव्वेसु ॥३४॥
इत्थीणं पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्तं।
कक्कसकेसग्गहणं छट्टं च गुणव्वदं णाम ॥३५॥—वही।

२. सो समणसंघ वज्झो कुमारसेणो दु समयमिच्छत्तो।
चत्तोव समो रद्दो कट्ठासंघं परूवेदि ॥३६॥
तत्तो दुसहातीदे महुराए मातुराणगुरुणाहो।
णामेण रामसेणो णिप्पिच्छं वण्णियं तेण ॥४०॥—वही।

लिखा था, 'दुःख है जुगनूकी भाँति सदुपदेष्टा कहीं-कहीं ही चमकते हैं।'[1] वास्तवमें साधुओंकी जीवन-चर्या एक नया ही मोड़ ले रही थी।

विक्रमीय दशम शताब्दी समाप्त होते-होते यवनोंका प्रभाव और प्रभुता भारतपर पर्याप्त मात्रामें छा चुके थे। जैन मुनियोंकी मुद्रासे कई बार इन्होंने खिलवाड़ की और उनके वेषका उपहास किया। मुनि धर्मका पालना जब असाध्य-सा प्रतीत हुआ तो उस समय आचार्यने (आपत्तिकाल दूर होने तकके लिए) अपवाद वेषका उपदेश दिया। इसी अपवाद वेषके सम्बन्धमें विक्रमकी सोलहवीं सदीके भट्टारक श्रुतसागर सूरिने लिखा है—'म्लेच्छादि (मुसलमान आदि) यतियोंको नग्न देखकर उपद्रव करते हैं, इस कारण मण्डप दुर्ग (मांडु उस समय मालवाकी राजधानी) में श्रीवसन्तकीर्ति स्वामीने उपदेश दिया कि मुनियोंको चर्या आदिके समय चटाई, टाट आदिसे शरीरको ढक लेना चाहिए और फिर चर्याके बाद उस चटाई आदिको छोड़ देना चाहिए। यह अपवाद वेष है।' इसी सम्बन्धमें पं० नाथूराम प्रेमी लिखते हैं—[2] 'मूल संघकी गुर्वावलीमें चित्तौरके भट्टारकोंके जो नाम दिये हैं उनमें वसन्तकीर्तिका नाम आता है, जो विक्रम संवत् १२६४ के लगभग हुए हैं। उस समय उस ओर मुसलमानोंका आतंक भी बढ़ रहा था। शायद इन्हींको श्रुतसागरने अपवाद वेषका प्रवर्तक बतलाया है। अर्थात् विक्रमको तेरहवीं सदीके अन्तमें दिगम्बर साधु बाहर निकलते समय लज्जा निवारणके लिए चटाई आदिका उपयोग करने लगे थे।'[3]

प्रायः सर्वत्र ऐसा देखा गया है कि एक बार जब शिथिलता आ जाती है और एक लम्बे समय तक चलती है तो समाज उसका आदी हो जाता है और उसकी आवश्यकताओंकी व्यापकताके समर्थनमें युक्तियोंकी

---

१. खद्योतवत् सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित् ॥११॥
—आचार्य आशाधर, सागारधर्मामृत।

२. कोऽपवादवेषः कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वा उपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति। तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन् मुञ्चति इत्युपदेशः कृतः संयमिनाम् इत्यपवादवेषः।—षट्प्राभृतटीका, पृ० २१ उद्धृत—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३६३।

३. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३६३।

झड़ी लगते भी देर नहीं लगती। कलकी लाचारी आजकी आवश्यकता बन जाती है। धीरे-धीरे यह अपवादकी परम्परा इतनी विशाल हो गयी कि कम्बल, दण्ड, तकिये, गद्दे, छत्र, चँवर और पालकी आदिका भी डटकर उपयोग होने लगा। दिगम्बर मुनियोंने सभी राजसी वैभव ही स्वीकार कर लिया।

प्रकृतिका नियम है विराग-त्यागकी चरम सीमाके पश्चात् रागके आरम्भसे उसकी भी चरम सीमा तक पहुँचना और फिर उसी विरागकी ओर बढ़ना। क्या धर्म, क्या साहित्य, क्या राजनीति सम्पूर्ण सृष्टिमें ऐसा ही होता रहा है। इस बढ़ती हुई वैभव लीला और शिथिलाचारकी अतिने सच्चे साधुमार्गका समर्थन करनेवाले तेरापन्थके बीज भी स्वयंकी देहसे अंकुरित किये।

तेरापन्थ

विक्रमीय सत्रहवीं शतीके मध्य तक यह भट्टारकी परम्परा इतनी व्यापक हो चुकी थी कि सच्चा दिगम्बरत्व लुप्त-सा हो चला था। सच्चे दिगम्बर जैन साधुओंका शताब्दियोंसे अभाव हो चुका था, दिगम्बर साधुकी चर्या और विशेषताएँ पौराणिक अतिशयोक्ति भी हो चुकी थीं। ऐसे समयमें आवश्यकता एक ऐसे नायककी थी जो सच्चे जैनत्वकी दिशामें जनताका मार्ग-निर्देशन कर सके। संसार और स्वयंके सम्मुख सच्चा साधुत्व रखनेकी महती आवश्यकता थी। प्रकाण्ड विद्वान् पं० बनारसीदासने सत्रहवीं शताब्दीके द्वितीयार्धमें इस दिशामें जनताका पवित्र एवं आदर्श नेतृत्व किया। धर्ममें क्रियाकाण्डकी अति, आडम्बरका अभद्र प्रदर्शन और शिथिलाचारको बनारसीदासजीने सर्वथा अस्वीकार किया। उन्होंने स्पष्ट कहा, 'धर्ममें व्यक्तिकी नहीं विचारोंकी मान्यता होनी चाहिए।' आपने आत्म-तत्त्व और सिद्धान्तोंका अत्यन्त मार्मिक एवं युक्तिसंगत विवेचन किया। इस प्रकार शिथिलाचारी भट्टारकोंके विरुद्ध एक आन्दोलन ही चल पड़ा। जब तेरापन्थ अधिक प्रचलित हो गया तो भट्टारकोंका पन्थ बीसपन्थ कहलाने लगा। यदि तेरापन्थियोंने तेरह बातें स्वीकार कीं तो संख्याके महत्त्वकी दृष्टिसे भट्टारकोंने बीस बातें चुनकर अपना बीसपन्थ घोषित कर दिया। तेरापन्थ शब्दके सम्बन्धमें बड़ी भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं—'तेरह साधुओं-द्वारा प्रचारित पन्थ तेरापन्थ है, भगवान् तेरा पन्थ सो मेरा पन्थ तथा पंच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और

अपरिग्रह), पाँच समिति (ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, निक्षेपणसमिति, आदानसमिति), तीन गुप्तियाँ (मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति और कायगुप्ति), इन तेरह व्रतोंपर पूर्ण दृढ़तासे चलनेवाले साधुओंका पन्थ तेरहपन्थ है। इन तीनों मतोंमें अन्तिम तेरह व्रतोंका मत अधिक विद्वानों-द्वारा मान्य तथा युक्तिसंगत भी है।

श्वेताम्बराचार्य मेघविजयने विक्रम संवत् १७५७ के लगभग आगरामें युक्तिप्रबोध नामक ग्रन्थ रचा। इस ग्रन्थकी रचना पं० बनारसीदासके तेरहपन्थके विरोधमें हुई। अनेक युक्तियों-द्वारा बनारसीदासके मतको मिथ्या मत ठहराया गया। आचार्यकी सबसे बड़ी उक्ति है कि दिगम्बर भट्टारक और मुनि भी तो कुछ-न-कुछ परिग्रह रखते ही हैं अतः वे भी पूज्य नहीं हैं। वास्तवमें बनारसीदासका मर्म यह था कि दिगम्बर अथवा श्वेताम्बर कोई भी हो यदि भ्रष्ट है तो भ्रष्ट कहा जायेगा, किसी विशेष वर्ग या सम्प्रदायसे उनका आशय न था।

आज-कलका प्रचलित तेरहपन्थ भट्टारकों अथवा परिग्रही मुनियोंको अपना गुरु नहीं मानता, न प्रतिमाओंको सजाना, पुष्पमालाएँ पहनाना आदि बातें ही स्वीकार करता है।

तारणपन्थ

'परवार जातिके एक व्यक्तिने जो बादको तारण-तरण स्वामीके नामसे प्रसिद्ध हुए, ईसाकी १५वीं सदीके अन्तमें इस पन्थको जन्म दिया था। सन् १५१५ में ग्वालियर स्टेटके मल्हारगढ़ नामक स्थानमें इनका स्वर्गवास हुआ। उस स्थानपर उनकी समाधि बनी है और उसे नशियांजी कहते हैं। यह तारण-पन्थियोंका तीर्थस्थान माना जाता है।'[1] यह सम्प्रदाय मूर्तिपूजामें विश्वास नहीं रखता। शास्त्रोंकी ही पूजा करता है। पूजनमें द्रव्यादि नहीं चढ़ाया जाता। दिगम्बर ग्रन्थोंके प्रति इस सम्प्रदायकी पूरी आस्था है। वास्तवमें यह सम्प्रदाय दिगम्बर सम्प्रदायका ही अवान्तर भेद है। इस पन्थके अनुयायी लगभग १०-१२ हजार हैं जो मध्यप्रान्तमें बसते हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय

जैन सम्प्रदायमें दिगम्बर-श्वेताम्बरका भेद कबसे और क्यों हुआ, इस

१. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म, पृ० २८७।

सम्बन्धमें पर्याप्त विवेचन हो चुका है। अब हम श्वेताम्बर सम्प्रदायकी विशेषताएँ और उपशाखाएँ ही यहाँ स्पष्ट करेंगे।

दिगम्बर और श्वेताम्बरोंमें भेद एक साधारण-सी बातपर हुआ था, यद्यपि बात सैद्धान्तिक विरोधकी अवश्य थी, परन्तु इतनी बड़ी भी न थी कि आगे चलकर भेद-रेखा एक खाईं-जैसा विस्तार भी पा सकेगी। प्रारम्भमें देश-कालकी आपत्तिके कारण अपवाद वेषका विधान हुआ था और वह भी आपत्ति-कालको समाप्ति तकके लिए। शैथिल्य सुधर भी जाता पर आपसी तनातनीने निकटताकी अपेक्षा दूरीको ही बढ़ावा दिया। आज दोनों सम्प्रदायोंमें भिन्नता प्रदर्शित करनेवाली आचार-विचार-सम्बन्धी अनेक बातें आ गयी हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मान्य कुछ बातें ये हैं—

१. स्त्री मुक्ति, २. शूद्र मुक्ति, ३. सवस्त्र मुक्ति, ४. गृहस्थ दशामें मुक्ति, ५. तीर्थंकर मल्लिनाथ स्त्री थे, ६. महावीरका गर्भ हरण, ७. शूद्रके घरसे मुनि आहार ले सकता है, ८. भरत चक्रवर्तीको अपने घरमें कैवल्य प्राप्ति, ९. ग्यारह अंगोंका अस्तित्व, १०. मुनियोंके चौदह उपकरण, ११. केवलीका कवलाहार, १२. केवलीका नीहार, १३. अलंकार तथा कांछीवाली प्रतिमाका पूजन, १४. महावीरका विवाह, कन्या उत्पत्ति, १५. साधुका अनेक घरोंसे भिक्षा लेना, १६. मरुदेवीका हाथीपर चढ़े हुए मुक्तिगमन, १७. महावीर स्वामीका तेजोलेश्यासे उपसर्ग।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी भेद-रेखाएँ मिलती हैं जिन्हें दिगम्बर सम्प्रदाय नहीं मानता है। दोनों सम्प्रदायोंमें चैत्यवासका प्रचार खूब ज़ोरपर रहा। उपाध्याय धर्मसागर अपनी पट्टावलीमें लिखते हैं—'८८२ वीर नि० संवत्में चैत्यवास स्थितिमें आ चुका था।'[1] मुनि कल्याणविजय आदि विद्वानोंका मत है कि उक्त समय तक तो चैत्य स्थिति पर्याप्त प्रौढ़ हो चुकी थी। 'विक्रमकी प्रथम शताब्दीमें आचार्य पादलिप्त सूरिजीके समयमें चैत्यवासका स्पष्ट उल्लेख मिलता है।'[2]

श्वेताम्बरोंमें चैत्यवासी और सुविहितमार्ग ये दो मुख्य सम्प्रदाय हैं। मन्दिर मार्गी और स्थानकवासीके रूपमें भी श्वेताम्बरोंके मुख्य दो सम्प्र-

---

१. वीरात् ८८२ चैत्यस्थितिः।—पट्टावली धर्मसागरजी।

२. अगरचन्द भंवरचन्द नाहटा—युग-प्रधान जिनदत्त सूरि, भूमिका मुनि कान्तिसागर, पृ० ७१।

दाय हैं। आज जो जती या श्रीपूज्य कहे जाते हैं वे मठवासी या चैत्यवासी शाखाके हैं। जो संवेगी मुनि कहे जाते हैं वे बनवासी शाखाके हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायके गच्छों (शाखाओं) की संख्या चौरासी थी ऐसा कहा जाता है, आज तो कुछ ही गच्छ प्राप्त होते हैं।

१. तपागच्छ—आचार्य जगच्चन्द्र सूरिने इसकी स्थापना की। संवत् १८८५ में उन्होंने उग्र तप किया। इस तपके कारण मेवाड़के नृपतिने तपा उपनाम दिया। तबसे इनका नाम तपागच्छ नामसे प्रसिद्ध हुआ। गुजरातमें इस गच्छका बड़ा भारी प्रभाव है। श्वेताम्बरोंमें इस गच्छकी सर्वाधिक मान्यता है। बम्बई, पंजाब, राजपूताना और मद्रासमें इसके अनुयायी अधिक मात्रामें रहते हैं।

२. उपकेश गच्छ—भगवान् पार्श्वनाथसे इसकी उत्पत्ति बतायी जाती है। भगवान् पार्श्वनाथके शिष्य केशी इस गच्छके नेता थे। आज श्वेताम्बरोंकी ओसवाल जाति इसी गच्छकी मानी जाती है।

३. पार्श्वचन्द्र गच्छ—यह तपागच्छकी ही एक शाखा है। आचार्य पार्श्वचन्द्रने कर्मसिद्धान्तमें कुछ नवीनता उपस्थित की और स्वतन्त्र गच्छ भी चलाया। अहमदाबाद जिलेमें यह गच्छ प्राप्त होता है।

४. अंचल गच्छ—उपाध्याय नरसिंह इस गच्छके संस्थापक थे। इस गच्छमें मुख पट्टीके स्थानपर अंचल (वस्त्रका छोर) उपयोगमें लाया जाता है, इस कारणसे यह अंचलगच्छ कहा जाता है।

५. सार्धपौर्णिमीयक गच्छ—चन्द्रप्रभ सूरिने प्रचलित क्रियाकाण्डके विरोधके कारण इस गच्छकी स्थापना की थी। वे महानिशीथ सूत्रकी गणना शास्त्रोंमें नहीं करते थे। आचार्य हेमचन्द्र इस गच्छके पक्षमें न थे, अतः राजा कुमारपालसे कहकर इस गच्छके अनुयायियोंको राज्यसे निकलवा दिया था। राजा और आचार्यकी मृत्युके पश्चात् सुमतिसिंह नामक व्यक्तिने पुनः इस गच्छको नवजीवन दिया, अतः यह सार्धपौर्णिमीयक कहलाता है। आज इस गच्छका अनुयायी कोई नहीं है।

६. आगमिक गच्छ—इसके संस्थापक शील गुण और देवभद्र थे। ये आरम्भमें पौर्णिमीयक थे, बादमें आंचलिक हो गये थे। क्षेत्रपालकी पूजाका ये विरोध करते थे। इसी गच्छकी कटुक नामसे एक शाखा वि० सं० १६वीं शतीमें प्रादुर्भूत हुई। इसमें मुनिजन न थे, केवल श्रावक ही इसके अनुयायी थे।

७. खरतर गच्छ—वर्धमान सूरि इस गच्छके आरम्भक थे। इनके शिष्य जिनेश्वर सूरिने गुजरातके अणहिलपुर पट्टणके राजा दुर्लभराजकी सभामें जब चैत्यवासियोंको परास्त किया तो राजाने उन्हें 'खरतर' नाम दिया। यही इस नामका इतिहास है। राजपूताना और बंगालमें इसके अनुयायी अधिक हैं।

उल्लिखित गच्छोंमें-से आज खरतर, तपा और आंचलिक गच्छ ही वर्तमान हैं, शेषका अभाव-सा है। इन गच्छोंमें कुछ छोटे-मोटे आचार-विचारसम्बन्धी मतभेदोंके अतिरिक्त और कोई जबरदस्त मौलिक भेद नहीं है। आपसमें सभी गच्छोंमें मेल है, रोटी-बेटीका व्यवहार भी होता है। सभी गच्छ स्वयंको श्वेताम्बरी रूपमें स्वीकार करते हैं।

श्वेताम्बर स्थानकवासी

आगे चलकर सं० १५३० में लोकाने मूर्तिपूजाका विरोध किया, परन्तु उनके शिष्योंने इसमें शिथिलता की। इसके पश्चात् लवजीने भी यही कार्य किया, परन्तु इन्हें भी सफलता न मिली। लवजी स्थानकोंमें न रहकर ढूँठा (खण्डहरों) में रहते थे, अतः इनका सम्प्रदाय ढूंढिया कहलाया। धीरे-धीरे ये ढूंढिया बाईस शाखाओंमें फैल गये और अपने-अपने ढंगसे उपदेश देने लगे। ढूंढियोंके मुख्य बाईस व्यक्तियोंके कारण इस सम्प्रदायका नाम बाईसटोला पड़ गया, फिर इसीका नाम स्थानकवासी हुआ।

श्वेताम्बर तेरापन्थ (मूर्तिपूजा-विरोधी)

श्वेताम्बरोंका यह पन्थ मूर्तिपूजा विरोधी है। शास्त्रानुसार सम्पूर्ण कार्य करनेमें विश्वास करता है। आडम्बर और क्रियाकाण्डको भी यह पन्थ स्वीकार नहीं करता। "इसके आरम्भक श्री भीकंजी स्वामी थे। सं० १६८३ (सन् १६२६) में कानौड़ (मारवाड़) में आपका जन्म हुआ था। आपके पिता बल्लूजी सुखलेचा ओसवाल थे। प्रारम्भमें अपने कुटम्बीजनोंका अनुसरण करते हुए गच्छकवासी सम्प्रदायके साधुओंकी भक्ति करते थे। फिर कुछ समय बाद इनसे अरुचि होनेपर पोतियाबन्धके श्रावकोंसे चर्चा की। आगे चलकर आपने देखा कि इनमें केवल बाह्य-प्रदर्शन है, वास्तविक धर्मका अभाव है, इन्हें भी त्याग दिया। फिर श्री रघुनाथजी, जो कि स्थानकवासी सम्प्रदायके थे, की भक्ति की पर फल कुछ न निकला।

भीकंजीके अनुयायी तेरह साधु थे। अतः यह पन्थ तेरहपन्थ नामसे चला।[1]

यह एक विस्तृत सम्प्रदाय है। "इसकी संख्या मूर्तिपूजक श्वेताम्बरोंके जितनी ही है, अतः इस सम्प्रदायको जैन धर्मका तीसरा सम्प्रदाय कहा जा सकता है।"[2] इस सम्प्रदायके साधु मुखपर पट्टी बाँधते हैं, सफ़ेद वस्त्र धारण करते हैं।

यापनीय सम्प्रदाय

दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायोंके अतिरिक्त एक यापनीय संघ भी था, जिसे आज कम ही जानते हैं। दर्शनसारके कर्ता श्री देवसेन सूरिके कथनानुसार 'वि० सं० २०५में श्रीकलश नामके श्वेताम्बर साधुने इस सम्प्रदायकी स्थापना की थी। यह समय दिगम्बर-श्वेताम्बर भेदकी उत्पत्तिसे लगभग सत्तर वर्ष बाद पड़ता है।"[3]

यह सम्प्रदाय दिगम्बर-श्वेताम्बरका मध्य मार्ग समझना चाहिए। इसके साधु नग्न रहते थे, पीछी रखते थे और भोजन हाथमें ही करते थे। ये बातें इनमें दिगम्बरों-जैसी थीं। किन्तु स्त्रियोंको उसी भवसे मोक्ष तथा केवली कवलाहारी हैं। ये बातें भी ये लोग मानते थे, जो श्वेताम्बरोंकी हैं। वास्तवमें यह सम्प्रदाय दिगम्बरोंकी अपेक्षा श्वेताम्बरोंके अधिक निकट था। आज इसके अनुयायी नहीं हैं। जैसा कि यह सम्प्रदाय दिगम्बर श्वेताम्बर दोनोंका था और किसीका भी न था क्योंकि पूर्णरूपेण किसीको न मानता था अतः इसे प्रबल प्रश्रय किसी पक्षका न मिल सका। इसके विलीन होनेका यही कारण हो सकता है।

अर्द्धस्फालक सम्प्रदाय

आचार्य रत्ननन्दिके भद्रबाहु चरित्रमें अर्द्धस्फालक सम्प्रदायकी चर्चा की गयी है। द्वादशवर्षीय अन्नके दुर्भिक्षमे इसकी उत्पत्ति हुई, ऐसा भद्रबाहु चरित्रमें आचार्यने लिखा है। "कुछ दिगम्बर मुनियोंने अपनी नग्नता छिपानेके

---

१. ए शोर्ट हिस्ट्री ऑव तेरहपन्थी सैक्ट ऑव द श्वेताम्बर जैन एण्ड इट्स टेनेट्स, पृ० १–३।

२. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म, पृ० ३०५।

३. कल्लाणे करणयरे दुण्णिसये पंच उत्तरे जादे।
जावणिय संघ भावो सिरिकलसा दोहु सेवड दो॥ २९॥ —दर्शनसार

लिए खण्ड वस्त्र स्वीकार कर लिया तो उससे अर्धस्फालक सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ, धीरे-धीरे इस सम्प्रदायसे ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ।"[1]

श्वेताम्बर सम्प्रदाय अर्द्धस्फालक सम्प्रदायको दिगम्बर सम्प्रदायका जन्मदाता कहता है।

अर्द्धस्फालक दिगम्बर श्वेताम्बरोंमें-से किसके पूर्वज थे इस सम्बन्धमें पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्रीके विचार उल्लेख्य हैं—"अब रह जाता है यह प्रश्न कि अर्द्धस्फालक श्वेताम्बरोंके पूर्वज हैं या दिगम्बरोंके? इसका समाधान भी मथुरासे प्राप्त पुरातत्त्वसे हो जाता है। वहाँके एक शिलापट्ट-में भगवान् महावीरके गर्भ परिवर्तनका दृश्य अंकित है और उसीके पास एक छोटी-सी मूर्ति ऐसे दिगम्बर साधुकी है जिसकी कलाईपर खण्डवस्त्र लटकता है। गर्भापहार श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यता है, अतः उसके पास अंकित साधुका रूप भी उसी सम्प्रदायका मान्य होना चाहिए।"[2]

इन विभिन्न धार्मिक शाखाओंकी वृद्धिके साथ जैन साहित्यने भी काफ़ी मोड़ लिये हैं। धार्मिक क्रान्तियाँ साहित्यकी दिशा सदासे बदलती रही हैं और ऐसा जैन साहित्यमें भी हुआ है। एक ओर यदि क्रियाकाण्डी और कठोर साहित्य जो कि अति धार्मिकतासे आच्छन्न है, लिखा गया है, तो दूसरी ओर बुद्धितत्त्वसे प्रेरित स्वाभाविक प्रतिभाका परिणामजन्य धर्म-मय साहित्य भी रचा गया है। इसका विस्तृत विवेचन अगली शाखा-में होगा।

यद्यपि आज जैनोंमें छोटी-सी बातोंपर काफ़ी सम्प्रदाय हो गये हैं, फिर भी उन सबके अन्तस्में आज भी जैन सिद्धान्तोंके प्रति अगाध ममता है।

---

१. जैन धर्म, पृ० ३०८।
२. जैन धर्म, पृ० ३०९।
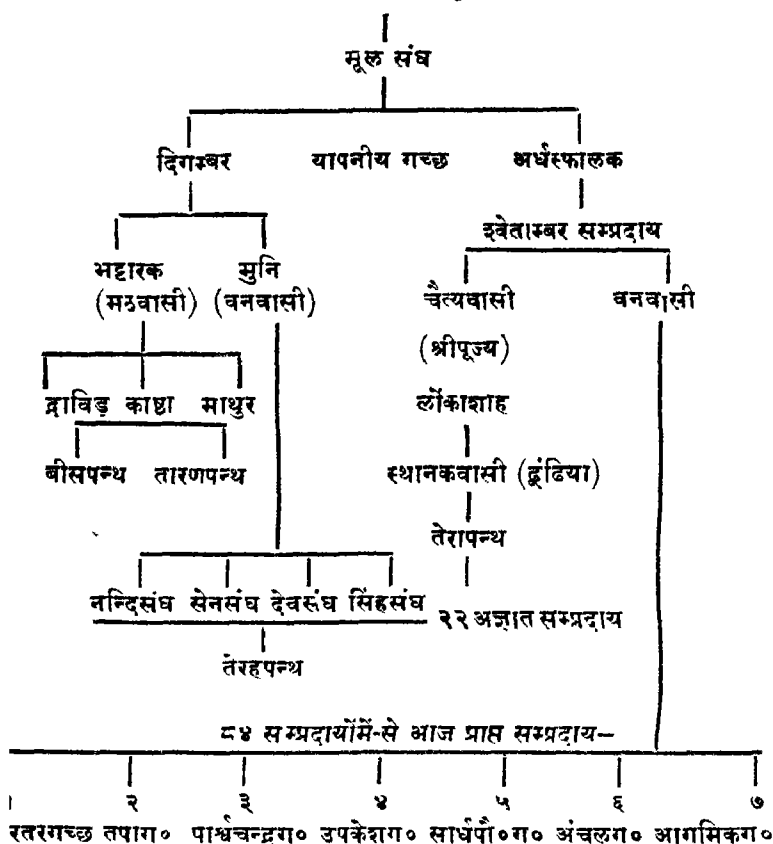
सम्पूर्ण विश्वकी जातियाँ, धर्म, संस्कृतियाँ और कृतियाँ, सभीमें सम्प्रदाय, शाखाएँ, उपशाखाएँ आदिके प्रकारान्तरसे भेद प्राप्त होते हैं। यह भेद अर्थात् अनेकताकी परम्परा उनके स्थापन कालके कुछ ही समय पश्चात्से भेदसे प्रभेदकी ओर प्रसारित होती जाती है। संसारकी ऐसी कोई भी जाति या धर्म नहीं है, जिसमें एकाधिक भेद अथवा पन्थ न हो। वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध, ईसाई, यवन आदि सभी धर्मोंमें विविध धार्मिक पन्थ और परम्पराएँ आज भी विद्यमान हैं। "संसारमें जितने धर्म या सम्प्रदाय हैं, उन सबमें उनके स्थापित होनेके समयसे लेकर अबतक

अनेक पन्थ, शाखा, उपशाखा स्वरूप भेद होते रहे हैं और नये-नये होते जाते हैं। ऐसा एक भी धर्म नहीं है, जिसमें एकाधिक भेद या पन्थ न हों।"[1]

इन सम्प्रदायों अथवा पन्थोंकी उत्पत्तिमें अनेक कारण बीज रूपमें रहते हैं। देश-कालकी परिस्थितियाँ, अपने सिद्धान्तोंके प्रचारकी भावना, स्थितिपालक दल और सुधारवादी साक्षर वर्गका मतभेद, धर्म गुरुओंमें पारस्परिक राग-द्वेष, किसी प्रभावक धर्मका आक्रमण इत्यादि कारणोंसे प्रत्येक धर्ममें सम्प्रदाय-पन्थ चल पड़ते हैं। इस सम्बन्धमें पण्डित नाथूराम प्रेमी लिखते हैं—'ये भेद या पन्थ अनेक कारणोंसे होते हैं। उनमें बहुत बड़ा कारण देश कालकी परिस्थितियाँ हैं। प्रत्येक धर्मके उपासकोंमें दो प्रकारकी प्रकृतियाँ पायी जाती हैं। एक प्रकृति तो ऐसी होती है जो अपने धर्मके विचारों या आचारोंके विषयमें ज़रा भी टससे मस नहीं होना चाहती, उन्हींको ज़ोरके साथ पकड़े रहती है और दूसरी प्रकृति देश और कालकी बदली हुई परिस्थितियों और आवश्यकताओंके अनुसार मूल आचार-विचारोंमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर लेनेको तैयार हो जाती है, विशेष करके ऐसे परिवर्तन जो सुगम और आरामदेह होते हैं। बस इन्हीं दोनों प्रकृतियोंकी खींच-तान और रगड़-झगड़से एक नया सम्प्रदाय या पन्थ खड़ा हो जाता है।"[2] पन्थ निर्माणमें व्यक्तिगत विकारों और सिद्धान्तोंके प्रचारकी भावनाके सम्बन्धमें प्रसिद्ध विद्वान् परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं—"परन्तु जैसा प्रायः देखा गया है, किसी मतविशेषके प्रवर्तकको अपने सिद्धान्तोंके प्रचारके लिए बहुधा संगठनकी भी इच्छा हो जाया करती है और वह अपने अनुयायियोंको इसके लिए आवश्यक उपदेश देने लगता है। उसे इस बातकी अभिलाषा रहती है कि मेरे सिद्धान्त किस प्रकार अधिकसे अधिक सफलताके साथ प्रचलित हों और मेरे मतके अनुयायी अधिकसे अधिक संख्यामें विद्यमान रहें।"[3] एक धर्मके व्यक्तियोंमें पारस्परिक खींच-तानसे सम्प्रदाय-वृद्धि होती है। इस विषयमें पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखते हैं—"इस तरह एक ओरके शिथिलाचार और दूसरी ओरकी दृढ़ताके कारण संघभेदके बीजोंमें अंकुर फूटते गये और

१. प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३४७।

२. वही, पृ० ३४७।

३. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा, पृ० २५५।

धीरे-धीरे उन्होंने वृक्ष और महावृक्षका रूप धारण कर लिया।[1] बहुत-से पन्थों या भेदोंकी सृष्टि धर्मगुरुओंके आपसके राग-द्वेष और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोंसे भी हुआ करती हैं। बहुत-से पन्थोंका इतिहास देखनेसे मालूम होता है कि वे बिलकुल ज़रा-ज़रा-से मतभेदोंके कारण जुदा हो गये हैं। बहुत-से पन्थोंका जन्म अपने समयकी किसी प्रभावशाली धर्मके आक्रमणसे अपने धर्मको डगमगाते देख, उसमें उस धर्मके अनुकूल परिवर्तन और संशोधन करने अथवा उनका अनुकरण करनेके कारण भी हुआ है।"[2] उल्लिखित कारणोंसे सम्प्रदाय अंकुरित हुए हैं इसकी पुष्टि हिन्दी साहित्यका भक्ति-काल तथा अन्य धर्म सहजमें ही दे सकते हैं। यवनोंकी सत्ता पूर्णतया स्थापित हो जानेपर देशकी राजनीतिक और धार्मिक स्थितियाँ परिवर्तित हुईं, परिणामस्वरूप ज्ञानाश्रयी, प्रेममार्गी रामभक्ति और कृष्णभक्तिकी शाखाएँ प्रादुर्भूत हुईं। ज्ञानाश्रयी (निर्गुण) शाखासे आरम्भ होकर राम-कृष्ण शाखाओं (सगुण) के प्रबल प्रचारके साथ भक्तिकालकी इति देश काल और शासन-व्यवस्थाके प्रभावके स्पष्ट प्रमाण हैं। डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल लिखते हैं—"विदेशी आक्रमणकारियोंसे मुठभेड़ करनेवाले वीरोंको प्रशंसाका मान जैसा वीरकालीन कवियोंके लिए सम्भव और स्वाभाविक था, वैसा हिन्दी साहित्यके भक्तिकालीन कवियोंके लिए न रह सका। विदेशियोंकी राजसत्ता देशमें दृढ़ हो चुकी थी और विदेशियता भी उनमें-से कुछ दूर हो चली थी। वे भी भारत-भूमि-प्रसूत नायकोंकी भाँति यत्र-तत्र काव्यके नायक बनने लगे थे। सुखमय स्थितिके होनेपर जनता पुनः अवतारवाद तथा ईश्वरकी साकारोपासनाकी ओर झुकी।"[3] कबीरपन्थ, दादूपन्थ, नानकपन्थ इत्यादि पन्थ व्यक्तिगत प्रभावके परिणाम-स्वरूप जन्मे हैं। इसी प्रकार सभी भारतीय आस्तिक दर्शन थोड़े-बहुत अन्तरकी खींचतानके कारण पृथक्-पृथक् हैं।

विशेष रूपसे हिन्दी साहित्यके भक्तिकालमें देशकी परिवर्तित राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितिके कारण अधिकाधिक सम्प्रदायों और पन्थोंका उद्भव हुआ। इन सभी धार्मिक पन्थोंने एक लम्बी सीमा तक हमारे भक्तिकालीन साहित्यकी पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है।

---

१. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म, पृ० २८६।

२. प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३४८।

३. डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल : अकबरी दरबारके हिन्दी कवि, पृ० ८।

पं० परशुराम चतुर्वेदी १६वीं १७वीं शतीके पन्थ-निर्माणकी चर्चा करते हुए उसके मूल कारणोंपर विचार करते हुए लिखते हैं—"पन्थ-निर्माणका सूत्रपात हो जानेपर उस प्रकारकी प्रवृत्तिकी ओर सर्व-साधारणके ध्यानका आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक था। प्रायः देखा जाता है कि किसी भी एक धार्मिक महापुरुषके नेतृत्वमें विश्वास रखनेवाले व्यक्ति अपनेको क्रमशः एक संयुक्त परिवारका सदस्य समझने लगते हैं और अपनी सामुदायिक एकताको अक्षुण्ण बनाये रखनेके प्रयत्न भी करने लग जाते हैं। तदनुसार समान सिद्धान्तोंको स्वीकार करनेवालोंका एक पृथक् वर्ग बनने लगता है, जिसका सम्बन्ध दूसरे वर्गोंके साथ बहुधा नहीं रह जाता। ऐसे वर्गोंके सिद्धान्तोंमें पहले चाहे जो कुछ भी एकता रही हो, कालान्तरमें वह घटने लग जाती है। भिन्न-भिन्न वर्गोंके अनुयायियोंकी प्रमुख प्रवृत्तियोंके अनुसार उनके विविध बाह्याचरणोंका समावेश होने लगता है और उनके सामने उनके मूल सिद्धान्तोंका महत्त्व भी कम होता जाता है। समय पाकर उन वर्गोंके लोग बहुधा इन बातोंके प्रचारकी ही ओर अधिक प्रयत्नशील हो जाते हैं और इस प्रकार ऐसे वर्गोंकी विभिन्नता और भी स्पष्ट होती जाती है।"[1]

'पन्थ' और 'सम्प्रदाय' इन शब्दोंको बहुधा एक ही अर्थका द्योतक समझ लिया जाता है, परन्तु इनमें अन्तर है। पन्थ तो बहुधा व्यक्ति अथवा समुदाय-द्वारा प्रवर्तित होता है तथा सम्प्रदाय किसी धार्मिक विशेषताके आधारपर अथवा किसी सिद्धान्तके आधारपर ही प्रचलित हुए हैं। 'पन्थ' व धार्मिक सम्प्रदाय शब्दोंका प्रयोग ठीक एक ही ढंगसे होता हुआ नहीं दीख पड़ता। जिस वर्गने अपनी संज्ञा अपने प्रवर्तकके नामसे ग्रहण की है उसे उस प्रवर्तक-द्वारा चलाया हुआ 'पन्थ' अर्थात् प्रदर्शित मार्ग कहा जाता है, जैसे कबीरपन्थ, नानकपन्थ, दादूपन्थ, बावरीपन्थ आदि। किन्तु जिस वर्गका नामकरण उसके अनुयायियोंके किसी नामविशेष व विशेषताके आधारपर हुआ है, वह बहुधा सम्प्रदाय कहा गया मिलता है, जैसे, 'साधु सम्प्रदाय, सत्तनामी सम्प्रदाय, निरंजनी सम्प्रदाय, रामसनेही सम्प्रदाय' आदि। सम्प्रदाय शब्दका प्रयोग कभी-कभी वर्गविशेषके इष्टदेव अथवा कल्पित मूल प्रवर्तक तक नामानुसार भी हुआ करता है, जैसे पर-ब्रह्म सम्प्रदाय अथवा वैष्णव भक्तोंके 'श्री सम्प्रदाय,' 'रुद्र सम्प्रदाय'

१. उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा, पृ० ३८६।

आदि। फिर भी राधास्वामी वर्गके अनुयायी अपने सम्बन्धमें सम्प्रदायकी जगह 'सत्संग' शब्दका ही व्यवहार अधिक उपयुक्त समझते हैं।'[1]

(स) साहित्यिक स्थिति

साहित्य सदैव अपनी गतिसे प्रवहमान रहता है, परन्तु समय-समयपर राजनैतिक सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ अवश्य ही उसे प्रभावित करती हैं। हिन्दी साहित्यका भक्तियुग भी नैसर्गिक भावधाराके साथ इन परिस्थितियोंसे भी प्रभावित हुआ है। डॉ० श्यामसुन्दर दास लिखते हैं—"देश और कालसे साहित्यका अविच्छिन्न सम्बन्ध है, और प्रत्येक देशके विभिन्न कालोंकी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक आदि स्थितियोंका प्रभाव उस देशके साहित्यपर पड़ता है।"[2]

आदिम कालमें महाकवि केवल चन्दवरदायी मिलते हैं जिनकी पूरी रचना उस कालकी नहीं है, वरन् उसका बृहद् अंश इसी तुलसी कालका समझा जाता है। जिस महाकविने चन्दके ग्रन्थको इतना उच्च आसन दिया, वह ऐसा उदारचेता था कि स्वयं अज्ञात ही रहकर उसने रासो एवं चन्दका उपकार किया। जो हो आदिम कालमें पृथ्वीराजरासो ही हमें एक ऐसा ग्रन्थ मिलता है जो मुक्त कण्ठसे प्रशंसनीय है। फिर भी भाषाकी प्राचीनता एवं भक्ति भावोंसे प्रायः असम्बद्ध होनेके कारण उसका प्रचार संसारमें यथायोग्य क्या प्रायः कुछ भी न हुआ। पूर्व माध्यमिक कालमें साहित्यकी दृष्टिसे हमें विद्यापति ठाकुर और कबीर दास परमोत्कृष्ट कवि मिलते हैं। विद्यापतिका प्रचार विहार और बंगालमें बहुत कुछ है, किन्तु इतर देशोंमें उनका यथावत् मान नहीं है। कबीरदासके उपदेशप्रद दोहे आदि संसारमें चल रहे हैं, किन्तु उनकी भक्ति बहुत ऊँची होनेसे लोगोंमें अग्राह्य हुई। तथा उलटबांसी आदिमें मूर्ख मोहनी विद्यामात्र रहनेसे उनका पन्थ समाजके उच्च भागोंमें आदर न पा सका। प्रारम्भिक कालमें दाक्षिणात्य उपदेशक अच्छे हुए और पूर्वमाध्यमिक कालमें युक्त प्रान्तीय तथा पंजाबी, प्रौढ़ माध्यमिक कालके सौरकालमें राधाकृष्णकी वाममार्ग पूर्ण भक्तिका चलन रहा। तथा तुलसी-कालमें

---

१. उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा, पृ० ३८८।

२. डॉ० श्यामसुन्दर दास: हिन्दी साहित्य, पृ० २५।

दक्षिण मार्गस्थ शुद्ध सीतारामकी भक्तिका रूप दिखाया। तुलसी-कालमें विविध विषयोंका अच्छा विकास हुआ और भक्ति तथा साहित्य दोनोंका बहुत अच्छा चमत्कार सामने आया, किन्तु सूफ़ी साहित्य दब गया। नवीन प्रणालियाँ तुलसी तथा केशवके सहारे स्थापित हुईं। विविध छन्दोंका प्रयोग हुआ, कथाकाव्यने मान पाया, अवधी भाषाका मान बढ़ा, भजनानन्द शुद्ध रूपमें सामने आया। हिन्दू-मुसलमानोंके मेलसे हमारे साहित्यमें मुसलमानी भाव आने लगे तथा मुग़ल दरबारकी विलासिताका भी उसपर प्रभाव पड़ने लगा। इस प्रकार मध्ययुगीन साहित्यमें स्वतः उद्भूत बहुमुखी साहित्यिक भावधाराएँ प्रसारित हुईं। जिनसे तात्कालिक जन-जीवन अत्यधिक प्रभावित हुआ। सांसारिक नश्वर सुख-दुःखकी परिधिसे उसका हृदय ऊपर उठा, उसने बड़े शान्त भावसे परिस्थितियोंसे समन्वय किया तथा भक्तिपरक जीवनकी ओर अग्रसर हुआ।"[1]

इतना सब कुछ होनेपर भी भक्ति-युगके साहित्यकी जड़ोंमें राजनैतिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी समा ही चुकी थीं जिनकी छाया और प्रभाव उस साहित्यमें स्पष्ट है। "वीरगाथा कालके समाप्त होनेके पहले ही साहित्यके क्षेत्रमें क्रान्ति प्रारम्भ हो गयी थी। मुसलमानोंके बढ़ते हुए आतंकने जनताके साहित्यको भी अस्थिर कर दिया था। मुसलमानी शक्ति और धर्मके विस्तारने साहित्यका दृष्टिकोण ही बदल दिया था और चारणोंकी रचनाएँ धीरे-धीरे कम होती जा रही थीं। वे अब विशेषतः राजस्थानमें ही सीमित थीं। मध्यदेशमे जहाँ मुसलमानी तलवारका पानी राज्योंके अनेक सिंहासनोंको डुबा रहा था, चारणोंका आश्रयदाता कोई न था। न तो हिन्दू राजाओंके पास बल था और न साहस ही। ऐसी असहायावस्थामें उनके पास ईश्वरसे प्रार्थना करनेके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। वे ईश्वरीय शक्ति और अनुकम्पापर ही विश्वास रखने लगे। कभी-कभी यदि वीरत्वकी चिनगारी भी कहीं दीख पड़ती थी तो वह दूसरे क्षण ही बुझ जाती थी या बुझा दी जाती थी। इस प्रकार दुष्टोंको दण्ड देनेका कार्य उन्होंने ईश्वरपर ही छोड़ दिया और वे सांसारिक वस्तु-स्थितिसे पारलौकिक और आध्यात्मिक वातावरणमें ही विहार करने

---

१. सुखदेव वि० मिश्र : हिन्दी साहित्यका प्रभाव, पृ० १९३-९४।

लगे। इस समय हिन्दू राजा और प्रजा दोनोंके विचार इसी प्रकार भक्तिमय हो गये और वीरगाथा-कालकी वीररसमयी प्रवृत्ति धीरे-धीरे शान्त और शृंगार रसमें परिणत होने लगी।"[1]

हिन्दी साहित्यके सभी प्रसिद्ध इतिहास वेत्ताओंने यह स्वीकार किया है कि साहित्य किसी भी युगका हो उसपर अपने समयकी सभी परिस्थितियोंका प्रभाव पड़ता है। जीवन उन्मुक्त, शान्त एवं रसमग्न रहा हो अथवा पंजरबद्ध, अशान्त एवं नीरस दशा हो, दोनोंका ही साहित्यकारपर समानभावसे प्रभाव पड़ता है और वह इस प्रभावको अपनी प्रतिमा एवं काव्यकला-द्वारा विविध विधाओंसे व्यक्त करता है। "जनताकी चित्तवृत्तिपर देशकी राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक एवं धार्मिक परिस्थितियों अथवा दशाओंका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है, कह सकते हैं कि जनताकी चित्तवृत्तिकी परम्परा इन्हींसे निर्मित होती है, अतः साहित्यकी परम्पराको समझनेके लिए इनका प्रथम ही पर्याप्त या पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए, क्योंकि साहित्यकी परम्परा जनताकी परम्परागत चित्तवृत्तिसे ही पूर्णतया प्रभावित होती हुई बना करती है।"[2]

मध्य युगके साहित्यसे स्पष्ट है कि उस समय हमारा समाज एक ओर रूढ़ियों, अन्धविश्वास, धार्मिक कट्टरता एवं पारस्परिक असहिष्णुताका जीर्ण निर्मोक किसी भी प्रकारसे वहन करनेमें गौरवका अनुभव कर रहा था तो दूसरी ओर मुसलमानी शासनके कारण इतिहास भी नित नयी करवटें ले रहा था और राजनीति भी वारांगना सदृश छलपूर्ण, चंचला एवं प्रतिक्षण परिवर्तनशील हो रही थी। इस युगके साहित्यमें सामान्यतया सभी परिस्थितियोंका प्रभाव है परन्तु धार्मिक प्रभाव तो इतनी अधिक मात्रामें है कि उसे किसी भी कविके किसी भी पद्यमें देखा जा सकता है। इसी धार्मिक प्रभावके कारण हमारे प्रसिद्ध साहित्य-इतिहासकारोंने इस युगको धार्मिक साहित्यका युग ही माना है। पं० रामशंकर शुक्ल लिखते हैं—"हमारा दूसरा काल जिसे हमने हिन्दी साहित्यका मध्यकाल तथा धार्मिक काल कहा है, जैसा उक्त अनुच्छेदसे स्पष्ट है, पठान साम्राज्यके उत्तर अथवा अन्तिम कालसे ही प्रारम्भ होता है।"[3] "इस समय

१. डॉ० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १६१, १६२।

२. रामशंकर शुक्ल 'रसाल' : हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृ० ११।

३. वही, पृ० १०८।

भारतवर्षमें बौद्ध धर्मका ह्रास तथा पौराणिक एवं वैदिक धर्मका प्रचार दिनों-दिन बढ़ रहे थे। स्वामी शंकराचार्यके प्रभावसे शैवधर्म एवं वेदान्तवाद भारतमें सुदृढ़ रूपसे जम ही चुका था। इस प्रकार धर्मकी दो धाराएँ भारतमें प्रवाहित हो रही थीं। एकमें तो दर्शन शास्त्रोंकी प्रधानता रहती थी और दूसरीमें शैवोपासना एवं शैवभक्तिकी प्रधानता रहती थी। जैन धर्मके अध्यात्म पक्ष एवं उपासना पक्षने तो आरम्भसे ही जैन एवं जैनेतर साहित्यको प्रभावित किया है तथा इस भक्ति-युगमें विशेष रूपसे।"

गोरखपन्थने भी भक्तियुगीन साहित्यको प्रभावित किया है। "यह एक उपासना एवं तान्त्रिकवाद था। इसका सम्बन्ध योगसे भी था और कर्मकाण्ड तथा कुछ शारीरिक क्रियाओंका भी इसमें प्रधान स्थान था। हाँ, इसमें विवेक और दार्शनिक धर्मका अंश कुछ भी न था। यह गोरखपुर और उसके आस-पास ही बहुत संकीर्ण रूपमें चल रहा था। इसका प्रचार प्रस्तार विशेष रूपसे साधुओंमें (जो प्राय: अपढ़ ही होते थे और निम्न श्रेणीके लोग थे) ही रहता था। वाममार्गका कुछ तत्त्व इसमें भी पाया जाता था, और इसका एक विशेष रूप जिसमें वाममार्गकी विशेषता रहती है, अघोरपन्थके नामसे चलने लगा था।

कबीर पन्थ, जो निर्गुणवादका प्राधान्य लेकर चला था, ने भी साहित्यको पर्याप्तरूपेण प्रभावित किया। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मोंके साधारण नियम इसमें सम्मिलित हैं। योगसम्बन्धी कुछ क्रियाओं तथा चारित्रिक बातोंकी भी विशेषता है।"[1]

मुग़लकालीन समाज धार्मिक एवं राजनीतिक पाटोंके बीच पिसनेके कारण अत्यन्त अस्त-व्यस्त हो रहा था। अर्थशून्य बाहरी विधि-विधान, तीर्थाटन, पर्वस्नान आदिकी निस्सारताका संस्कार फैलानेका कार्य बज्रयानी सिद्ध और नाथपन्थी जोगी कर ही चुके थे। जनताकी दृष्टिको आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण-विधायक सच्चे कर्मोंकी ओर ले जानेके बदले उसे वे कर्मक्षेत्रसे ही हटानेमें लग गये थे। सामान्य अशिक्षित या अर्धशिक्षित जनतापर इनकी बानियोंका प्रभाव इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था कि वह सच्चे शुभ कर्मोंके मार्गसे तथा भगवद्भक्तिकी स्वाभाविक हृदय-पद्धतिसे हटकर अनेक प्रकारके मन्त्र, तन्त्र और उपचारोंमें

१. वही, पृ० १२५।

जा उलझे और उसका विश्वास अलौकिक सिद्धियोंपर जा जमे।'[1]

'सामान्य जन-समुदायके अतिरिक्त शास्त्रज्ञ विद्वानोंपर सिद्धों और जोगियोंकी बानियोंका कोई असर न था। पण्डितोंके शास्त्रार्थ भी होते थे, दार्शनिक खण्डन-मण्डनके ग्रन्थ भी लिखे जाते थे।'[2] इस दार्शनिक खण्डन-मण्डनकी परम्पराने साहित्य-जगत्‌को भी पर्याप्त मात्रामें प्रभावित किया। भक्तियुगकी निर्गुण प्रेममार्गी, रामभक्ति एवं कृष्णभक्ति शाखा ही इस युगके साहित्यके विविध प्रभावोंकी द्योतक हैं। यह तो निर्विवाद है कि जितनी विविध परिस्थितियोंके वात्याचक्रमें-से भक्तियुगका साहित्य चला है उतना अन्य किसी युगका नहीं।

'यवन सभ्यताके कारण तो इस देशकी प्रत्येक गतिविधिमें परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। मुसलमानोंके आनेके उपरान्त तो समाजमें बहुत ही विशाल परिवर्तन हुआ, और उस परिवर्तनका होना अति आवश्यक एवं अनिवार्य-सा ठहरा। बाल विवाह, सती प्रथा, उच्चता, नीचता एवं छुआछूतके विचार तथा नियम प्रचलित हो गये थे। मुसलमानोंसे पराजित एवं परतन्त्र होकर हिन्दू जनताको बलात् अपने कतिपय नियम तोड़ और मरोड़ डालने पड़े थे। 'जहाँ एक ओर दोनों वर्गों (हिन्दू-मुसलमानों)में धर्मान्धताका बोलबाला था वहाँ दोनों ही वर्गोंमें कुछ उदार व्यक्ति ऐसे भी थे, जिन्हें एक-दूसरे धर्मोंके प्रति अपार सहानुभूति थी। कुछ उदार हिन्दू और मुसलमान ऐसे भी थे जो पारस्परिक सहानुभूतिकी जागृति कराते हुए विचार-विनिमय कर दोनों जातियोंको एक ही स्नेह-सूत्रमें बाँधनेका प्रयत्न करते थे।'[3] इन विभिन्न परिस्थितियोंने भक्ति-कालीन साहित्यकी अन्तरात्मा (भाव) एवं बाह्यात्मा (कलापक्ष) को आद्यन्त प्रभावित किया है।

भक्ति साहित्य—चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दीभाषी प्रदेशोंमें देशी भाषाका साहित्य कैसा था, इस बातको धारणा बहुत अस्पष्ट रूपमें ही होती है। हम केवल इतना ही जानते हैं कि पूर्वी प्रदेशोंमें सहजयानी और नाथपन्थी साधकोंकी साधनात्मक रचनाएँ प्राप्त होती हैं और पश्चिमी देशोंमें नीति, शृंगार और कथानक साहित्यकी कुछ रचनाएँ उपलब्ध

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' पृ० ६१।

२. वही, पृ० ६२।

३. रसाल, वही, पृ० १३२।

होती हैं। एकमें भावुकता, विद्रोह और रहस्यवादी मनोवृत्तिका प्राधान्य है और दूसरीमें नियम-निष्ठा, रूढ़िपालन और स्पष्टवादिताका स्वर है, एकमें सहज सत्यको आध्यात्मिक वातावरणमें सजाया गया है, दूसरीमें ऐहलौकिक वायुमण्डलमें, चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दीमें दोनों प्रकार की रचनाएँ एकमें सिमिटने लगी थीं। दोनोंके मिश्रणसे उस भावी साहित्यकी सूचना इसी समय मिलने लगी जो समूचे भारतीय इतिहासमें अपने ढंगका अकेला साहित्य है। इसीका नाम भक्ति साहित्य है।"[1]

यह एक नयी दुनिया है और जैसा कि डॉ० ग्रियर्सनने कहा है, "कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवीं तथा बादकी शताब्दियोंका साहित्य पढ़नेका मौक़ा मिला है उस भारी व्यवधानको लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो पुरानी और नयी धार्मिक भावनाओंमें विद्यमान है। हम अपनेको ऐसे धार्मिक आन्दोलनके सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनोंसे कहीं अधिक व्यापक और विशाल है जिन्हें भारतवर्षने कभी भी देखा है। यहाँ तक कि वह बौद्धधर्मके आन्दोलनसे भी व्यापक और विशाल है, क्योंकि उसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। इस युगमें धर्म ज्ञानका नहीं बल्कि भावावेशका विषय हो गया था। यहाँसे हम साधना और प्रेमोल्लासके देशमें आते हैं और ऐसी आत्माओंका साक्षात्कार करते हैं जो काशीके दिग्गज पण्डितोंकी जातिका नहीं है, बल्कि जिनकी समता मध्य युगके यूरोपीयन भक्त बर्नर्ड ऑव क्लेयरवक्स, टामस-ए-केम्पिन और सेण्टथेरिसासे है।"[2] भक्तियुगके साहित्यकी महानतापर कविप्रवर रवीन्द्रनाथ टैगोरने लिखा है—"मध्ययुगके साधक कवियोंने हिन्दी भाषामें जिस भावधाराका ऐश्वर्य-विस्तार किया है उसमें असाधारण विशेषता पायी जाती है। वह विशेषता यह है कि उनकी रचनाओंमें उच्चकोटिके साधक एवं कवियोंका एकत्र सम्मिश्रण हुआ है। इस प्रकारका सम्मिलन दुर्लभ है। जबसे इन सब काव्योंके साथ मेरा परिचय हुआ है तबसे ही मेरी हार्दिक कामना रही कि इन सबके संग्रह एवं रक्षाकार्यके लिए योग्य व्यक्तियोंके हृदयमें उत्साह उत्पन्न हो। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि जिन काव्योंमें अलंकार आदि गुणोंकी प्रचुरता होती है, उन्हीके प्रति जन साधारणका चित्त विशेष

---

१. वही, पृ० ८७।

२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य' पृ० ८७।

रूपसे आकृष्ट होता है। यही कारण है कि भारतीय विचारधारा भाव-गाम्भीर्य है, उसीके कारण ही वे जन-साधारण-द्वारा उपेक्षित हो रहे हैं।"[1] जो लोग इस युगके विकासकी वास्तविक कथा नहीं जानते उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा कैसे हुआ। स्वयं डॉक्टर ग्रियर्सनने लिखा है कि—"बिजलीकी चमकके समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतोंके अन्धकारके ऊपर एक नयी बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँसे आयी और कोई भी इसके प्रादुर्भावका कारण निश्चय नहीं कर सकता।"[2] भारतवर्षका भक्तियुगीन साहित्य कितना अनुपम है इस सम्बन्धमें सभी विद्वान् मुक्त कण्ठसे इस साहित्यको विश्व साहित्यमें प्रथम स्थान देते हैं। यों, धार्मिक उथल-पुथलसे प्रभावित एवं अत्यन्त भावावेशमय साहित्य यूरोपमें भी रचा गया है परन्तु उसमें वह आत्म-समर्पण एवं तन्मयता नहीं आ सकी है जो भारतीय भक्त कवि दे सके हैं। "धर्म और संसारका संघर्ष यूरोपीय कविताएँ बहुत अच्छा दिखलाती हैं। अंगरेज़ी कविता भी मानव हृदयकी आशा-निराशा, चिन्ता और परलोक चिन्तन यथेष्ट दृष्टि पथमें लाती है विश्वचेतनाका चित्र खींचती है। परन्तु उसकी भावनाएँ जब प्रबल हुईं तब भी सामयिक ज्ञानसे सामयिक काव्य-शैलियोंसे मुक्त नहीं हुईं। पंख दबे ही रहे। गीतोंके संसारमें ऊँचे नहीं उड़ पाये। अँगरेज़ी कविताके अधरोंपर मिस्टिक माधुरी केवल लिपिस्टिक से ही लगी हुई है। न वह रस है न वह मधुराई, न वह सत्य जो भारतीय भक्तिमें है।"[3]

भक्तिकालीन साहित्यने मानव मात्रके सम्मुख आत्मकल्याणका सरल-सात्त्विक पथ धर्मकी सर्वग्राह्य आदर्श व्याख्या-द्वारा कर दिया। साम्प्रदायिकता जातीयता एवं संकुचित-द्विविधामय व्याख्याकी क्षुद्र पगडण्डीसे उठकर अब धर्म विश्व मानवताके ऐसे विशाल एवं भव्य चतुष्पथपर आया, जहाँ उसका कोटि-कोटि कण्ठों और हृदयों-द्वारा भव्य स्वागत हुआ। भक्तिकालीन साहित्यके मूल प्रेरणा-स्रोत धर्मके कारण पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'ने तो इसे 'धार्मिक काव्यकाल' ही घोषित कर दिया। "हिन्दी साहित्यके जिस माध्यमिक कालका वर्णन हम कर रहे हैं उसमें

---

१. हरिनारायण शर्मा, 'सुन्दर ग्रन्थावली' भूमिका पृ० ४ रवीन्द्रनाथ ठाकुर।
२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य', पृ० ८८।
३. 'मीरा स्मृति ग्रन्थ' पृष्ठ ६, बंगीय हिन्दी परिषद्।

धार्मिक विचारों एवं आन्दोलनोंकी ही प्रधानता एवं विशेषता सर्वोपरि रही है, इसीलिए हमने उसे धार्मिक काल कहा है और इसी आधारपर हम उस समयके काव्यको धार्मिक काव्यकी एक व्यापक एवं साधारण संज्ञा दे रहे हैं।"[1] इस भक्तिकालीन धार्मिक साहित्यका विभाजन 'रसाल'जी दार्शनिक काव्य (फ़िलासोफ़िकल), नीत्यात्मक काव्य (मोरल एण्ड एथिकल), एवं मिश्रित काव्यके रूपमें करते हैं।

१. **दार्शनिक काव्य**—'जिसमें दार्शनिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तोंसे सम्बन्ध रखनेवाले विचारों एवं भावोंका ही पूर्ण रूपसे प्राधान्य रहता है। इस प्रकारके काव्यकी दो मुख्य धाराएँ हो जाती हैं। प्रथम तो दार्शनिक एवं वेदान्तात्मक निर्गुण तथा निराकारवादको लेकर प्रवाहित होती है और आध्यात्मिक (एगोइस्टिक आर सब्जैक्टिव) प्रेमके रससे मानव-समाजको परिप्लावित करती है। इस प्रकारके काव्यको हम निर्गुण या निराकार-सम्बन्धी प्रेमकाव्य कह सकते हैं। इसके भी मुक्तक (लैरिक) एवं कथा-त्मक (नेरेटिव) दो मुख्य रूप हो जाते हैं जिनमें प्रथममें भावकी प्रधानता और द्वितीयमें कथानक एवं घटना तत्त्वकी विशेष महत्ता रहती है, हाँ, शृङ्गार रस तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली रतिके साथ-ही-साथ प्रेमका सर्वथा अनवरत प्राधान्य रहता है। द्वितीय धारा दार्शनिक सिद्धान्ताचल-से फूटकर सगुण तथा साकारवादको लेती हुई शारीरिक एवं मानसिक दशाओंके साथ-ही-साथ लौकिक प्रेमके रससे सहृदयजनोंको स्नेह-सुखसे सिंचित करती है और ज्ञान और योगको गौण रूपमें रखकर भक्ति और अनुरक्तिको ही विशेष महत्ताके साथ परिपुष्ट करती है। इसीकी दो धाराएँ रामभक्ति एवं कृष्ण भक्तिकाव्यके रूपमें विख्यात हैं।'[2]

२. **नीत्यात्मक**—इसमें चरित्रसे सम्बन्ध रखनेवाले उत्तम उपदेशों एवं नियमोंका चारुताके साथ प्राधान्य रहता है, और सुनीतिके ही आधारपर इसकी रचना की जाती है। इसका उद्देश्य जनतामें सच्चरित्रताके भावोंका भरना, उसे सदाचारी और सुकर्मी बनाना है।'[3]

३. मिश्रित धारा—इस काव्य-धारामें उक्त सभी धाराओंका भिन्न-भिन्न मात्राओं अथवा अंशोंमें सामंजस्य रहता है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों अथवा

---

१. रसाल, 'हिन्दी सा० का इतिहास', पृ० १४७।
२. रसाल, वही, पृ० १४८।
३. वही, पृ० १४९।

पन्थोंके आधारपर इसकी भिन्न-भिन्न कई छोटी-छोटी शाखाएँ हो गयी हैं।

सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक पं० रामचन्द्र शुक्लने हिन्दी साहित्यके भक्ति-कालके जो ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, रामभक्ति एवं कृष्णभक्ति रूपमें चार भेद किये हैं वे भी लगभग (नाममात्रके भेदके साथ) इन भेदोंसे ही मेल खाते हैं। अन्य विख्यात इतिहासकार भी हिन्दी साहित्यके इस युगके साहित्यकी उक्त शाखाएँ ही निश्चित करते हैं। कवि मनीषी परिभू स्वयम्भूके रूपमें कविको हम भक्ति-युगमें ही देखते हैं। वीरगाथा कालमें कवि राजाश्रित थे अतः उनमें उनकी कवितामें आश्रित वृत्तिका परिचय आद्यन्त प्राप्त होता है। भाषा और भाव भी मानव हृदयको स्थायी रूपसे आकृष्ट करनेवाले न बन सके। वीरगाथा काल तक हमारे कवियोंका कोई जीवन-लक्ष्य न था, उनके सम्मुख कोई महान् आदर्श न था जैसा कि हम भक्ति-युगमें देखते हैं। "रामानन्द और वल्लभाचार्यके पहले हिन्दी साहित्य किसी बड़े आदर्शसे चालित नहीं था। आश्रयदाता राजाओंके गुणकीर्तन और काव्यगत रूढ़ियोंपर आधारित साहित्य रूढ़ियोंको जन्म दे सकता है, पर वह समाजको किसी नये रास्तेपर चलनेकी स्फूर्ति नहीं दे सकता। चौदहवीं शताब्दीसे पूर्वके साहित्यने कोई नयी प्रेरणा नहीं दी। किन्तु नया साहित्य मनुष्य जीवनके एक निश्चित लक्ष्य और आदर्शको लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद्भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्त्विक जीवन, और साधन हैं भगवान्‌का निर्मल चरित्र और सरल लीलाओंका निर्मल गान। इस साहित्यको प्रेरणा देनेवाला तत्त्व भक्ति है, इसीलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्यसे सब प्रकारसे भिन्न है। उसका लक्ष्य था राज-संरक्षण, कवि यश और वाक् सिद्धि। प्रेरक तत्त्व बदलनेके कारण पन्द्रहवीं शताब्दीके बादका साहित्य बिलकुल नवीन-सा जान पड़ता है। चन्द, जज्जल, विद्याधर, शार्ङ्गधर आदि की रचनाओंमें अनाडम्बरित स्वस्थ जीवन और अलौकिक पारमार्थिक लक्ष्य प्राप्त करनेको स्फूर्तिदायिनी प्रेरणा नहीं है। परन्तु इस युगके साहित्यमें वह प्रेरणा पूरी शक्तिके साथ काम करती दिखाई देती है। यही कारण है कि इस कालके आरम्भमें ही कबीर, नानक, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, मलिक मुहम्मद जायसी और दादूदयाल-जैसे महान् साहित्यकार उत्पन्न हुए जो अपने-अपने क्षेत्रोंमें दिक्पाल-जैसे दिखाई देते हैं। इस कालका हिन्दी साहित्य ऊर्ध्वबाहु होकर घोषणा करता है कि लक्ष्य बड़ा होनेसे ही साहित्य बड़ा होता

है।"[1] भक्तिकालके हिन्दी साहित्यकी विशेषताओंकी चर्चा करते हुए डॉ० जी० राय चौधरी कहते हैं—"चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दीमें उत्तर भारत एक कोनेसे दूसरे कोने तक यूरोपके 'रिफॉरमेशन' आन्दोलनकी भाँति धार्मिक क्रान्तिसे खिल उठा था। इसका विशेष प्रभाव वैष्णव सम्प्रदायपर था। इस क्रान्तिके धार्मिक नेताओंने विश्वत्यागिनी स्वतन्त्र और उदार दृष्टिकोणकी रूह-सी फूँक दी थी।"[2] किस महानताके साथ सभी धर्मोंकी रक्षा करते हुए मानव-धर्मका प्रचार सभी धर्मोंके सन्त कविता-द्वारा कर रहे थे। युग-युगसे दलित एवं उपेक्षित जनतामें भी किस आदर्श-पद्धतिसे जीवनका संचार कर रहे थे, उसमें आत्मगौरवका भाव जगा रहे थे, इस सम्बन्धमें पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—"इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति-पद्धतिका प्रचार था, जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेद-भावका कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्तिपूजाका खण्डन ये मुसलमानी जोशके साथ करते थे और मुसलमानोंकी कुरबानी (हिंसा), नमाज, रोजा आदिकी असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहदनाद, सृष्टि, प्रलय आदिकी चर्चा पूरे हिन्दू ब्रह्मज्ञानी बनकर करते थे। सारांश यह कि ईश्वर-पूजाकी उन भिन्न-भिन्न बाह्य विधियोंपर-से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्ममें भेद-भाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्त्विक जीवनका प्रचार करना चाहते थे।"[3] डॉ० श्यामसुन्दरदास इस युगकी साहित्यिक स्थितिकी उत्कृष्टताके सम्बन्धमें लिखते हैं:—"भक्तिकी इस धारामें अनेक उपास्य देवों और उपासना-भेदोंके रूपमें अनेक स्रोतोंका प्रादुर्भाव हुआ, परन्तु मूल धारामें कुछ भी अन्तर न पड़ा, वह एकरस बहती रही। विष्णु, गोपाल, कृष्ण, हरि, राम, बाल कृष्ण आदि विभिन्न उपास्य देवोंके सम्मिलित प्रभावसे भक्ति अधिकाधिक शक्तिसम्पन्न होती गयी। साथ ही जनताका विशेष मनोरंजन और दुःख-निवारण भी होता गया। इन अनेक भक्ति सम्प्रदायोंका हमारे साहित्यपर भी प्रभाव पड़ा और वीरगाथा कालकी एकाङ्गिता दूर होकर हिन्दीमें एक प्रकारकी व्यापकता और आध्यात्मिकताका समावेश हुआ। मध्य युगका हिन्दी साहित्य हिन्दीके इतिहासमें

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य' पृ० ११०।

२. 'मीरा स्मृति ग्रन्थ' पृ० ११३।

३. पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी सा० का इतिहास' पृ० ७०।

तो उत्कृष्टताकी दृष्टिसे अतुलनीय है ही, उसकी तुलना संसारके अन्य समृद्ध साहित्योंसे भली भाँति की जा सकती है। हिन्दीके इस उत्कर्ष-वर्धनमें तत्कालीन भक्ति-अभ्युत्थानने विशेष सहायता पहुँचायी थी।"[1]

इस प्रकार विषयकी दृष्टिसे भक्तियुगका साहित्य धार्मिक भक्ति-परक तथा नैतिक एवं सामाजिक ऐक्यकी विचारधारासे परिपूर्ण है। इस युगके साहित्यका मुख्य कार्य आत्मजागृति एवं जन-जागरण (अलौकिक सुखके लिए) का सन्देश था, अतः सर्वत्र सुधासिक्त भावधाराका अजस्र प्रवाह ही दृष्टिगोचर होता है। प्रसाद एवं माधुर्य गुणोंसे अभिमण्डित शैली एवं भावप्रेषणमें पूर्ण सहायक भाषा प्रयत्न-साध्य न होकर देहकी परछाईं सदृश स्वतः चली आयी है। सामान्यतया सर्व-रस निर्झरिणीका कादाचित्क प्रवाह इस युगके साहित्यमें है, परन्तु प्रमुख रूपसे तो असंख्य भक्ति-उर्मियोंसे अभिमण्डित शान्त रसकी अजस्र धारा इतने प्रभावक एवं व्यापक रूपसे प्रवाहित होती है कि अन्य सभी रस नगण्यसे प्रतीत होते हैं।

जैन साहित्यकारोंका योगदान

हिन्दी साहित्यके उद्भव और विकासमें जैन साहित्यकारोंकी सेवाएँ आज हिन्दी संसारको सुविदित हैं। भाषा, शैली एवं विषय-प्रतिपादनकी दृष्टिसे इन साहित्य-सेवियोंने सदैव अपने अन्य साथियोंका भरपूर साथ दिया है और अनेक अवसरोंपर विभिन्न दिशाओंमें तो पथ-निर्देशनका भी सौभाग्य इन्हें ही प्राप्त हुआ है। हिन्दी साहित्यके मूल स्रोत अपभ्रंश भाषाके प्रथम महाकवि स्वयम्भूसे लेकर आजतक हिन्दी साहित्यके सभी युगोंमें अपनी अजस्र भावधारा प्रवाहित करते हुए जैन साहित्यकारोंने माँ-हिन्दीकी श्रीवृद्धि बड़ी सजगता एवं साधुतासे की है। आज हिन्दीके लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् भी मुक्तकण्ठसे यह स्वीकार करते है कि—"जैन आचार्य भी अपने गहन तत्त्व विचारोंको सरस करके कहनेमें अपने ब्राह्मण और बौद्ध साथियोंसे किसी प्रकार पीछे नहीं रहे हैं। सही बात तो यह है कि जैन पण्डितोंने अनेक कथा और प्रबन्धकी पुस्तकें बड़ी सहज भाषामें लिखी हैं।"[2] केवल हिन्दी साहित्यमें ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मयमें

---

१. डॉ० श्यामसुन्दरदास, 'हिन्दी साहित्य' पृ० १३६।

२. 'दो हजार वर्ष पुरानी जैन कहानियाँ' पृ० ८। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी भूमिका लेखक, पुस्तक लेखक डॉ० जगदीशचन्द्र जैन।

जैन साहित्य अपनी विशेषता रखता है। संस्कृत, प्राकृत, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश, तामिल, कन्नड़, तेलगू, गुजराती, मराठी तथा बंगला आदि सभी प्राचीन भाषाओंमें जैन साहित्य विपुल परिमाणमें रचा गया है। साहित्यके अतिरिक्त दर्शन, सिद्धान्त, व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक, छन्द, अलंकार, चरित ग्रन्थ, पुराण, मन्त्रतन्त्र आदि सभी विषयों-पर अबाध गतिसे जैन विद्वानोंने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं। यद्यपि दुर्भाग्यवश अनेक साम्प्रदायिक एवं प्रशासनिक विप्लवोंके कारण जैन-वाङ्मय बहुत कुछ नष्ट हो गया है, परन्तु जो कुछ शेष है वह भी उसकी महत्ता और विशालताकी ऊर्ध्वबाहु होकर आज भी घोषणा कर रहा है। मुख्यतया संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशमें ही जैन साहित्यकारोंने रचनाएँ की हैं। इन भाषाओंमे लिखे गये साहित्यसे ही हिन्दी जैन साहित्यमें प्रेरणा बीज आये हैं। यथावसर मौलिक उद्भावनाएँ एवं चिन्तन-ऊर्मियाँ भी पर्याप्त मात्रामे परिलक्षित होती हैं। कथानकोंमे भी ये साहित्यकार आवश्यकता पड़नेपर मौलिकताका पुट भली भाँति देते रहे हैं। शैली और भाषा-सम्बन्धी मौलिकता तो निर्विवाद-रूपेण इनकी अपनी है और अनोखी है—सरल ललित है।

जहाँ हमारा साहित्य विभिन्न युग-पर्वतोंसे टकराकर तत्तत्कालीन विविध परिस्थितियोंसे इतना अधिक प्रभावित हुआ कि परिस्थितिका ही साहित्य बनकर रह गया, वहाँ जैन साहित्यकारोंने मानव आत्मकल्याणका मूल स्वर सदैव अपने साहित्यमें सर्वोपरि रखा और प्रासंगिक परिस्थितियों-का भी यथावसर चित्रण किया।

कविवर चन्दवरदायीने अपने आश्रयदाता एवं मित्र महाराज पृथ्वी-राजको अपने काव्यका मूल बिन्दु बनाया। कबीरदासने अध्यात्म एवं निर्गुणको अपनी प्रतिभा प्रकाशनका मूल सूत्र चुना, सामान्यतया उनके काव्यमें तात्कालिक सामाजिक, साम्प्रदायिक एवं अमानवीय जितनी भी मानव समाजमें बीभत्स क्रियाएँ चल रही थीं, सभीका चित्रण भी हुआ है। महात्मा सूर और तुलसीदास क्रमशः लीला पुरुषोत्तम कृष्ण तथा मर्यादा पुरुषोत्तम रामको अपनी काव्य रचनाका प्रमुख केन्द्र मानकर चले और हिन्दी संसारको समृद्ध, स्वस्थ एवं चिरस्थायी साहित्य दिया। इनके काव्योंमें भी सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिस्थितियोंकी चर्चा प्रबल रूपसे आयी है। मीराके कृष्ण कभी भी उसके जीवन और काव्यसे पृथक् नहीं

किये जा सकते। ठीक इसी प्रकार रीतिकालीन कवितामें शृंगार और भावचपलता, ऐन्द्रिकता एवं पाण्डित्य प्रदर्शनकी एक चमत्कार उत्पन्न करनेकी होड़-सी दृष्टिगोचर होती है। उसमें प्रभातकालीन तारोंकी भाँति कहीं-कहीं भक्ति और नीतिकी भी एक हलकी धारा मिल जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक युगमें प्रत्येक कवि अपने साहित्य-द्वारा एक सन्देश लेकर चलता है, जिसका प्रचार, प्रसार, साज, सँवार उसकी प्रतिभा, विषयगठन एवं काव्य-शैलीसे हुआ करता है। हिन्दीके तीनों काल क्रमशः वीरता, भक्ति एवं शृंगारके प्रमुख सन्देशोंसे समभिभूत हैं।

जैन साहित्यकार भी प्रारम्भसे ही अपनी एक भावना, अपना एक सन्देश, एक सेवावृत्ति, अपने पूर्वाचार्योंकी एक उदात्त परम्पराका मृदुल-सुकुमार किन्तु संसार एवं सशक्त पुष्प-स्तवक लेकर माँ-भारतीकी पद-वन्दना अद्यावधि कर रहे हैं। इस साहित्यका मूल स्वर धर्म है यह निश्चित है। इसकी पुष्टि सभी आलोचक एवं विचारक विद्वान् करते हैं। बहुधा धार्मिक साहित्यके नामसे ही लोग चौंक जाया करते हैं, उपेक्षाका भाव प्रदर्शित करते हैं, जैसा कि जैन साहित्यके साथ कुछ काल पूर्व हुआ भी है। आज तो हमारे लब्धप्रतिष्ठ खोजी विद्वानोंने इस साहित्यमें पैठनेका श्री गणेश कर भी दिया है। परन्तु यहाँ यह बात हमें जान लेना है कि धार्मिक साहित्यके नामसे जो एक उपेक्षाका भाव जगता है वह उसे साम्प्रदायिक, रूढ़िवादी, शुष्क एवं पारस्परिक बोझिल समझकर ही होता है। यही समझकर जैन साहित्यको भी एक लम्बे समय तक उपेक्षित किया जाता रहा है। वास्तवमें साहित्यका धार्मिक होना अर्थात् मानव-कल्याणका सरल, ससार एवं ललित प्रतिपादक होना कदापि अग्राह्य नहीं हो सकता है। यदि ऐसा साहित्य भी अग्राह्य हो जाये तो हम अपने हिन्दी साहित्यके मूर्धन्य महात्मा सूर एवं महाकवि तुलसीदासजीसे भी हाथ धो बैठेंगे। क्योंकि उनका साहित्य मूल रूपसे एक महान् धार्मिक सन्देश लिये हुए है। हम मुक्त कण्ठसे यह स्वीकार करते हैं कि सूर और तुलसी हिन्दी साहित्याकाशके अमर रवि-शशि हैं। वास्तवमें "यदि अध्यात्मकी चर्चा, भोगों, इन्द्रिय विषयोंका विरोध भी साम्प्रदायिक और धार्मिक है तथा ललित और उत्तम साहित्यमें सम्मिलित नहीं किया जा सकता, तो हम भक्तिकालीन साहित्यके स्तम्भ कबीर, सूर और तुलसीके साहित्यको भी निरा धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कहकर क्या स्वयंके बुद्धि-विवेकके दिवालियापनका परि-

चय न देंगे। साम्प्रदायिक साहित्य वह है जिसमें बाह्याडम्बर, निष्प्राण अति आचार तथा क्रियाकाण्ड आदिकी कट्टरताके साथ विवरण प्रधान नीरस चर्चा मात्र हो। यद्यपि ऐसे ग्रन्थ सभी धर्मोंमें हैं, परन्तु हम उन्हें ललित साहित्यके अन्तर्गत नहीं लेते, वे सामान्य साहित्यमें ही आते हैं। वस्तुत: उत्तम साहित्य वही है जो क्षणिक सस्ता मनोरंजन न देकर शाश्वत सत्यका जो शिवं एवं सुन्दरंसे अभिमण्डित हो, उद्घाटन कर सके।"[1] इस कटौतीका जैन साहित्य विपुल है।

अभीतक जितना प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य प्रकाशमें आया है, प्राय: जैनों-द्वारा ही लिखा हुआ मिला है। [2]"इन जैन लेखकोंने देशके कोने-कोनेमें बैठकर रचनाएँ कीं। जैन साहित्यका रचना-क्षेत्र बहुत विस्तृत था।"

मध्यकालीन साहित्यकी चर्चा करते हुए बाबू कामताप्रसाद कहते हैं—[3]"भारतके इस परिवर्तनसे जैनी अछूते न रहे, वे भी यहाँके निवासी थे और अपने पड़ोसियोंसे पृथक् नहीं रह सकते थे। जैन-जगत्में इसकी प्रतिक्रिया सर्वांगीण हुई। जैन कवियोंने अपनी मूलभूत मानव धर्मकी व्याख्याके साथ-साथ यथासाध्य समाज, धर्म और राजनीतिक परिस्थितियोंका भी सशक्त एवं सम्मोहक चित्रण किया है। इस दिशामें भी कई स्थानोंपर कई जैनेतर कवियोंमें और इनमें भाषा भाव एवं शैली तकमें अपार साम्य दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं दोनों एक-दूसरेसे प्रभावित हैं, ऐसा भी परिलक्षित होता है।

जैन आम्नायके महाकवि स्वयम्भू जो आज हिन्दीके आदि-कवि निश्चित हो चुके हैं। उनके विषय, शैली एवं वर्णन-पद्धतिने हिन्दीके चोटीके महाकवियोंको विविध प्रकारसे प्रभावित किया है। महाकवि तुलसीदासका रामचरित मानस एवं जायसीका पद्मावत निश्चित रूपसे महाकवि स्वयम्भूके 'पउमचरिअ' की परम्परामें ही रचे गये हैं। साथ-ही-साथ 'भविसयत्त-

---

१. 'साहित्य-सन्देश' पृ० ४७४, जून १९५६, अंक १२।
"नाटकीय प्राकृत, सेतुबन्ध और गाथा सप्तशती, गौडवहो अजैनों-द्वारा लिखे गये हैं। अपभ्रंशमें अब्दुल रहमान कृत 'सन्देश रासक' विद्यापतिकी कीर्तिलता, दोहाकोष, विक्रमोर्वशीयके कुछ पद्य एवं कुछ हेमचन्द्रके व्याकरणमें भी अजैनों-द्वारा लिखे प्राप्त हुए हैं।"
२. राम सिंह तोमर : 'प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ', पृ० ४६४।
३. बाबू कामताप्रसाद : 'हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास' पृ० ६३।

कहा' तथा पन्द्रहवीं शतीकी प्राकृतमें लिखी 'रयण सेट्टी नरवई कहा' कथा मिलती है। इन दोनोंसे जायसीका पद्मावत घने रूपसे प्रभावित है। पात्र तथा घटनाएँ थोड़े-बहुत अन्तरसे ज्योंके त्यों मिलते हैं।[1]

भाषाकी दृष्टिसे तो जैन साहित्यकारोंने हिन्दीकी जड़ें ही सींची हैं। इस बातको आज सभी विद्वान् मुक्त कण्ठसे स्वीकार करते ही हैं। [2]"जनताकी भाषामें रचना करके लोक भाषाको काव्यका माध्यम बनानेका श्रेय प्रधानतः उन्हीं जैन कवियोंको है। किसी समयकी लोक भाषा पाली-प्राकृतें भी संस्कृतके सदृश संस्कृत (क्लासीकल) हो चुकी थी। व्याकरणकी सहायतासे ही उनका अध्ययन सुलभ हो सकता था। सेतुबन्ध-जैसे काव्योंका रसास्वादन करना पण्डितोंके लिए भी सरल कार्य न था। अतः लोक भाषा साहित्यसे ही जनताका कल्याण हो सकता था। अपभ्रंश कवियोंकी रचनाओंने ही आगे चलकर हिन्दी कवियोंको भाषामें रचना करनेके लिए मार्ग प्रदर्शकका कार्य किया। भाषाके दृष्टिकोणसे यह सबसे महत्त्वपूर्ण देन इन कवियोंकी हिन्दी साहित्यको है।" इसी सम्बन्धमें प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कहते हैं—[3]"अब यह बात प्रायः सर्वमान्य है कि हिन्दी भाषाको अपने वर्तमान रूपमें आनेसे पहले अपभ्रंश युगको पार करना पड़ा। वस्तुतः शब्दशास्त्र और साहित्यिक शैली दोनोंका बहुत बड़ा वरदान अपभ्रंश भाषासे हिन्दीको प्राप्त हुआ है। तुकान्त छन्द और कविताकी पद्धति अपभ्रंशकी ही देन हैं। लगभग आठवीं शताब्दीमें स्वयम्भू नामक महाकवि (६९० ई०) ने हरिवंशपुराण और रामायणकी अपभ्रंश भाषामें रचना की जो हमें उपलब्ध है। "जैन साहित्यमें हिन्दी काव्य शैलीके अंकुर निहित हैं। दसवीं शताब्दीमें पुष्पदन्त कविके द्वारा 'यशोधर चरित्र' और 'नागकुमार चरित्र' ये दो काव्य अपभ्रंश भाषामें निर्मित हुए। इन चरित काव्योंकी परम्परामें ही आगे चलकर गोस्वामीजीने रामचरित मानसका निर्माण किया।" और फिर मानसकी विचार शैली एवं भाषा-सम्बन्धी परम्परामें हिन्दी साहित्य कितना पल्लवित एवं पुष्पित हुआ यह सुविदित ही है। महापण्डित राहुल सांकृ-

---

१. विशेषके लिए देखिए, रामसिंह तोमर, 'जैन साहित्यकी हिन्दी साहित्यको देन' प्रेमी अभि० ग्रन्थ, पृ० ४६।

२. वही, पृ० ४६५।

३. कामताप्रसाद जैन : 'हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास' भूमिका पृ० ६।

त्यायन कहते हैं"—[1]केवल दोहा चौपाईमें ही तुलसी रामायण और स्वयम्भू रामायणमें समानता नहीं है बल्कि कितनी ही जगहोंपर दोनोंकी उक्तियोंमें भी समानता मिलती है।"

"[2]जैन विद्वानोंने लोक-रुचि और लोक-साहित्यकी कभी उपेक्षा नहीं की। जन-साधारणके निकट तक पहुँचने और उनमें अपने विचारोंका प्रचार करनेके लिए वे लोक भाषाओंका आश्रय लेनेसे भी कभी नहीं चूके। यही कारण है जो उन्होंने सभी प्रान्तोंकी भाषाओंको अपनी रचनाओंसे समृद्ध किया है। अपभ्रंश भाषा द्रविड़ प्रान्तों और कर्नाटकको छोड़कर प्राय: सारे भारतमें थोड़े-बहुत हेर-फेरके साथ समझी जाती थी। अतएव इस भाषामें भी जैन कवि विशाल साहित्यका निर्माण कर गये हैं।" हिन्दीके आद्य स्रोत अपभ्रंशकी भाँति जैन साहित्यकारोंने आगे चलकर हिन्दी साहित्यके सभी युगोंमें अबाध गतिसे अपनी उज्ज्वल प्रतिभा एवं उर्वर मस्तिष्कका एक सच्चे साधककी भाँति–निष्पक्ष–निर्लोभी सेवककी भाँति परिचय दिया है। वीर काव्योंके समय अनेक रासा ग्रन्थ जैन विद्वानोंने रचे।[3] "जैन साहित्यमें छोटे-बड़े सैकड़ों रासा ग्रन्थ सुरक्षित हैं और भाषाकी दृष्टिसे वे साहित्यके इतिहासके लिए महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।"

भक्ति-युगमें अनेक जैन कवियोंने जन कल्याणपरक साहित्य सृजन किया और यथावसर सामाजिक तथा राजनीतिक दशाका चित्रण कर अपने अन्य विख्यात साहित्यकारोंके साथ कन्धेसे कन्धा मिलाकर चले। महाकवि रइधू (१५वी शती), ब्रह्म जिनदास (१६वीं शती) तथा कविवर बनारसीदासने (१७वीं शती) प्रमुख रूपसे पर्याप्त मात्रामें परिमाण और वैशिष्ट्य दोनों ही दृष्टियोंसे साहित्य रचा। आज तक इस वर्गके साहित्यकार अपना निश्चित लक्ष्य अर्थात् आत्मकल्याण एवं जन-कल्याण (जो संसारके किसी भी महान् साहित्यका लक्ष्य हो सकता है) लेकर जनभाषामें काव्य, नाटक तथा कथा आदि-द्वारा कार्य कर रहे हैं।

जैन साहित्यकारोंकी परम्परा

संस्कृत, प्राकृत एवं अन्य प्रान्तीय भाषाओंकी दृष्टिसे जैन साहित्यकी

---

१. राहुल सांकृत्यायन : 'पं० चन्दाबाई अभि० ग्रन्थ', पृ० ४१३।
२. प्रेमी : 'जैन साहित्य और इतिहास', पृ० ३७०।
३. कामताप्रसाद : 'हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास', पृ० १०।

परम्परा सुनिश्चित रूपेण अत्यन्त विशाल एवं चिरकालीन है। भगवान् महावीरकी वाणी ही इस साहित्यका मूलाधार है। संस्कृत और प्राकृत भाषामें जैनोंका विपुल साहित्य है। परन्तु यहाँ हमें हिन्दी जैन साहित्य-कारोंकी परम्परा अर्थात् साहित्य सृजनके अनुक्रमसे प्रयोजन है अतः उसी-की चर्चा करेंगे। हाँ, इतना यहाँ जान लेना आवश्यक है कि जैन साहित्य-कार एवं साहित्य आद्यन्त एक ही मूलाधारसे उद्गत हैं। सन्तानें अपने पूर्वाचार्योंके कथानक-विचारधारा अर्थात् रचना लक्ष्यसे पूरी तरह प्रभावित हैं, यद्यपि उनपर अपने-अपने युगकी विशिष्ट परिस्थितियोंका प्रभाव भी आता ही रहा है जो स्वाभाविक भी है।

यह निश्चित है कि जैन साहित्य धर्म-प्रधान साहित्य है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्रान्तीय भाषाएँ और हिन्दीमें जो कुछ भी जैन साहित्य आज प्राप्त है उस सबका मूल स्वर धर्म है इस तथ्यको ध्यानमें रखकर ही हम जैन साहित्यकारोंकी परम्पराका अध्ययन समुचित रूपेण कर सकेंगे।

सम्पूर्ण जैन साहित्य विषयकी दृष्टिसे चार भागोंमें विभक्त है—प्रथमा-नुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग।

१. प्रथमानुयोगमें महापुरुषोंके जीवन चरित और उन्हींकी लोकोपकारी जीवन घटनाएँ।

२. चरणानुयोग—आचार तथा चरित्र-सम्बन्धी चर्चाएँ।

३. करणानुयोग—लोक और नरकादिक गतियोंका वर्णन है।

४. द्रव्यनुयोग—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन षट् द्रव्योंका वर्णन।

"जैन साहित्यकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसे कभी धार्मिक आवरणसे छुटकारा नहीं मिल सका। जैन कवियों या लेखकोंका कार्य बहुत ही कठिन था। धार्मिक दृष्टिकोण भुलाना उनके लिए मुश्किल था। यह प्रतिबन्ध होते हुए भी उचित अवसर पाते ही जैन कवि अपना काव्य-कौशल प्रकट किये बिना नहीं रहते और ऐसे स्थलोंपर हमें एक अत्यन्त उच्चकोटिके सरल और सरस काव्यके दर्शन होते हैं, जिसकी समता हम अच्छेसे-अच्छे कविकी रचनासे कर सकते हैं। काव्यके सामान्य तत्त्वोंके अतिरिक्त इन कवियोंके काव्यकी विशेषता यह है कि लोक रुचिके

---

१. रामसिंह तोमर एम० ए० : 'प्रेमी अभि० ग्रन्थ', पृ० ४६४।

अनुकूल बनानेके लिए इन कवियोंने अपने काव्यको सामाजिक जीवनके अधिक निकट लानेका प्रयत्न किया है। सरलता और सरसताको एक साथ प्रस्तुत करनेका जैसा प्रयत्न इन कवियोंने किया है, वैसा अन्यत्र कम प्राप्त होगा।"

सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य एवं हिन्दी जैन साहित्यकी परम्पराका सूत्रपात अपभ्रंश (हिन्दी जननी) के महाकवि स्वयम्भूसे होता है। [1]"जैन साहित्य स्रष्टाओंने अखण्ड चैतन्य आनन्द रूपमें आत्माका ही अपने अन्तस्‌में साक्षात्कार किया और साहित्यमें उसीकी अनुभूतिको मूर्त रूप प्रदान कर सौन्दर्यके शाश्वत प्रकाशकी रेखाओं-द्वारा वाणीका चित्र अंकित किया। इन्होंने अपनी अनुभूतिको आत्म-साधनाका विषय बनाकर चिरन्तन मंगल प्रभातका दर्शन किया। इन्होंने आभ्यन्तरिक धरातलमें अंकुरित अशान्ति एवं असन्तोषका उपचार ऊपरी सतहपर लगे दोषोंके परिमार्जनसे न कर प्रस्फुटित अनुभूतिके झरनेमें मज्जन कर किया।" मानवात्मा जब भी अपने कल्याण-पथसे विचलित हुई है, राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियोंने जब भी इसे अशान्त किया है तभी अपने समकालीन अन्य साहित्यकारोंकी भाँति जैन साहित्य स्रष्टा भी समाजको साहस, धैर्य एवं अद्‌भुत सामंजस्यका पाठ अपनी रचनाओं-द्वारा सरल ललित माध्यमसे देते रहे हैं। [2] "इन साहित्यकारोंने अधूरी और अपूर्ण मानवताके मध्यमें उस संक्रान्ति एवं उथल-पुथलके युगमें, जब कि भारतकी राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ प्रबल वेगके साथ परिवर्तित होती जा रही थीं, खड़े होकर पूर्ण मानवताका आदर्श प्रस्तुत किया।"

हिन्दी साहित्यका आदि बीज हमें अपभ्रंशमें ही प्राप्त होता है अत: हिन्दी वाङ्मयकी जानकारीके लिए हमें सर्वप्रथम अपभ्रंश साहित्यपर भी एक दृष्टि डालनी होगी। [3]"हमारी सम्मतिमें अपभ्रंश काव्यको हिन्दीसे पृथक् गिनना ठीक नहीं। अपभ्रंश काल (८-११वीं शती) हिन्दी भाषाका आद्यकाल है। हिन्दीकी काव्य धाराका मूल विकास सोलह आने

१. पं० नेमिचन्द्र शास्त्री : 'हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन', पृ० २०।

२. वही, पृ० २०।

३. डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल : 'हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास', पृ० ६, कामताप्रसाद-द्वारा लिखित।

अपभ्रंश काव्यधारामें अन्तर्निहित है। अतएव हिन्दी साहित्यके ऐतिहासिक क्षेत्रमें अपभ्रंश भषाको सम्मिलित किये बिना हिन्दीका विकास समझमें आना असम्भव है। भाषा, भावशैली तीनों दृष्टियोंसे अपभ्रंशका साहित्य हिन्दी भाषाका अभिन्न अंग समझा जाना चाहिए।"

हिन्दीके जैन साहित्यकारोंकी परम्परा स्वनामधन्य महाकवि स्वयम्भू (८वीं शती) से प्रारम्भ होती है। महाकवि स्वयम्भू जैन साहित्यकारोंके ही प्रथम कवि नहीं हैं वरन् सम्पूर्ण साहित्यकी परम्पराका श्रीगणेश भी आपसे ही होता है। भाषा-शैली एवं विषय तीनों ही दिशाओंमें आपने अक्षुण्ण कार्य किया है।

[1]"धक्कड़ कुलके पं० हरिषेणने अपनी 'धम्म परिक्खा' में अपभ्रंश भाषाके तीन महाकवियोंकी प्रशंसा की है, उनमें सबसे पहले चउमुह या चतुर्मुख हैं जिनकी अभीतक कोई रचना उपलब्ध नहीं हुई है, दूसरे हैं स्वयम्भू देव और तीसरे हैं पुष्पदन्त जिनके प्रायः सभी ग्रन्थ प्रकाशमें आ गये हैं और जिनसे हम परिचित भी हो चुके हैं। पुष्पदन्तने चतुर्मुख और स्वयम्भू दोनोंका स्मरण किया है और स्वयम्भूने चतुर्मुखकी स्तुति की है अर्थात् चतुर्मुख स्वयम्भूसे पहलेके कवि हैं।" कविवर स्वयम्भूके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं। [2]'पउम चरिअ' (पद्म चरित) यह रामायणका ही दूसरा नाम है, 'रिट्ठणमिचरिउ' (अरिष्टनेमि चरित) महाभारत हरिवंश पुराणकी कथाका रूपान्तर है और 'स्वयम्भू छन्द' छन्द शास्त्रपर उनका एक अपूर्ण ग्रन्थ है। तृतीय ग्रन्थके नामसे ही उसका विषय स्पष्ट है। प्रथम और द्वितीय ग्रन्थोंमें महापुरुषोंके जीवन वृत्त हैं।" राहुलजीने इस साहित्य स्रष्टाके सम्बन्धमें अपना मत व्यक्त किया है : [3]"यदि हम आठवीं सदीसे १२वीं तकके समाजको पूर्ण साक्षात्कार करना चाहते हैं तो इसके लिए अपभ्रंशके मूल काव्योंको देखना अनिवार्य हो जायेगा। आठवीं सदीके लिए इस विषयमें स्वयम्भूके दोनों महाकाव्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। दशवीं शताब्दीके लिए यही काम महाकवि पुष्पदन्त (जैन कवि) के महाकाव्य करते हैं।" [4]"संस्कृतके काव्य-गगनमें जो स्थान कालिदासका है,

---

१. नाथूराम प्रेमी : 'जैन साहित्य और इतिहास', पृ० ३७०।

२. 'राहुल सांकृत्यायन' : 'ब्रह्म चा० पं० चन्दाबाई अभि० ग्रन्थ', पृ० ४११।

३. वही, पृ० ४१२।

४. वही, पृ० ४१३।

प्राकृतमें जो स्थान हालने प्राप्त किया, हिन्दीमें तुलसी जिस स्थानपर हैं, अपभ्रंशके सारे कालमें स्वयम्भू वही स्थान रखते हैं।"[1]

दशम शताब्दीमें मुनि रामसिंहकी लोक कल्याण-परक एवं अध्यात्म प्रधान काव्य धाराने जन-मानसमें अपार उज्ज्वल भाव-रत्न भरे। सरलतम अभिव्यक्ति द्वारा गम्भीर भावानुभूतिके हृदयाकर्षक चित्र कविके काव्यमें पर्याप्त मात्रामें देखे जा सकते हैं। मनुष्य सांसारिक क्षणिक आकर्षणपूर्ण वस्तुओंके मोह-जालमें आबद्ध होता जाता है और धीरे-धीरे वह इस जालको ही अपना जीवन-लक्ष्य समझ बैठता है। आत्माका स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। पार्थिव देह आत्मासे सर्वथा भिन्न है अज्ञजन ही इसमें अनुराग करते हैं। मुनिरामसिंह जी अपने 'पाहुड दोहा' में लिखते हैं—

मूढ़ा देहम रज्जियइ, देह ण अप्पा होइ।
देहहिभिण्णउं णाण मऊ, सो तुहुअप्पाजोइ॥

अर्थात्—मूर्ख व्यक्ति ही देहमें अनुरक्त होते हैं यह देह कदापि आत्मा नहीं हो सकता। देहसे भिन्न ज्ञानमय आत्मा है उसीमें अनुराग कर। इस प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्वका प्रतिपादन मुनि रामसिंहने किया है।

ग्यारहवीं शताब्दीमें अध्यात्म-प्रधान इस जैन साहित्यकी परम्पराका प्रतिनिधित्व महाकवि पुष्पदन्त करते हैं। यह स्पष्ट हो हो चुका है। आपकी कृतियाँ पौराणिक महापुरुषोंके जीवन वृत्तोंके साथ आपके प्रौढ़ प्रतिभाभिराम एवं अध्यात्म ललाम व्यक्तित्वको स्पष्ट करती हैं। विषयकी पावनता—शालीनता एवं गम्भीरता कलाका अभिनव सौन्दर्य लिये हुए अत्यन्त मोहक प्रतीत होती है।

बारहवीं शतीमें हेमचन्द्र सूरि, हरिभद्रसूरि, शालिभद्रसूरि आदि अनेक आत्मचेता कवि हुए जिन्होंने अपने पूर्वाचार्यों-द्वारा रचित साहित्यकी पर्याप्त स्वास्थ्य-वृद्धि की एवं उसे अपनी मौलिक वर्णन शक्ति तथा उद्भावनाओं-द्वारा अत्यन्त लोकप्रिय बनाया।

तेरहवीं एवं चौदहवीं शतियोंमें रासा ग्रन्थों एवं कथा-प्रधान चउपई काव्य ग्रन्थोंके निर्माणकी एक स्वस्थ परम्परा रही। महापुरुषोंके लोक-रंजनकारी एवं आत्मशक्तिके प्रबल प्रेरक समर्थक चरित इस युगमें पर्याप्त मात्रामें आये। सामान्यतया सम्पूर्ण जैन साहित्यमें अहिंसाका युक्ति-युक्त

---

१. विद्या, अनुभव तथा वंशादिके विशेष परिचय हेतु देखिए—पं० नाथूराम प्रेमी कृत 'जैन साहित्य और इतिहास', पृ० ३७०–३६५।

एवं अन्तस्की निर्मलताका उद्बोधक वर्णन मिलता है परन्तु इन शताब्दियोंमें यह बात साहित्यका मूल धरातल बनकर चली है। मध्ययुगमें भारत-भरमें क्रियाकाण्ड, पशुबलि एवं निराधार तथा अवैज्ञानिक रूढ़ियाँ घर कर चुकी थीं। स्थान-स्थानपर खण्डन-मण्डनोंका आयोजन होता था। ये खण्डन-मण्डन विचार-विनिमय-सामंजस्यके लिए न होकर एक-दूसरे वर्गको उखाड़ पछाड़के लिए ही किये जा रहे थे। इसी युगमें अति आचार (अन्तःसारशून्य) अत्याचार बना था। [1]"विषयकी दृष्टिसे इस शतीके काव्योंमें हिंसापर अहिंसाकी और दानवतापर मानवताकी विजय दिखलानेके लिए पौराणिक चरितोंके रंग भरकर महापुरुषोंके चरित वर्णित किये गये हैं। कलाकारोंने काव्य कलाको रस, अलंकारों और सुन्दर लयपूर्ण छन्द तथा कवित्तों-द्वारा अलंकृत किया है।" कवि लक्खण तथा कविवर विबुध श्रीधर क्रमशः १३वीं एवं १४वीं शतियोंके प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं। चौदहवीं शतीमें विशेष रूपसे आचार-परम्पराके साहित्यका ही सृजन हुआ। इस आचारका लक्ष्य मात्र देह कष्ट न होकर आत्मशोधन था, जैसा कि श्रीमद्भागवत गीतामें भी कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

अर्थात् निराहार देही (आत्मा) के विषय दूर हो जाते हैं। धीरे-धीरे विषयकी आसक्ति भी छूट जाती है। आसक्तिके हट जानेपर शुद्धात्मा निर्विकार हो जाता है।

१५वीं शतीमें जैन साहित्यकारोंने अध्यात्म एवं आचारकी स्वस्थ परम्पराको अपने काव्यों-द्वारा अक्षुण्ण ही रखा। इस शतीमें भट्टारक सकल कीर्ति तथा विजय भद्रादि कवि हुए। अपभ्रंश भाषामें रचना करनेवाले महाकवि रइधू इस शताब्दीके निर्विवाद रूपेण प्रमुख कवि हैं। ग्रन्थोंकी दृष्टिसे, रचना-चातुर्यके कारण तथा विषय चयनकी अनोखी दृष्टिके कारण कविवर रइधू अग्रगण्य हैं।

[2]"१६वीं शताब्दीमें ब्रह्म जिनदास युगप्रवर्तक ही नहीं युगान्तरकारी कवि हुए हैं। इन्होंने आदि पुराण, श्रेणिक चरित, सम्यक्त्व रास, यशोधर रास आदि ग्रन्थ रचे।" ललितांगचरित, सारसिखावन रास आदि सुन्दर

---

१. नेमिचन्द्र शास्त्री : 'हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन' भाग २, पृ० २०९।
२. वही, पृ० २१०।

ग्रन्थ इसी शतीमें रचे गये। जैन कवियोंने अपने पूर्ववर्ती कवियोंकी भाँति इस समय भी समाज और देशके सम्मुख अपनी स्वस्थ-साहित्य-परम्पराका क्रम प्रवहमान रखा। ये कवि नवीन युगकी चेतना भी साथ-ही-साथ ग्रहण कर सके।

१७वीं शतीमें जैन साहित्य-गगनमें ऐसे कवि-नक्षत्रोंका उदय हुआ जिन्होंने अपनी भास्वर प्रतिमा, ज्ञान गरिमा एवं अनुराग-विरागात्मक संसारके अनुभवों-द्वारा इस साहित्यको अक्षय निधिसे परिपूर्ण कर दिया। अपने समकालीन महाकवि तुलसीदास, केशवदास एवं भक्तप्रवर सुन्दर-दासके समान इन कवियोंने भी अपनी साहित्य सर्जना-द्वारा एक नवीन सृष्टि उत्पन्न कर दी। गद्य एवं पद्य दोनों ही दिशाओंमें इस शतीमें पर्याप्त कार्य हुआ। कविवर बनारसीदास, रूपचन्द्रजी एवं श्री जिनमय सुन्दर-जैसे कविरत्नोंने इस समय अत्यन्त ठोस साहित्य-द्वारा, जर्जरित एवं आत्मानुभूतिसे स्खलित मानव समाजका वास्तविक दिशा निर्देशन किया था। इस समय तक खण्डन-मण्डन एवं शास्त्रार्थोंकी कटु प्रथासे जनता अरुचिके साथ-साथ घृणा भी करने लग गयी थी। अब उसे धर्मका आडम्बर युक्त रूप अत्यन्त खोखला प्रतीत होने लगा था। आत्मा अब अपने उद्धारका सरल, युक्तिसंगत एवं निर्विवाद मार्ग पानेके लिए छटपटा रही थी। इस शताब्दीके अध्यात्म सन्तोंने अपना सम्पूर्ण जीवन मानव-कल्याणकी इसी मौलिक समस्याके सुलझानेमें लगा दिया। सच्चे आत्म-स्वरूपकी ऐसी पावन स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई कि सम्पूर्ण उत्तर भारत अपने पुरातन एवं बोझिल निर्मोकको शत खण्ड कर इसीमें निमज्जित होने लगा। कविवर बनारसीदासने भटके हुए मानवकी प्रवृत्तियोंकी कितनी मार्मिक चुटकी ली है —

"धर्म तरु भंजन को महा मत्त कुंजर से,
आपदा भंडार के भरन को करोरी हैं।
सत्यशील रोकवे को प्रौढ़ परदार जैसे,
दुर्गति के मारग चलायवे को धोरी हैं॥
कुमति के अधिकारी कुनै पंथ के बिहारी,
भद्र भाव ईंधन जरायवे को होरी हैं।
मृषा के सहाई उरभावना के भाई ऐसे,
विषयाभिलाषी जीव अघ के अघोरी हैं।"

कथन चातुर्य अथवा भाव प्रकाशनको व्यंग्यात्मक एवं सरल व्याख्यात्मक शैलियोंपर कविवरका पूर्ण अधिकार है। व्यंग्य बाण यदि पैना हो तो मर्मपर चोट किये बिना नहीं रहता। जब सैकड़ों उपदेश काम नहीं करते तब एक हलका सा व्यंग्य कार्यका हो जाता है। उल्लिखित पद्यमें हम यही बात पाते हैं।

कवि श्रीकी सरल भावाभिव्यक्ति भी कितनी मोहक है। आत्म-बोधकी अनोखी पद्धति भक्त पाठकको वशंवद बना ही देती है—

> चेतन उलटी चाल चले।
> जड़ संगत सों जड़ता व्यापी, निज गुन सकल टले,
> हित सों विरचि ठगनि सों राचे, मोह पिसाच छले,
> हंस हंस फंद संवारि आप ही, मेलत आप गले,
> आयें निकसि निगोद सिन्धु तें, फिर तिह पंथ टले।
> कैसे रिगट होय आग जो, दबी पहार तले।
> भूले भवभ्रम बीचि बनारसि, तुम सुरज्ञान भले,
> धर शुभ ध्यान ज्ञान नौका चढ़ि, बैठे ते निकले ॥चेतन०॥

अध्यात्मका उपदेश इतनी प्रबलता एवं मार्मिकताके साथ, जिसका जनता भी सरलतासे रसास्वादन कर सके, इससे पूर्व नहीं हो सका।

बनारसीदासजी इस शतीके ही नहीं वरन् सम्पूर्ण हिन्दी जैन साहित्यके शिरोमणि कवि है। समस्त विद्वानोंने भी आपकी काव्य-प्रतिभा एवं ज्ञान गरिमाकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है। जो स्थान वैष्णव धर्मकी सरल एवं पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यामें, मानवको एक निश्चित सन्मार्ग दिखानेमें तथा सगुण भक्तिकी पुन: स्थापना करनेमें महाकवि तुलसीदासका हो सकता है ठीक वही स्थान कविवर बनारसीदासजीका हिन्दी जैन साहित्यमें है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके कारण तथा दुर्भाग्यपूर्ण राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियोंके कारण जैन सम्प्रदायमें बनारसीदासजीके समय तक शिथिलाचारकी पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी। आहार-विहारमें, धार्मिक क्रियाओंमें तथा वस्त्रादिकमें कोई क्रम, नियम-संयम न रह गया था। साधुजन अपनी प्रत्येक शिथिलताको, 'आपद्धर्म' कहकर अथवा स्वयंको सुधारवादी कहकर, ढकते चले जा रहे थे। धार्मिक दृढ़ता (कट्टरता नहीं) का प्राय: अभाव होता जा रहा था। यवन शासनने जैनत्वकी दृढ़ताको समाप्त करनेमें कोई कसर न उठा रखी। ११वीं शताब्दीके बादसे कविवर

बनारसीदासजीके समय तक दिगम्बर मुनि संघोंका प्रायः अभाव-सा हो गया था। साधारणतया जनतामें यह विश्वास हो चला था कि जैन साधुओंका इतना ऊँचा आदर्श पुराणोंकी ही शोभा हो सकता है, व्यवहारमें सम्भव नहीं। कविवर बनारसीदासजीने ठोस चर्चा-द्वारा जनतामें फिर वे भाव भरे जिनसे छोटे-मोटे मुनि संघोंकी पुनः सृष्टि होने लगी।

बनारसी दासजीने जहाँ धार्मिक दृढ़ताका समर्थन किया वहाँ दूसरी ओर उसमें प्रविष्ट बाह्याडम्बरों एवं क्रियाकाण्डोंका—जिनसे धर्मका आत्मा लुप्तप्राय एवं बोझिल-सा हो चला था, डटकर विरोध किया। धर्मका मूल स्वर है आत्मानुभूति जिसके अभावमें मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। आचार्य कुन्द-कुन्द कृत 'समयसार' की हिन्दी पद्यमय सर्वजनीन व्याख्या कविवर बनारसीदासने इसी उद्देश्यसे की थी। इस ग्रन्थरत्नमें आत्म-स्वरूपका अत्यन्त स्पष्ट, सुलझा हुआ एवं हृदयस्पर्शी वर्णन है। आत्म-चिन्तन एवं आत्म-जागृतिके मधुर स्वरोंसे ही कविकी साहित्य-वीणा आद्यन्त मुखरित हुई है।

१७वीं शतीमें हम साहित्यकी झुकान हिन्दीकी ओर अधिक मात्रामें देखते हैं। अब कवि एक लम्बी सीमा तक अपभ्रंशका पल्ला छोड़ चुके थे, परन्तु अपभ्रंश अभी सर्वथा पृथक् नहीं हुई थी। बाबू कामताप्रसादजी लिखते हैं—[1] "सत्रहवीं शताब्दीमें तो उच्च कोटिकी हिन्दी रचनाएँ रची जाने लगी थीं, किन्तु उस समय तक पुरानी अपभ्रंश भाषा मिश्रित हिन्दी-में रचना करनेका मोह जनतासे उठा नहीं था। इस समयसे १९वीं शताब्दी तक ऐसी मिश्रित भाषाकी रचनाएँ मिलती हैं।"

अठारहवीं शतीमें भैया भगवतीदास एवं कविवर द्यानतरायने इस परम्पराका प्रतिनिधित्व किया है। इस समय अध्यात्मप्रधान पद एवं बड़े-बड़े पुराणोंके अनुवाद देश-भाषामें बहुत बड़ी मात्रामें हुए हैं। पं० दौलत-रामने गद्यानुवादों एवं विस्तृत व्याख्याओं-द्वारा साहित्य-जगत्में एक नयी दिशाका निर्देशन किया। इससे भाषाका सौन्दर्य निखरा तथा प्राचीन कवियोंके ग्रन्थ रत्नोंका उचित मूल्यांकन हो सका। आगे चलकर १९वीं शतीमें यही गद्यानुवादका कार्य पं० टोडरमलजीने एवं पं० जयचन्दजीने पर्याप्त मात्रामें किया। ये कवि केवल अनुवादकर्ता ही न थे, सफल कवि भी थे। २०वीं शतीमें अनुवादोंकी परम्परा क्षीण पड़ गयी। कलाकारोंने स्वतन्त्र रचनाएँ कीं।

---

१. कामताप्रसाद : 'हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास', पृ० ३७।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन साहित्य स्रष्टाओंने अपनी अध्यात्म प्रधान समन्वयकी परम्पराका पालन पूर्ण दृढ़ताके साथ किया है। कभी स्वतन्त्र रचनाओं-द्वारा, कभी प्राचीन आचार्यों-द्वारा प्रणीत ग्रन्थोंकी विस्तृत टीकाओं-द्वारा, तो कभी जन-भाषामें किये गये पद्यमय अनुवादोंसे ये साहित्यकार अपनी सेवाएँ देते रहे हैं।

साहित्य-सेवाका स्वरूप

आज तकके जैन साहित्यसे यह स्पष्ट हो जाता है कि देश एवं काल-की परिस्थितियोंके कारण इसकी भाषा एवं शैलीमें समय-समयपर अन्तर अवश्य हुआ है। जो स्वाभाविक भी था। परन्तु विषय-चयनमें जैन साहि-त्यकार सदासे एक रहे हैं, हाँ सामाजिक एवं राजनीतिक दशाओंका चित्रण (धर्ममूलक) यथावसर थोड़ा-बहुत अवश्य हो गया है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। जैन साहित्यकी आधार-शिला धर्म है अतः इस वर्गकी साहित्यिक सेवाओंको समझनेके लिए धर्म-भावनाका भी ध्यान रखना होगा। सम्पूर्ण विश्वके साहित्यके मूलमें निश्चित रूपसे धार्मिक भावना कार्य कर रही है अतः संसार-भरका साहित्य धर्ममूलक है। [1]"मनुष्यने संसारसे अपना जो सम्बन्ध स्थापित किया है, उसके धार्मिक विश्वासोंसे प्रकट होता है। ज्यों-ज्यों उसके धार्मिक विश्वास परिवर्तित होते जाते है, त्यों-त्यों संसारसे उसका सम्बन्ध भी बदलता जाता है। धार्मिक विश्वासमें शिथिलता आनेसे उसका सांसारिक जीवन भी शिथिल हो जाता है। उसकी यह शिथिलता उसके सभी कृत्योंमें दिखलाई देती है। साहित्यमें मनुष्यके धार्मिक परिवर्तनका प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है। यही नहीं, उससे साहित्यका स्वरूप भी बदल जाता है। धर्मसे साहित्यका अच्छेद्य सम्बन्ध है। डॉक्टर बीचर नामके विद्वान्ने एक बार कहा था कि प्रत्येक भाषा और साहित्यका एक धर्म होता है। ईसाई-धर्मावलम्बी युरॅपके सभी सभ्य देशोंकी भाषाका धर्म ईसाई-मतका ही अवलम्बन करता है। वहाँ ईसाई-धर्म ही प्रत्येक देश और जातिका विशेषताको ग्रहण कर साहित्यमें विद्यमान है। बीचर साहबके इस मतका समर्थन कितने ही विद्वानोंने किया है। अब यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त हो गया है कि जिस जातिका जो धर्म है उस जातिकी भाषा, सभ्यता और साहित्य उसी धर्मके अनुकूल होगा। इतना ही नहीं, भाषाके प्रत्येक

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'जीवन और साहित्य', पृ० ६७।

शब्द, रचना शैली, अलंकारके समावेश और रसके विकासमें भी उसी धर्मकी ध्वनि श्रुति-गोचर होगी। साहित्यसे धर्म पृथक् नहीं किया जा सकता। चाहे जिस कालका साहित्य हो, उसमें तत्कालीन धार्मिक अवस्थाका चित्र अंकित होगा।"

जैन साहित्यमें मानव-हित-विधायिनी अध्यात्म-परक अनेक बहुमूल्य चर्चाएँ हैं। महापुरुषोंके वीरता, साहस, धैर्य, क्षमाप्रवणता एवं लोकोपकारितासे ओतप्रोत जीवनवृत्त प्रांजल भाषा एवं प्रसाद गुण युक्त शैलीमें निबद्ध हैं। ये चरित ग्रन्थ आज भी मानव समाजके जीवन सबल हैं—मार्गदर्शक हैं। साहित्य-द्वारा इन साहित्य-सेवियोंने अर्थ-अर्जन अथवा यश-प्राप्तिका लक्ष्य कभी नहीं अपनाया, क्योंकि ऐसा करनेसे फिर साहित्यकार अर्थपतियों, राजाओं एवं सम्राटोंके मनोभावोंको उत्तेजित एवं अनुरंजित करनेमें ही अपनी काव्य-शक्तिका उपयोग किया करता है। भक्तिकालके प्राय: सभी कवि स्वतन्त्र रहे। वे कभी किसी प्रलोभन (आर्थिक अथवा पद-सम्बन्धी) के पीछे नहीं पड़े। यही कारण है कि उनका साहित्य किसी युग-विशेषकी लाचारी अथवा, रसिक वृत्तिका परिणाम न होकर चिरन्तन जीवन-सत्यका निश्छल एवं भावप्रवण उद्घाटन करता है।

यह बड़े गर्वकी बात है कि जैन साहित्यकारोंने कभी भी किसीके आश्रित रहकर अपने आत्म-भावोंका हनन नहीं किया है। विविध कथाओं-द्वारा, काव्यों-द्वारा, पदों-द्वारा गद्यग्रन्थों-द्वारा तथा नाटकों-द्वारा जैन साहित्य स्रष्टा सदासे एक सांस्कृतिक मर्यादा एवं पूर्वाचार्योंके धर्म-न्यासकी रक्षा एवं वृद्धि करते रहे हैं। इन स्रष्टाओंने नवीन युगमे समन्वय न किया हो यह बात नहीं है। अवसर आनेपर सामाजिक कुरीतियों, छुआछूत, साम्प्रदायिकता, धार्मिक कट्टरता तथा प्रशासन-सम्बन्धी अत्याचारोंके विरोधमें बड़े सशक्त एवं प्रभावक कवि-धर्मका परिचय दिया है।

धर्म और चरित्र ही मानव जीवनमें ऐसे सबल सहयोगी हैं जिनके बलपर जीवन-भर हम संकटोंसे भयभीत नहीं होते एवं मानवताकी पराजय कभी भी स्वीकार नहीं करते। व्यक्ति, समाज एवं देशकी ऐक्य-शृंखला धर्म एवं चारित्रपर एक बहुत बड़ी-सी तक निर्भर करती है। [1]"धार्मिक

१. रसाल : 'हिन्दी साहित्यका इतिहास', पृ० १४।

नेताओं एवं आन्दोलनोंसे जनता जितनी अधिक प्रभावित होती है उतनी कदाचित् राजनैतिक एवं अन्य प्रकारके नेताओंसे नहीं होती। यह प्रत्यक्ष ही है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं आदिमें जितनी शीघ्रतासे परिवर्तन होता है, उतनी शीघ्रतासे धार्मिक क्षेत्रमें नहीं। धर्मकी महत्ता और सत्तामें स्थायित्व विशेष रूपसे होता है और इसीलिए उसका प्रभाव भी स्थायी और दृढ़ होता है। हमारे आन्तरिक जीवनसे यदि किसी विषयका घनिष्ठ सम्बन्ध है तो वह पहले धार्मिक विषय है। दूसरे विषयोंका सम्बन्ध हमारे अन्तर्जगत्से बहुत विशेष रूपमें न होकर हमारे बाह्य जगत्से ही प्रधानतया रहता है। यही कारण है कि धर्म हमारे जीवनपर अधिपति-सा होकर स्थिरता और दृढ़ताके साथ शासन करता रहता है।"

"ऐसी[1] अवस्थामें यह अनिवार्य और आवश्यक है कि हमारा साहित्य हमारे धर्मसे विशेष रूपसे प्रभावित हो। वास्तवमें बात भी यही है कि हमारा साहित्य यदि अपने समस्त रूपमें नहीं तो विशेष रूपमें अवश्य ही हमारे धर्मसे प्रगाढ़ सम्बन्ध रखता है। कहना न होगा कि हमारे साहित्यका बहुत बड़ा भाग हमारे धर्मपर अवलम्बित है। धार्मिक सिद्धान्तोंके ही आधारपर एवं धार्मिक आन्दोलनोंके ही कारण हमारे साहित्यके विशिष्ट अंगोंकी उत्पत्ति एवं विकास-वृद्धि हुई है।" धर्म सच्चा वही बताया गया है जिससे इस लोक-परलोककी सिद्धि हो। अर्थात् मनुष्य सदाचारपूर्वक लौकिक समस्याओंको हल करता हुआ सदैव परलोक-परक दृष्टि रखे। धर्मके ये दोनों पक्ष साहित्यमें प्रवेश करते हैं। महापुरुषोंकी लोक-प्रेरक जीवन घटनाएँ एवं अध्यात्मकी सारल्य तथा प्रसाद-गुणसे परिपूर्ण काव्यमय चर्चाएँ क्रमशः उपर्युक्त प्रथम एवं द्वितीय रूपके अन्तर्गत आती हैं।

जैन साहित्यमें धर्म-प्रधान साहित्य प्रमुख है और उसमें भी अध्यात्म-प्रधान साहित्य प्रमुख है। आत्माकी अनन्त शक्तियोंका हृदयहारी वर्णन इस साहित्यमें सर्वत्र प्राप्त होता है। संसारके सभी दर्शनोंने आत्मापर विचार किया है और अपनी-अपनी मान्यताएँ स्थापित की हैं। जैन-दर्शनमें आत्मापर अनेकान्त दृष्टिसे विचार किया गया है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने आत्माकी ये विशेषताएँ बतायी हैं—

---

१. रसाल : 'हिन्दी साहित्यका इतिहास', पृ० १४।

"जीवो[1] उवओो गमओो, अमुत्तिकत्ता सदेह परिमाणो
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससो ढगई।"

अर्थात् यह जीव उपयोगमय है, अमूर्तीक है, स्वदेह प्रमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभावसे ऊर्ध्वगामी है। इन आत्मगुणोंकी चर्चा जैन साहित्यमें पर्याप्त मात्रामें मिलती है। संसारके प्रलोभनों और झंझटों-में उलझी हुई मानवात्माको आचार्योंने विविध प्रकारसे सम्बोधित किया है।

अध्यात्म सन्त कविवर दौलतरामजी किस मार्मिकताके साथ मान-वात्माको सम्बोधित करते हैं–

"रे मन तेरी को कुटेव यह करन विषय में धावै है।
इनही के वश तू अनादि तें निज स्वरूप न लखावै है,
पराधीन छिन छीन समाकुल, दुरगति विपति चखावै है।"

इन्द्रिय-विषयोंका स्वाद कुछ ऐसा होता है कि मनुष्य आस्वादनके समय इनकी दुःखान्तताका ध्यान नहीं रखता। अनेकों बार घने कष्ट उठा चुका है फिर भी सावधान नहीं होता। उक्त पद्यमें गम्भीरता एवं सरलताका कितना चित्ताकर्षक साम्य है, पाठक स्वयं अनुभव कर सकता है।

कविवर भूधरदासजी किस आकर्षक पद्धतिसे मानवको उसकी भूलोंका बोध करते हैं, और संसारके कष्टोंसे मुक्त होनेका एक अचूक मार्ग (भग-वद्भक्ति) बताते हैं।

"भगवन्त भजन क्यों भूला रे!
यह संसार रैन का सपना, तन-धन, वारि बबूला रे।
काल कुदार लिये सिर ठाड़ा, क्या समझै मन फूला रे।"

क्षणिक यौवनके मदमें आकर मनुष्य अपने परम लक्ष्य आत्म-कल्याणसे भटक ही जाता है, वह भूल जाता है कि जल-बुद्बुदसे बढ़कर कुछ भी महत्त्व इस यौवनका नहीं है। धन-बल, ज्ञान-बल, कुल-बल, जाति-बल, शारीरिक-बल तथा यश-बलके अभिमानमें पड़कर मनुष्य कितना पतन कर लेता है। यह स्पष्ट है। अभिमान मनुष्यकी प्रगतिमें एक गहरी पथ-बाधा है—

"गरब नहिं कीजै रे, ए नर निपट गँवार।
झूठी काया, झूठी माया, छाया ज्यों लखि लीजै रे।"

---

१. 'द्रव्यसंग्रह' गाथा २।

अध्यात्म-पारखी पं० बनारसीदासजीने मानव-हितमें बाधक तत्त्वोंका निरूपण अत्यन्त प्रभावक एवं तात्त्विक रूपमें किया है।

"चेतन उल्टी चाल चले
जड़ संगत सौं जड़ता व्यापी, निज गुन सकल टले।
हित सों विरचि ठगनि सों राचे, मोह पिशाच छले।
हंसि हंसि फन्द सँवारि आपही, मेलत आप गले।"

हे आत्मन्! कैसी विचित्र बात है, तुम अपने शत्रुओंको (दुर्व्यसनोंको) अपना मित्र मान रहे हो। स्वयं ही अपनी मृत्युका फन्दा अपने गलेमें डाल रहे हो।

कविवर बुधजनका भी एक पद देखिए। संसारके सब नाते कच्चे धागेके समान हैं। सच्चा साथी एक मात्र धर्माचरण ही है।

"धर्म बिन कोई नहीं अपना
सुख सम्पति धन थिर नहिं जग में जैसे रैन सपना। धर्म०
आगे किया सो पाया भाई, या ही है निरना।
अब जो करेगा सो पावेगा, तातें धर्म करना।"

कविवर द्यानतरायजीने भी बड़े मार्मिक पद रचे हैं। मानव मन विपत्तियोंके आघातोंसे क्षीण होता हुआ शिथिलाचारी होकर स्वयंके वास्तविक स्वरूपको भुला देता है। उसे सुख-दुःखमें समभावका हृदयहारी उपदेश अत्यन्त हृदयहारी पद्धतिसे दिया गया है—

"विपति में धर धीर रे नर विपति में धर धीर।
सम्पदा ज्यों आपदा रे! विनश जै है वीर।
धूप छाया घट बढ़त ज्यों, जात सुख दुख पीर।
दोष द्यानत देय किसको, तोरि करम जंजीर।"

भटका हुआ मन यदि कहींसे ढाढ़स पा जाये तो पुनः जागृत हो सकता है, सांसारिक सुख-दुःख तो जीवनमें धूप-छायाकी भाँति आते ही रहते हैं। इनसे हमें विचलित नहीं होना चाहिए। दुष्कर्मोंकी शृंखला शक्ति और साहसके साथ छिन्न-भिन्न करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

धर्मकी वास्तविकताका उदारतम चित्र देखिए। समदर्शी कविवर घनानन्दके ये दिव्य उद्गार चिरस्मरणीय हैं—

"राम कहो, रनमान कहो कोउ, कान कहो महादेव री।
पारस नाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।"

आत्माकी विशुद्ध अवस्था ही अनेक नामोंसे व्यवहृत होती है। सभी अपनी-अपनी रुचिसे उसके आकार-प्रकार एवं नामादिककी स्थापना करते हैं। इसपर सर्व धर्म समन्वयका उदारतम भाव कार्य कर रहा है।

दशम शताब्दीके प्रसिद्ध सन्त कवि, मुनि रामसिंहजी कोरे क्रिया-काण्डकी (जिसमें शुद्धाचरणका अभाव है) खुलकर भर्त्सना करते हैं। कविवरका 'पाहुड दोहा' अत्यन्त उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इसके उद्धरण इसके पूर्व दिये जा चुके हैं।

स्पष्ट है कि जैन पदोंमें गम्भीरतम आत्म-भावोंकी अनुभूति सुकुमार एवं श्रुतिमधुर शब्दोंके माध्यमसे हुई है। भावदुरूहता अथवा भावहीनता और शब्दोंको तोड़-मरोड़ कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। कविवर बनारसीदास, भूधरदास, दौलतराम, बुधजन एवं आनन्दघन आदिके पद हिन्दी-साहित्यकी अमूल्य एवं स्थायी निधि हैं। इन कवियोंमें महात्मा कबीर, सूर एवं तुलसी-जैसी भाव-व्यंजना सर्वत्र उपलब्ध होती है।

इस प्रकार जैन साहित्यकारोंकी साहित्य सेवाके स्वरूपकी एक झलक हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। सम्पूर्ण साहित्य इसी कोटिके अमूल्य रत्नोंसे परिव्याप्त है। अध्यात्म, शुद्धाचरण एवं महापुरुषोंके पवित्र जीवन वृत्तोंसे सम्बद्ध विषयोंके प्रतिपादनमें ही जैन कवि अपना जीवन अर्पित करते रहे हैं।

द्वितीय अध्याय

कविवर बनारसीदास

का

जीवन-वृत्त

कविवर बनारसीदासजीके पूर्व संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी भाषामें अनेक ग्रन्थ-रत्नोंका हृदयहारी प्रणयन हो चुका था। इन कृतियोंकी अक्षय जीवन-शक्ति आज भी हमारे अध्यात्मकी रीढ़ बनकर हमें जीवनमें अडिग, साहसी एवं स्थितप्रज्ञ होनेका सन्देश दे रही है। इन ग्रन्थ-रत्नोंकी महत्ताके साथ-साथ जब हम इनके रचयिताओंके जीवन-वृत्तके विषयमें उत्सुक होते हैं तो एक गहरी निराशाका ही हमें साम्मुख्य होता है। सभी साहित्यस्रष्टाओंकी तो बात ही क्या है, हमारे प्रमुखतम कवि हाल (प्राकृत), कालिदास (संस्कृत), स्वयम्भू (अपभ्रंश), पुष्पदन्त (अपभ्रंश) एवं कबीर, जायसी, सूर, तुलसी भी आज हमसे वास्तविक रूपसे अपरिचित ही हैं। इनके पवित्र एवं उदात्त जीवनके सम्बन्धमें थोड़ा-बहुत ज्ञान इनकी रचनाओंमें प्राप्त संकेतोंपर-से ही हम कर सके हैं। इन संकेतोंकी विद्वानों द्वारा जो व्याख्या होती है वह भी कम विवादास्पद नहीं होती। उक्त कवियोंके सम्बन्धमें साहित्य संसार अद्यावधि एकमत नहीं हो सका है और न हो ही सकता है, क्योंकि संकेतोंका आश्रय लेकर कल्पना और सूझ ही दौड़ायी जाती है। इन दोनोंपर मनन करते ही पाठक सन्देहमें पड़ जाते हैं। हमारे साहित्यकी समृद्धि अननुमेय होती यदि इन साहित्य-मनीषियोंने अपने जीवनका भी स्वयं उल्लेख किया होता। उनकी महत्ता उन्हें स्वयंके विषयमें कहनेसे रोकती रही और वे भी वास्तवमें इतने उदार थे कि अपने सम्बन्धमें कभी सोच भी न सके। उन्हें क्या पता था कि उनकी सन्तानें उनके जीवनसे अवगत होनेको कितनी लालायित होंगी।

जैन साहित्यकारोंमें भी जीवन-वृत्त लिखनेका प्रायः अभाव ही मिलता

है। अध्यात्मसन्त कविवर बनारसीदासजी इसके अपवाद हैं। आपने अत्यन्त सरल, संक्षिप्त, सत्यात्मक एवं निष्पक्ष रूपसे अपनी पद्यबद्ध आत्मकथा स्वयं लिखी है। सौभाग्यकी बात है हमें आपके सम्बन्धमें अटकलबाजियों एवं खींचतान-भरी उक्तियोंमें नहीं उलझना पड़ता। कविवरके 'अर्धकथानक' के आधारपर उनका ५५ वर्षका जीवन हमारे सम्मुख एक निर्मल दर्पणकी भाँति आज भी विद्यमान है। बनारसीदासजी-के जीवन-वैविध्यको सूचित करके पं० बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं: "कोई तीन सौ वर्ष पहलेकी बात है। एक भावुक हिन्दी कविके मनमें नाना प्रकारके विचार उठ रहे थे। जीवनके अनेक उतार-चढ़ाव वे देख चुके थे। अनेक संकटोंमें-से वे गुजर चुके थे, कई बार बाल-बाल बचे थे, कभी चोरों-डाकुओंके हाथ जान-माल खोनेकी आशंका थी, तो कभी सूलीपर चढ़नेकी नौबत आनेवाली थी, और कई बार भयंकर बीमारियोंसे मरणासन्न हो गये थे। गार्हस्थिक दुर्घटनाओंका शिकार उन्हें कई बार होना पड़ा था। एकके बाद एक उनकी दो पत्नियोंको मृत्यु हो चुकी थी और उनके नौ बच्चोंमें-से एक भी जीवित नहीं रहा था। अपने जीवनमें उन्होंने अनेक रंग देखे थे—तरह-तरहके खेल खेले थे—कभी वे आशिकी-के रंगमें सराबोर थे, तो कभी धार्मिकताकी धुन उनपर सवार थी, और एक बार तो आध्यात्मिक फिटके वशीभूत होकर वर्षोंके परिश्रमसे लिखा गया अपना नवरसका ग्रन्थ गोमती नदीके हवाले कर दिया था। संवत् १६९८ में अपनी तृतीय पत्नीके साथ बैठे हुए यदि उन्हें किसी दिन आत्म-चरितका विचार सूझा हो तो उसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं—

"नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोइ।
ज्यों तरवर पतझार ह्वै, रहें ठूठ से होइ॥"

अपने जीवनके पतझड़के दिनोंमें लिखी हुई इस छोटी-सी पुस्तकसे यह आशा उन्होंने स्वप्नमें भी न की होगी कि वह कई सौ वर्ष तक हिन्दी जगत्में उनके यशःशरीरको जीवित रखनेमें समर्थ होगी।"[1]

समर्थ विचारक एवं अनुभवी लेखक पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदीकी इन पंक्तियोंसे कविवर बनारसीदासका जीवन सूत्ररूपमें हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। हमें अपने चरित-नायकके जीवनकी एक ऐसी प्रेरक झलक मिलती है जो हमारे अस्तव्यस्त एवं हताश प्राणोंमें भी

१. पं० बनारसीदास चतुर्वेदी 'अर्धकथानक' भूमिका, सं० पं० नाथूराम प्रेमी।

आशा और उत्साहका संचार करती है तथा हमें एक दिव्य जीवनकी ओर मोड़ती है। विभिन्न प्रकारके दुस्साध्य कष्टों और विषमताओंकी अमाको चीरते हुए कविने अपना मार्ग प्रशस्त किया। यद्यपि अनेक अवसर ऐसे आये जब कि कविका जीवन अवरुद्ध हो सकता था—उनका मानसिक सन्तुलन नष्ट हो सकता था, परन्तु वे एक असाधारण व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण हुए थे, अतः गार्हस्थिक, आर्थिक, शासन-सम्बन्धी एवं शारीरिक, मानसिक उतार-चढ़ाव उन्हें थकित न कर सके।

अब हम विस्तारसे कविप्रवरके जीवनका अध्ययन करेंगे :

वंश-परिचय

मध्य भारतमें रोहतकपुरके पास बिहोली नामका एक ग्राम है। वहाँ राजवंशके राजपूतोंकी बस्ती है। एक समय इसी बीहोली नामक ग्राममें एक जैन मुनिका शुभागमन हुआ। मुनिराजके पावन चरित्र, सरल स्वभाव एवं पाण्डित्यपूर्ण उपदेशसे प्रभावित होकर वहाँकी समस्त राजपूत जनताने अपने परपीड़क एवं अनुचित आचरणका त्याग कर दिया तथा तत्काल जैन धर्ममें दीक्षा ले ली। पंच नमस्कार मन्त्रकी माला धारण की और श्रीमाल कुलकी स्थापना करके गाँवके आधारपर अपना गोत्र 'बीहोलिया' निश्चित किया।

"याही भरत सुखेत में, मध्य देस सुभ ठाँव।
बसै नगर रोहतगपुर, निकट बिहोली गाँव ॥८॥
गाँव बिहोली में बसै, राज बंस रजपूत।
ते गुरु मुख जैनी भये, त्यागि करम अघभूत ॥९॥
पहिरी माला मन्त्र की, पायौ कुल श्रीमाल।
थाप्यो गोत बिहोलिया, बीहोली रखपाल ॥१०॥"

इस[1] प्रसिद्ध बीहोलिया कुलकी विशाल परम्परामें अनेक धर्मात्मा, कुशल व्यापारी एवं विद्वान् पुरुष हुए। बहुत समयके पश्चात् इसी परम्परामें गंगधर और गोसल नामके दो भद्र पुरुष हुए। फिर गंगधरके वस्तुपाल, वस्तुपालके जेठमल, जेठमलके जिनदास और जिनदासके मूलदास उत्पन्न हुए। ये मूलदास ही कविवर बनारसीदासजीके पितामह थे। हिन्दी और फ़ारसीके ये अच्छे विद्वान् थे। मालवाके नरवर नगरमें वहाँ मुसलमान नवाबके मोदी होनेका भी इन्हें अवसर मिला था। यह पद इन्हें अपनी

१. 'अर्धकथानक' ११-१८।

विद्वत्ता और सचाईके कारण ही मिला था। कविके प्रपितामह जिन-दासका तो प्रसिद्धिसूचक साका भी चलता था। मातामह मदनसिंह चिना-लिया तो जौनपुरके विख्यात जौहरी थे ही। कुछ समय पश्चात् मूलदास-जीके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम खड़गसेन रखा। दो वर्षके अनन्तर एक पुत्र और हुआ जिसका नाम घनमल रखा। दुर्भाग्यवश यह पुत्र तीन वर्षकी अल्पायुमें ही चल बसा।

"घनमल घन दल उड़ि गये, काल पवन संयोग।
मातपिता तरुवरतये, लहि आतम सुत सोग॥"

घनमलके आकस्मिक निधनसे मूलदासजीको इतना शोक हुआ कि वे भी दिवंगत हो गये। मूलदासकी मृत्युका समाचार सुनते ही मुग़ल-हाकिमने आकर सब जायदाद ज़ब्त कर ली। विधवा पत्नी अपनी असहाय अवस्था-पर अत्यन्त दुःखी हुई और पुत्र खड़गसेनको लेकर मार्गके अनेक कष्ट सहती हुई अपने पिताके घर आ गयी—

"मदन जौहरी कौ सदन, ढूँढ़त बूझत लोग।
खरगसेन-माता सहित, आये करम संजोग॥"

मदनसिंह चिनालियाने अपनी पुत्रीके प्रति गहरी आत्मीयता दिखायी। उसके पुत्र और पुत्रीकी मृत्युकी तथा सम्पत्तिहरणकी वेदना सुनकर उसे अपार ढाढ़स बँधाया और कहा:

"कहै मदन पुत्री सौं रोइ, एक पुत्र सौं सब कछु होइ।
पुत्री सोच न कर मन माँहि, सुख-दुख दोऊ फिरती छाँहि॥"

बालक खड़गसेन अपने नानाके घर सुखपूर्वक रहते हुए धीरे-धीरे बढ़ने लगा। व्युत्पन्नमति होनेके कारण थोड़े ही समयमें पत्र-लेखनमें निपुण हो गये एवं सोना-चाँदी तथा जवाहिरातका व्यापार भी सीख लिया। कुछ समयके पश्चात् बंगालके 'गौड़' नामक स्थानमें पोतदार नियुक्त हुए। थोड़े दिनों पीछे ये जौनपुर फिर आ गये। संवत् १६२६ में व्यापारके लिए आगरे गये। लगभग चार वर्ष बड़ी कुशलतासे व्यापार किया, फलस्वरूप पर्याप्त धन लाभ हुआ। अगले वर्ष कुटुम्बजनोंके प्रयत्नसे मेरठ-के सूरदासजी श्रीमालकी पुत्रीसे इनका विवाह भी सम्पन्न हो गया। संवत् १६३३ तक आगरामें ही व्यापार करते रहे, फिर पर्याप्त धन-संचय कर जौनपुर आये। जौनपुरमें रामदासजी अग्रवालके साथ साझेमें जवाहिरात-का व्यापार किया। संवत् १६३५ में खड़गसेनके प्रथम पुत्र उत्पन्न

हुआ। प्रसन्नताके कारण धूमधामसे पुत्र-जन्मोत्सव किया, परन्तु दश दिनमें ही उसका देहान्त हो गया। एक टीस छोड़कर पुत्र विदा हो गया।

"खरगसेन घर सुत अवतर्यौ, खरचौ दर्ब हर्ष मन धर्यौ।
दिन दस में पहुँचौ परलोक, कीनौं प्रथम पुत्र कौ शोक॥"

संवत् १६३७ में खड़गसेन पुत्र-लाभकी अभिलाषा लेकर रोहतकपुरकी सतीकी यात्रा करने गये। दुर्भाग्यवश मार्गमें चोरों-द्वारा 'सर्बस गयौ रह्यौ कछु नाहिं' यह दशा हो गयी। अत्यन्त दुःखी होते हुए घर लौटे—

"रहे बस्त्र अरु दम्पति देह, ज्यौं त्यौं करि आये निज गेह।"

बनारसीदासजी इसी सम्बन्धमें लिखते हैं—

"गये हुते माँगन कौं पूत, यहु फल दीनौं सती अऊत।
तऊ न समझै मिथ्या बात, फिरि मानी उनही की जात॥
प्रगट रूप देखें सब लोग, तऊ न समझें मूरख लोग।"

मनुष्यके परिणाम कितने विचित्र होते हैं। दुःख एवं निराशाजनक विपाक देख लेनेपर भी इसका लोभी मन नहीं मानता।

संवत् १६४३ में पुनः पुत्रकामनासे खड़गसेनजीने सतीकी यात्रा की और कुशलपूर्वक लौट आये। इस बार इनकी इच्छा पूर्ण भी हो गयी। अब आठ वर्षके पश्चात् इनके घर पुत्ररत्नने जन्म लिया। अपार उत्सव किया। यह पुत्ररत्न हमारे चरितनायक बनारसीदासजी ही हैं। आपकी जन्म-तिथि और जन्म-नाम निम्न पद्यसे स्पष्ट हो जाते हैं:

"संवत् सोलह सौ तेताल, माघ मास सित पक्ष रसाल।
एकादशी बार रविनन्द, नखत रोहिणी वृषको चन्द॥
रोहिनि तृतिय चरन अनुसार, खरगसेन घर सुत अवतार।
दीनौं नाम विक्रमाजीत, गाँवहि कामिनि मंगल गीत।"

अर्थात् कविवर बनारसीदासजीका जन्म संवत् १६४३, माघ शुक्ला ११, रविवार, तृतीय चरण रोहिणी तथा वृषके चन्द्रमामें हुआ। नामकरण-समारोहमें सधवा कामिनियोंके गीतादिक हुए। उसी समय बालकका नाम विक्रमाजीत रख दिया गया।

बनारसीदास नाम कैसे पड़ा

जब बालक छह-सात महीनेका हुआ, खड़गसेनजी सकुटुम्ब श्री पार्श्वनाथजीकी यात्रा करने काशी गये। बड़े भक्तिभावसे पूजन किया और बालकको भगवच्चरणोंमें रख दिया—उसके दीर्घायु होनेकी प्रार्थना की—

"चिरजीवि कीजै यह बाल, तुम्ह सरनागत के रखपाल ।
इस बालक पर कीजै दया, अब यहु दास तुम्हारा भया ॥"

इस विनीत प्रार्थनाके समय मन्दिरका पुजारी भी खड़ा था। थोड़ी देर बनावटी ध्यान लगाकर बोल उठा—[1]भगवान् पार्श्वनाथके यक्षने मुझे संकेत किया है कि यह बालक दीर्घायु होगा। इसके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। और बालकका नाम—

"जो प्रभु पार्श्व जन्म को गांव, सो दीजै बालक को नांव।
तो बालक चिरजीवी होय, यह कहि लोप भयो सुर सोय॥"

मायावी पुजारीकी इस मायात्मक बातको खड्गसेनजीने सत्य समझकर प्रसन्न भावसे पुत्रका नाम 'बनारसीदास' रख दिया।

समस्त कुटुम्बी जनोंका अगाध स्नेह बालकको प्राप्त होने लगा। इकलौते पुत्रपर एक सम्पन्न कुटुम्बमें लाड़-प्यार और लालन-पालनमें कमी भी क्या हो सकती है! धीरे-धीरे द्वितीयाके चन्द्रकी भाँति बालक बढ़ने लगा।[2] पूर्व अशुभ कर्मोदयके कारण संवत् १६४८ में अर्थात् ५ वर्षकी अवस्थामें बनारसीदासजीको भयंकर संग्रहणीने घेर लिया। घर-भरपर दुःखके बादल छा गये। एक वर्षकी भारी वेदना सहकर इससे मुक्ति मिली। एक वर्षके पश्चात् शीतलाका प्रकोप हुआ। कठिन उपचारके पश्चात् यह कष्ट भी दूर हुआ। बालकका यह डेढ़-दो वर्षका समय बड़े कष्टोंमें व्यतीत हुआ। संवत् १६५० मे बालक ठीक हो सका।

शिक्षा

अपने शैशवमें उक्त दोनों भयंकर बीमारियोंसे जर्जर हुए बनारसी-दासजीने धीरे-धीरे एक वर्षमें पुनः अपना स्वास्थ्य सँभाला और विद्याध्ययनके लिए गुरुचरणोंका आश्रय लिया। पाण्डेजीने बड़ी तत्परतासे पढ़ाया। बनारसीदासजी भी व्युत्पन्नमति थे अतः अल्प समयमें पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। आठ वर्षके बालककी प्रखर बुद्धिसे गुरु भी परम प्रसन्न थे।

"आठ बरस कौ हूऔ बाल, विद्या पठन गयौ चटसाल।
गुर पांडे सौं विद्या सिखै, अक्खर बांचे लेख लिखै॥

१. 'अर्धकथा' ८९–९१।
२. वही, ९५–९७।

बरस एक कौं विद्या पढ़ी, दिन दिन अधिक-अधिक मति बढ़ी।
विद्या पढ़ी हुऔ वितपन्न, संवत् सोलह सै बावन्न ॥"

इस एक वर्षके विद्याध्ययनसे बालकने पत्रलेखन-वाचन आदिकी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

इसके पश्चात् ४-५ वर्ष तक बनारसीदासजीको विद्याध्ययनसे वंचित रहना पड़ा। बाल्यावस्थामें ही (९ वर्षकी अवस्थामें) सगाई हो गयी और २ वर्ष बाद संवत् १६५४ में विवाह भी हो गया। विवाहित व्यक्ति-पर घरेलू कार्यभार भी धीरे-धीरे आने ही लगता है। अध्ययन आदिका सुयोग फिर कठिनाईसे ही प्राप्त हो पाता है। फिर भी बनारसीदासजीने अपनी विद्या-प्राप्तिका योग, विलम्बसे ही सही, जुटा ही लिया। जब ये लगभग चौदह वर्षके हुए तो पं० देवीदासजीसे पढ़नेका आपको सौभाग्य प्राप्त हुआ। पं० जीसे अनेकार्थ-नाममाला, ज्योतिषशास्त्र, अलंकार तथा कोकशास्त्र आदिका अध्ययन किया।

"पढ़ी नाममाला शत दोय, और अनेकारथ अवलोय।
ज्योतिष अलंकार लघुकोक, खंड स्फुट शत चार श्लोक ॥"

उक्त ग्रन्थोंसे हमारे चरितनायककी विभिन्न प्रकारकी रुचिका एक हलका-सा संकेत मिलता है।

आगे चलकर कुछ समय पश्चात् अध्यात्मके प्रखर पण्डित मुनि भानुचन्द्रजीसे भी बनारसीदासजीने विविध शास्त्रोंका अध्ययन किया। पंचसन्धि, कोष, छन्द, जैनधर्मका स्तवन तथा सामायिक पाठ आदिका अच्छा अभ्यास किया। बनारसीदासजीकी उक्त शिक्षासे यह तो स्पष्ट है कि वे बहुत उच्च कोटिकी शिक्षा तो नहीं पा सके थे। परन्तु यह निश्चित है कि बनारसीविलास एवं समयसार आदिकी रचना बिना असाधारण बुद्धि, अनुभव, पाण्डित्य एवं प्रौढ़ प्रतिभाके कदापि सम्भव नहीं हो सकती। वास्तवमें स्वाभाविक काव्य-प्रतिभा, सत्संग, देशाटन एवं स्वाध्यायने उनकी अनुभूति और अभिव्यक्तिको अलौकिक प्राबल्य प्रदान किया। इससे उनका शिक्षासम्बन्धी अभाव तो पूरा हुआ ही, वे अपने समयके चोटीके विद्वानोंमें गिने जाने लगे। कविवर-द्वारा रचित उत्तम ग्रन्थ उनकी दिव्य प्रतिभा, विद्वत्ता एवं सुलझे हुए व्यक्तित्वकी अमिट छाप लिये हुए आज भी उनके यश:शरीरको प्रकाशस्तम्भकी भाँति देदीप्यमान किये हुए हैं।

युवावस्थामें प्रवेश [गार्हस्थ्य जीवन, अनंग-रंग, कुष्ठ रोग, परिणाम-स्वरूप सन्तान-क्षय इत्यादि]

कविवर बनारसीदासजीके समयसे बहुत पहलेसे ही हमारे देशमें मुसलमानोंका शासन चला आ रहा था। ये लोग विविध प्रकारके अमानवीय एवं अनैतिकतापूर्ण अत्याचार आये दिन करते रहते थे। इन्हीं अत्याचारोंके भयसे बाल्यकालमें ही जनता अपने बेटे-बेटियोंके विवाह कर लेती थी। बनारसीदासजीका भी विवाह संवत् १६५४ में १० वर्षकी अवस्थामें खैराबादके कल्याणमलजी ताँबोकी बेटीके साथ सम्पन्न हो गया। बड़ी धूमधामके साथ खड्गसेनजी अपनी पुत्रवधूको बिदा कराकर घर लाये। जिस दिन पुत्रवधू घर आयी थी, उसी दिन खड्गसेनजीके एक पुत्रीका जन्म हुआ। उसी दिन एक आकस्मिक दुःखद घटना भी घटी—कविकी नानीकी मृत्यु हो गयी। इस सुख एवं दुःखमय संसारकी दशाका चित्रण कविने बड़े मार्मिक ढंगसे किया है :—

"नानी मरन सुता जनम, पुत्र बधू आगौन।
तीनों कारज एक दिन, भये एक ही भौन॥
यह संसार विडम्बना, देख प्रगट दुख खेद।
चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ़ न जानहिं भेद॥"

विवाहके पश्चात् इनका पढ़ना तो प्रायः समाप्त हो गया था। अब ये व्यापारकी ओर लगना चाहते थे। उसी समय जौनपुरमें वहाँके नवाब कुलीचने समस्त जौहरियोंको बुलवाया और कोई बहुत बड़ा नग (मणि-रत्नादिक) उनसे माँगा, परन्तु जब जौहरियोंने लाचारी दिखायी तो बड़ी निर्दयतापूर्ण कोड़ोंकी मार लगवायी और छोड़ दिया। सभी जौहरी नवाबके इस व्यवहारसे दुःखी एवं भयभीत होकर जौनपुर छोड़कर अन्य नगरोंमें चले गये। खड्गसेनजी शाहजादपुरमें जा बसे। लगभग १० महीने वहाँ रहकर कुटुम्बको वहीं छोड़कर इलाहाबाद चले गये। यहाँ बनारसीदास अपनी दादीके पास सुखसे रहने लगे। ये कौड़ियाँ खरीदने और बेचनेका छोटा-सा कार्य करने लगे। जो दो-चार पैसे बचा पाते वे अपनी दादीके सामने रख देते थे। दादी अपने पौत्रकी इस कमाईसे अत्यन्त प्रसन्न होती और भविष्यमें उसके कुशल व्यापारी होनेकी आशासे फूली न समाती। बच्चेकी कमाईके पैसोंको सीरनी और नुकती लाकर सतीके नामसे वितरित कर देती थी।

"दादी बाँटे सीरनी, काहू निकुली निस ।
प्रथम कमाई पुत्र की, सती अऊल निमित्त ॥१३६॥"

इसी क्रमसे बनारसीका समय व्यतीत हो रहा था कि पिताकी आज्ञानुसार कुछ दिन फतहपुर और फिर कुछ समय तक इलाहाबाद रहकर जौनपुरकी कुशलताका समाचार पाते ही सकुटुम्ब वहाँ लौट आये । अब ये जौनपुरमें सकुशल रहने लगे ।

इस समय तक बनारसीदासजी १४ वर्षके हो चुके थे । बाल्यावस्थाकी समाप्ति और कुमारावस्थाका प्रारम्भ था । घरमें सब प्रकारकी सम्पन्नता थी । माता-पिताका अपार प्रेम था । इकलौते पुत्र होनेके कारण कविकी उद्दाम प्रवृत्तियोंको भी माता-पिता लाड़-प्यारसे समझा-बुझाकर सह लेते थे । परन्तु युवावस्था जैसी कि मदान्धताके लिए प्रसिद्ध है हमारे चरितनायक-पर भी इसका प्रभाव अपनी पूर्णताके साथ आया । कुलकी प्रतिष्ठा, धन-सम्पत्ति और आत्मसम्मान आदि सभी कामुकताकी चपेटमें छार-छार हो जाते हैं । शास्त्रज्ञान, माता-पिता और गुरुओंके उपदेश निरर्थक सिद्ध होते हैं । बनारसीदास इस समय इतने कामान्ध हो गये कि इनकी दिन-चर्यामें नाममात्रका ही पढ़ना रह गया और भरपूर विषयासक्तिका साम्राज्य छा गया । कवि अपने सम्बन्धमें लिखते हैं—

"तजि कुल-कान लोक की लाज, भयो बनारसि आसिख बाज ।१७०।
करै आसिखी धरत न धीर, दरदबंद ज्यों सेख फकीर ।
इक टक देख ध्यान सो धरै, पिता आपने को धन हरै ॥१७१॥
चोरै चूनी मानिक मनी, आने पान मिठाई घनी ।
भेजै पेसकसी हितपास, आप गरीब कहावै दास ॥१७२॥"

माता-पिताकी दृष्टि बचाकर घरसे मणि, रत्न तथा रुपये चुराकर स्वयं उड़ाना-खाना और अधिकांश प्रेमपात्रोंमें वितरित करनेका एक लम्बा सिलसिला बँध गया था । मुनि भानुचन्द्रजीने भी उन्हें सन्मार्गपर लानेका प्रयत्न किया और इससे कविके परिणाम कुछ समयके लिए कुछ सुधरे भी परन्तु थोड़े समयके पश्चात् फिर वही आशिक़ी इनके गलेका हार बन गयी ।

"कबहूँ आय शब्द उर धरै, कबहूँ आय आसिखी करै ।"

यह चित्तकी अव्यवस्थित दशा एक लम्बे समय तक चली । कवि अनंगरंगमें इतने निमग्न हो गये कि उन्होंने एक सहस्र मनहर दोहा-

चौपाइयोंसे युक्त एक नवरसपर पद्यमय काव्य ही रच डाला। यद्यपि इसमें सामान्यतया सभी रस थे परन्तु आशिकी अर्थात् सम्भोगप्रधान कविताकी अधिकता थी। बनारसीदासजी विवेकी तो थे ही अतः वे अपनी इस कामुक प्रवृत्तिकी समय-समयपर निन्दा भी करते हैं, छूटना भी चाहते हैं, परन्तु चारित्रमोहनीय कर्म ऐसा प्रबल रहा कि इनकी तीव्र आत्मशक्तिको दीर्घ कालतक प्रकट न होने दिया। वे लिखते हैं:—

"पोथी एक बनाई नई, मित हजार दोहा-चौपई ॥१७८॥
तामैं नवरस रचना लिखी, पै विशेष वरनन आसिखी।
ऐसे कुकवि बनारसि भये, मिथ्या ग्रन्थ बनाये नये ॥१७९॥
कै पढ़ना कै आसिखी, मगन दुहूँ रस माँहि।
खान पान की सुध नहीं, रोजगार किछु नाहिं ॥१८०॥"

कविवर लिखते हैं—

"ऐसी दसा बरस द्वै रही, मात पिता की सीख न गही।
करि आसिखी पाठ सब पढ़े, संवत् सोलह सौ उनसठे ॥१८१॥"

दो वर्ष इसी प्रकारकी भौतिक-प्रेमकी संकीर्ण गलियोंमें कविने व्यतीत कर दिये। इस समय तक इनकी अवस्था १५ वर्ष १० माहकी हो चुकी थी। अत्यन्त साज-सज्जासे अभिमण्डित होकर बनारसीदास अपनी ससुराल खैराबाद पत्नीका द्विरागमन कराने गये। एक माह तक खूब सुखसे रहनेके पश्चात् कविको पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मोंके उदयके कारण भयंकर कुष्टरोग हो गया। रसिक युवकका मनोहर शरीर रोगकी दुर्गन्धसे भर गया, अंग-प्रत्यंगमें अगणित विस्फोटक हो गये। सभी व्यक्ति नाक-भौं सिकोड़कर और किनारा करने लगे। केवल पत्नी और सासने ही सेवा की।

"भयो बनारसि दास तन, कुष्ठ रूप सर वंग।
हाड़ हाड़ उपजी विथा, केस रोम भुव भंग ॥१८५॥
विस्फोटक अगनित भये, हस्त चरन चौरंग।
कोऊ नर साला ससुर, भोजन करहिं न संग ॥१८६॥
ऐसी अशुभ दशा भई, निकट न आवै कोइ।
सासू और विवाहिता, करहिं सेव तिय दोइ ॥१८७॥
जल भोजन की लेहिं सुध, देहि आनि मुख माँहि।
ओखद ल्यावहिं अंग में, नाक मूँदि उठि जाँहि ॥"

कई प्रकारकी औषधियाँ दी गयीं परन्तु बनारसीदासजीकी पीड़ा ठीक

न हुई, वरन् असह्यसे असह्यतर ही होती गयी। भाग्यवशात् इस रोगका एक नाई-चिकित्सक मिल गया जिसने जी-भरके इनकी औषधि और परि-चर्या लगभग छह महीनेकी और कविवरको स्वस्थ कर दिया। दस-पाँच दिनके पश्चात् वैद्य नाईको यथोचित भेंट देकर श्वसुरालयसे अकेले ही घर लौट आये। ससुरालवालोंने पत्नीको साथ नहीं भेजा।

घर लौटकर अपने माता-पिताके सम्मुख बनारसीदासजी खूब रोये, पिताजीने भी इनकी बहुत भर्त्सना की।

कुछ दिनों पश्चात् पुनः पाठशाला जाने लगे और अपनी इश्ककी पुरानी प्रवृत्ति फिर तीव्र रूपसे इन्होंने अपना ली।

"कै पढ़ना कै आसिखी, पकरी पहली चाल।"

चार महीने व्यतीत हो गये। पिताजी व्यापारके लिए पटना पहले ही चले गये थे। खैराबादसे बनारसीदासजी पत्नीको बिदा करा लाये और गृहस्थ बनकर रहने लगे। गुरुजनोंने विविध प्रकारके उत्तम उपदेश दिये। परन्तु इनकी कामान्ध प्रवृत्तिपर एकका भी प्रभाव न पड़ा और इनका जीवन पूर्ववत् ही चलता रहा।

"गुरुजन लोग देहिं उपदेश आसिखबाज सुने दरवेस ॥१९९॥
बहुत पढ़ैं बामन अरु भाट, बनिक पुत्र तौ बैठे हाट।
बहुत पढ़ैं सो माँगे भीख, मानहु पूत बड़े की सीख ॥२००॥
इत्यादिक स्वारथ वचन, कहे सबनि बहु भाँति।
मानै नहीं बनारसी, रह्यौ सहज रस माँति ॥२०१॥"

धीरे-धीरे विषयोन्माद इतना प्रबल हो गया कि पढ़ना, जो अबतक यत्-किंचित् चल रहा था वह भी अब (संवत् १६६०) स्थगित कर दिया। और—

"आसिखबाजी दिन-दिन बढ़ै।
काहू कह्यौ न मानै कोई, जैसी मति तैसी गति होई ॥२०२॥"

वास्तवमें विषयासक्त-चित्त व्यक्तियोंके सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। विद्वत्ता, विवेक और कुलीनता उनसे छूमन्तर हो जाती हैं।

"विषयासक्तचित्तानां गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥"[1]

सौभाग्यसे इसी वर्ष बनारसीदासजीके एक कन्याका जन्म हुआ परन्तु ६-७ दिनमें ही वह चल बसी। साथ ही पिताको भी एक दीर्घकालीन

१. 'क्षत्र चूड़ामणि' श्लोक ७, आ० वादीभसिंह।

ज्वर देती गयी। वैद्यने इन्हें बीस लंघनें करायीं। भूखके मारे कवि अत्यन्त उद्विग्न हो रहे थे परन्तु वैद्यने अभी भोजन निषिद्ध कर रखा था। रात्रिमें घर सूना देखकर आधा सेर पूड़ियाँ उठाकर सहसा खा गये और संयोगकी बात है कि नीरोग भी हो गये—

"–आध सेर की पूरी दोइ।
खाट हेट लै धरी दुराइ, सो बनारसी मखी चुराइ।
वाही पथ सौं नीकौ भयौ, देख्यौ लोगनि कौतुक नयौ ॥२०७॥"

कुछ अन्धविश्वासमय मनोरंजक घटनाएँ

वैसे जनश्रुतियोंपर आधारित अनेक चित्ताकर्षक घटनाएँ कवि-जीवनमें घटीं जिनका उल्लेख यथावसर आगे किया जायेगा, यहाँ उन घटनाओंकी ही चर्चा की जा रही है जिनका बनारसीदासजीने स्वयं उल्लेख किया है।

निश्चित है, विषय-सेवनकी प्रवृत्तिके साथ अपव्यय, फ़ैशनपरस्ती तथा आवारागर्दी स्वयं ही आ जाती हैं और इस सबकी पूर्तिके लिए अधिकाधिक धनकी आवश्यकता होती ही है जिसकी पूर्ति घरवाले समर्थ होनेपर भी नहीं करते। विषयी मनुष्य इतना विषयोन्मुख हो जाता है कि वह धन-प्राप्तिके लिए श्रम नहीं करना चाहता और धनके बिना उसका समस्त कार्यक्रम रुकता है। ऐसी ही स्थितिमें वह दैवी चमत्कारों और अन्धविश्वासोंके मायाजालमें फँसता है। धन-प्राप्तिका लोभ मनुष्यके विवेक और ज्ञानपर यदि वज्रपातका कार्य करे तो आश्चर्य ही क्या—

[1]संवत् १६६१ में एक संन्यासीने बनारसीदासजीको धन-प्राप्तिके लिए एक मन्त्र बताया। संन्यासीने कहा—"मेरे पास एक ऐसा मन्त्र है कि यदि कोई व्यक्ति विधिपूर्वक गुप्त रूपसे एक वर्ष तक विश्वास रखकर एकान्त स्थानमें उसका जाप करे तो वर्ष पूर्ण हो जानेपर उसे प्रतिदिन प्रातःकाल अपने द्वारपर एक स्वर्णमुद्रा एक वर्ष तक पड़ी मिला करेगी। फिर यदि उसी प्रकार मन्त्रका जाप किया जायेगा तो फिर एक वर्ष तक स्वर्णमुद्रा मिला करेगी। अब क्या था बनारसीदासजीने तत्काल—

"यहु सब बात बनारसी सुनी, जान्या महापुरुष है गुनी।
पकरे पाय लोभ के लिए, माँगे मन्त्र बीनती किये॥"

संन्यासीका पाँसा ठीक पड़ा। पर्याप्त धन लेकर मन्त्र लिख दिया। अब बनारसीदासजी बड़ी श्रद्धासे पूरी शक्तिके साथ लगे जप करने। उधर

---

१. 'अर्धकथा' छन्द २०६–२१३।

संन्यासी नौ-दो ग्यारह हो गया। एक वर्ष तक बनारसीदासजी इस मन्त्र-जालमें फँसे रहे। वर्ष पूर्ण होनेपर अगले दिन प्रातः अगाध उत्सुकता लेकर द्वारपर स्वर्णमुद्रा पानेके लिए आये। जब एक फूटी कौड़ी भी न मिली तब बहुत पश्चात्ताप किया और संन्यासीका कपटजाल समझ गये। लोभके कारण दो-एक दिन और द्वार देखा पर परिणाम निराशाजनक ही रहा। दुःखके कारण भोजनादिक भी अरुचिकर लगने लगा। कवि लिखते हैं—

"बरस एक जब पूरा भया, तब बनारसी द्वारे गया।
नीची दिष्टि बिलोके धरा, कहुँ दीनार न पावे परा॥२१६॥
फिर दूजे दिन आयो द्वार, सुपने नहिं दीखें दीनार।
व्याकुल भयो लोभ के काज, चिन्ता बढ़ी न भावै नाज॥२१७॥"

मनकी चिन्ता चिताके समान कविको क्षण-प्रति-क्षण भस्म कर रही थी, तब अपने गुरु भानुचन्द्रजीसे सारी व्यथा कही और जब गुरुने वह सब क्रिया मिथ्या बतायी तब मनकी द्विविधा नष्ट हुई तथा शान्ति मिली—

"कही भान सों मन की दुधा, तिनि जब कही बात यह मुधा।
तब बनारसी जानी सही, चिन्ता गयी क्षुधा लहलही॥"

यह घटना अभी विशेष पुरानी नहीं हुई थी कि एक-दूसरे साधुने बनारसीदासजीपर अपना मायाजाल फैलाया। मुक्ति-प्राप्तिके अमर आनन्द-का सहज द्वार कविके सम्मुख उपस्थित कर दिया। जोगीने शंख तथा कुछ पूजनकी सामग्री देकर कहा कि यह शिवाजीकी मूर्ति है, इसके पूजनसे मुक्ति मिलती है।

"कहै सदाशिव मूरति एह, पूजै सो पावै सिव गेह।"

बनारसीदासजीपर इसका भी पूरा प्रभाव पड़ा और शीघ्र ही बड़ी भावुकताके साथ उस मूर्तिको उठा लिया। जोगीकी बड़ी भक्ति की। बड़े आदरके साथ उन्हें द्रव्यादि भेंट देकर बिदा किया। अब नित्यप्रति शिव-शिवका जाप करने लगे, अष्टद्रव्यसे पूजन करने लगे। आचरण और भोजनादिकमें पूर्ण संयम रहा। यदि किसी दिन शिव-भक्तिमें कोई असाव-धानी या त्रुटि हो जाती हो तो आगामी दिन रूखा भोजन करते थे और भूलपर पछताते थे।

"पूजैं तब भोजन करै, अनपूजै पछिताइ।
तासु दण्ड अगले दिवस, रूखा भोजन खाइ॥२२२॥"

इसी प्रकार बहुत दिन बीत गये। अपनी इस क्रियाको कविने अपने किसी भी कुटुम्बीसे व्यक्त नहीं किया।

संवत् १६६१ का चैत्रमास आया, खड़गसेनजी एक विशाल संघके साथ शिखरजीकी यात्राको चले गये। पिताकी अनुपस्थितिमें बनारसी अत्यन्त निरंकुश हो गये और मातासे बनारस-यात्राके लिए आये दिन हठ करने लगे। माताजीने बनारसीजीकी यह बात टाल दी। इसपर आपने प्रतिज्ञा की कि जबतक बनारसमें भगवान् पार्श्वनाथकी यात्रा नहीं करूँगा तबतक दूध, दही, घी, चावल, चना, तेल, ताम्बूल, पुष्प इन वस्तुओंका प्रयोग नहीं करूँगा।

"दूध दही घृत चावल चने, तेल तम्बोल पहुप अनगिने।
इतनी वस्तु तजी तत्काल, पन लीनों कीनों हठ बाल॥"

इसी प्रकार छह-सात माह व्यतीत हो गये। कातिकी पूर्णिमा आयी सभी शिवमती गंगा स्नानके लिए काशी चले। जैन पार्श्वपूजनके लिए चल पड़े। बनारसीदासजी भी उनके साथ चले गये। पार्श्वनाथजी और शिव-जीकी पूजा बड़े भक्ति-भावसे की।

"अकस्मात् बानारसी, सुनि अकबर को काल।
सीढ़ी परि बैठ्यो हुतौ, भयौ भरम चित चाल॥२४८॥
आइ तबाला, गिरि पर्यौ, सक्यो न आपा राखि।
फूटि भाल लोहू चल्यौ, कह्यौ 'देव' मुख भाखि॥२४२॥
लागी चोट पखान की, भयो गृहांगन लाल।
हाइ हाइ सब करि उठे, मात तात बेहाल॥"

संवत् १६६२ में अकबरकी मृत्युका समाचार पाते ही बनारसीदास-जी घरकी सीढ़ीपर-से बेहोश होकर गिर पड़े। अकबरकी शासन-नीति, धर्म-रक्षा और प्रजा-प्रेम आदि गुणोंपर ये मुग्ध थे। जब कविवरको होश आया तो विचारमें मग्न होकर कह उठे—

"जब मैं गिर्यो पर्यो मुरझाय,
तब शिव कछु नहीं करी सहाय॥"

और उक्त भक्ति-पद्धतिसे भी इन्हें अरुचि हो गयी।

इसी बीचमें कविके एक पुत्र उत्पन्न हुआ और कुछ दिनमें ही नरभव समाप्त कर चला गया।

पत्नियाँ और सन्तानें

बनारसीदासजीकी कुल तीन शादियाँ हुईं और तीनों ही पत्नियोंसे कुल मिलाकर नौ सन्तानें हुईं। दुर्भाग्यवश पत्नियाँ और सन्तानें इनके ही सम्मुख एक-एक करके सब समाप्त हो गये थे। सन्तानें तो एक-दोको छोड़कर सभी अल्पायुमें ही चल बसीं।

कविका प्रथम विवाह, जैसा कि उल्लेख हो चुका है, संवत् १६५४ में अर्थात् १० वर्षकी अवस्थामें खैराबाद-निवासी कल्याणमलजी तांबीकी पुत्रीसे हुआ था। यह पत्नी अत्यन्त साध्वी, पतिपरायणा एवं प्राण-पणसे पतिका साथ देनेवाली थी। व्यापारमें, बीमारीमें, मानसिक चिन्ताके क्षणोंमें अपार साहसके साथ एक सच्ची अर्धांगिनीका कार्य इस पत्नीने किया। यह पत्नी कविके जीवनमें संवत् १६७१ तक अर्थात् १७ वर्षके लगभग रही तत्पश्चात् दिवंगता हो गयी।

द्वितीय विवाह—प्रथम पत्नीकी छोटी बहनसे कविवरका दूसरा ब्याह निश्चित हो गया और संवत् १६७३ में सम्पन्न भी हो गया। संवत् १६७९ में इस पत्नीकी भी एक पुत्रके साथ मृत्यु हो गयी।

तृतीय विवाह—संवत् १६८० में—

"बेगा साहु कूकड़ी गोत, खैराबाद तीसरी पोत।
समय अरिसए ब्याहन गये, आये घर गृहस्थ फिरि भये ॥५९१॥"

इस प्रकार बनारसीदासजीकी तीन शादियाँ हुईं और तीनों ही खैराबादमें हुईं।

अपनी तृतीय पत्नीके साथ बैठे-बैठे उन्हें संसार-दशाकी असारताका स्पष्ट भान हो गया था। रागसे विरागकी ओर मुड़नेका सामान कविके जीवनमें घटनेवाली अनेक मौतोंने और व्यापारादिककी निराशाओंने भी जुटा दिया था।

वे संसारके राग-रंगमें जीवनके एक लम्बे समय तक मस्त रहे और इसी परिणामपर पहुँचे कि यह सब अन्ततोगत्वा निराशा एवं दुःखजनक ही है।

एक सन्तानकी मृत्युका कितना असह्य दुःख होता है इसका अनुमान भुक्तभोगी ही कर सकते हैं, फिर जिसकी नौ सन्तानें काल-कवलित हो चुकी हों उसकी वेदना और कसकका अनुमान मात्र कर यदि हम भी वेदना-भारसे सिहर उठें तो आश्चर्य ही क्या है!

कवि कहते हैं—

> "नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोइ ।
> ज्यों तरवर पतझार ह्वे, रहें ठूठसे होइ ।।"

रागसे विरागकी ओर

एक दिन अपनी रसिक मित्र-मण्डलीके साथ कविवर घूमते-घूमते गोमतीके पुलपर आ बैठे। नवरसका ग्रन्थ साथमें था। मित्रोंके बीच बनारसीदासजी ही रसिकशिरोमणि और नवनवोन्मेषशालिनी-प्रतिभासम्पन्न कवि थे। अतः समवयस्क मित्रोंने बड़े रसिक भावसे कुछ पद्य सुनानेका कविसे आग्रह किया और प्रतिभाभिराम कविवरकी शृंगार-सरिता लगी रसिकोंको आपादमस्तक निमग्न करने। रसराजका आस्वादन मित्रोंको आत्म-विभोर कर रहा था, बनारसीदासजी भी आत्म-विस्मृत-से हो रहे थे कि सहसा अध्यात्मकी एक ऐसी आवेगवती लहर आयी जिसने कविकी ऐन्द्रिकता, शृंगारिकता एवं क्षुद्र भौतिक दृष्टिमय भावुक मनोभूमिको चकनाचूर कर दिया। कविके अज्ञान-तिमिराच्छन्न हृदयमें आत्मज्ञानका अरुणोदय हुआ। इस अध्यात्म-रत्नके सम्मुख अबतकके सभी कार्य उन्हें नगण्य काचखण्डवत् प्रतीत होने लगे। उन्हें अपने कपोल-कल्पित असत्यसे भरपूर कवितापर अत्यन्त पश्चात्ताप होने लगा। वे इस महापापसे मुक्तिमार्गकी खोजमें अत्यन्त विकल हो उठे, और सहसा उनकी दृष्टि सरिताकी वेगवती धारापर पड़ी। एक झटकेके साथ सम्पूर्ण पुस्तिकाको उसी अपार जलराशिमें सदाके लिए समाधि दे दी। यह हाल देखते ही मित्र-मण्डलीमें घबराहटकी एक लहर दौड़ गयी, सभी हाय-हाय करने लगे। ऐसा उत्तम ग्रन्थ उन्हें अब प्राप्त न हो सकेगा—यह सोच-सोचकर वे सभी अत्यधिक खिन्न हुए। नदी अथाह और अत्यन्त भयावह थी अतः बिखरे हुए पत्र एकत्रित करनेका किसीका साहस भी न हो सका। घड़ी-दो-घड़ी पछताकर और मानवकी विचित्र मनोदशापर विचार करते-करते सभी मित्र अपने-अपने घर चले गये।

कविवर इसी घटनाको किस सरलता, मितभाषिता एवं सत्यसमन्वितताके साथ व्यक्त करते हैं :

> "एक दिवस मित्रह्व के साथ, नौ-कृत पोथी लीन्हीं हाथ।
> नदी गोमती के बिच आइ, पुल के ऊपर बैठे जाइ।
> बाचै सब पोथी के बोल, तब मन में यह उठी किलोल।

एक झूठ जो बोलै कोई, नरक जाइ दुख देखे सोई।
मैं तो कलपित बचन अनेक, कहे झूठ सब साँचु न एक॥
कैसे बने हमारी बात, भई बुद्धि यह आकसमात।
यहु कहि देखन लागे नदी, पोथी डार दई ज्यों रदी॥२६७॥
हाइ हाइ करि बोले मीत, नदी अथाह महा भयभीत।
तामै फैलि गये सब पत्र, फिरि कहु कौन करै एकत्र॥२६८॥
घड़ी द्वैक पछताने मित्र, कहैं कर्म की चाल विचित्र।
यहु कहि कैं सब न्यारे भये, बनारसी अपने घर गये॥२६९॥"

बनारसीदासजीकी इस घटनाका पता जब उनके पिता खड़गसेनजीको लगा तो उनकी प्रसन्नताका पार न रहा। वे पुत्रकी स्वेराचारितासे बड़े चिन्तित रहते थे और अनेक प्रकारके प्रयत्न करनेपर भी बनारसीदासको ठिकानेपर न ला सके थे। खड़गसेनजीको बड़ी सान्त्वना मिली।

"खरगसेन सुनि यह विरतन्त, हूए मन में हरषितवन्त।
सुत के मन ऐसी मति जगै, घर की नाव रही-सी लगै।"

इस घटनाके पश्चात् तो कविवरके जीवनमें एक गहरा परिवर्तन आया। जिस सदाचरण और धार्मिक श्रद्धानके साथ उत्तम विचारोंका पाठ माता-पिता और गुरुजन एक लम्बे समयसे सिखाते आ रहे थे और असफल-से हो चुके थे, वही पाठ समय आनेपर कविने स्वयं ही सीख लिया। अब विषय-वासनाकी चर्चा करना भी इन्हें अरुचिकर लगने लगा। कविवर लिखते हैं—

"तिस दिन सौं बानारसी, करै धरम की चाह।
तजी आसिखी फासिखी, पकरी कुल की राह॥२७१॥
कहैं दोष कोउ ना तजै, तजै अवस्था पाइ।
जैसे बालक की दसा, तरुन भये मिटि जाइ।
उदै होत सुभ करम के, भई असुभ की हानि।
तातैं तुरति बनारसी, गही धरम की बानि॥२७३॥"

अशुभ कर्मोंका अन्धकार नष्ट हुआ और शुभ कर्मोंकी ओर कविकी प्रवृत्ति हुई। अब वे एक सद्गृहस्थके समान ही अपना आचरण रखने लगे। व्रत, नियम, संयम एवं शास्त्रोंके पठन-पाठनमें ही उनका अधिकांश समय व्यतीत होने लगा।[1]

---

१. 'अर्धकथानक' छन्द २७४-२७५।

मनुष्यके शुभ और अशुभ कार्य ही उसे क्रमशः विख्यात—लोकप्रिय तथा कुख्यात बनाते हैं। जो बनारसीदास अपने दुराचरण और उच्छृंखल स्वभावके कारण उपेक्षित एवं निन्दित हो चुके थे वे ही जब सत्यप्रिय, सदाचारी एवं धार्मिक हो गये तो माता-पिता और समाजके गलेके हार भी बन गये।

"तब अपजसी बनारसी, अब जस भयो विख्यात।"

कविवरको सभी प्रकारसे ठीक देखकर खड्गसेनजीने बड़े प्रेमसे अपने पास बुलाकर कहा, बेटा अब तुम समर्थ हो गये हो। हमारी वृद्धावस्था भी आ गयी है। तुम गृहस्थीका भार सँभालो, घरके कर्ता-धर्ता अब तुम्हीं रहोगे। योग्य पुत्र माता-पिताकी सेवा करते हैं, हमें तुमसे भी ऐसी ही आशा है। पुत्र बनारसीदास लज्जित-से खड़े रहे। पिताका अगाध स्नेह देखकर गद्‌गद हो उठे। पिताजीने भी तत्काल पुत्रका तिलक किया और घरका समस्त कार्य-भार इन्हें सौंप दिया। इस समय तक कविवर बनारसीदासजी २५ वर्षके हो चुके थे। संवत् १६६७ में कविने गृहस्थीका भार सँभाला।

व्यापारिक जीवन

यह बात निश्चित है कि जबतक मनुष्यपर उत्तरदायित्व नहीं आता तबतक उसका झुकाव गम्भीरता, सतर्कता एवं मितव्ययिताकी ओर नहीं होता। बनारसीदासजीमें उत्तरदायित्वके साथ ही ये सब बातें शनैः-शनैः प्रविष्ट होने लगीं।

सर्वप्रथम बनारसीदासने आगरेमें व्यापार करनेकी इच्छा प्रकट की। पिताजीने यह बात मान ली और इन्हें[1] दो पहुँची, दो मुद्रिका, चौबीस माणिक, चौंतीस मणि, नौ नीलम, बीस पन्ना, चार गाँठ फुटकर चुन्नी, बीस मन घी, दो कुप्पे तेल, दो सौ रुपयेका कपड़ा और कुछ रुपये नक़द देकर व्यापारके लिए आगराको बिदा किया। मार्गमें इटावा आदिके अनेक कष्ट सहते हुए किसी प्रकार बनारसीदासजी आगरा आये। आगरेके मोती कटरा नामक मुहल्लेमें कविवर अपने बहनोईके घर ठहरे। कुछ दिन बाद इन्होंने किरायेपर एक स्वतन्त्र मकान भी ले लिया। अब धीरे-धीरे आपने क्रय-विक्रय प्रारम्भ कर दिया। कपड़ा, घी और तेल बेचकर सब

१. 'अर्धकथानक' छन्द २८२-८७।

रुपया हुण्डीसे घरको भेज दिया। बनारसीदासजीका व्यापार करनेका यह प्रथम अवसर ही था अतः ये सभी व्यापारिक चतुराइयोंसे अनभिज्ञ थे। कुछ अशुभ कर्मका उदय भी था। कविको प्रत्येक वस्तुके विक्रयमें घाटा ही पड़ा। बहुत-से बहुमूल्य मणि आदिक तो इनकी असावधानीसे खो गये। कुछ लोग विश्वासपात्र बनकर इन्हें धोखा दे गये।

"देहि ताहि जो माँगै कोई, साधु असाधु न देखे कोई।
कोऊ वस्तु कहूँ लै जाई, कोऊ लेइ गिरों धरि खाई॥
आया उदै असुभ का जोर, घटती होत चली चहुँ ओर।"

कुछ छूटे हुए जवाहरात एक काँचीमें कसकर बाँध रखे थे, दुर्भाग्य-से उसका नाड़ा टूट गया और पेण्टमें बँधी हुई वह काँची भी कब गिर गयी इन्हें पता ही न लगा। अभी घटना ताज़ी ही थी कि एक और दुःखद घटना घटी। कविने डेरेमें एक वस्त्रमें कुछ मणि बाँधके रख दिये थे उन्हें चूहे काटकर न जाने कहाँ ले गये।

"मानिक नारे के पल्ले, बाँध्यो साट उचाट।
धरी इजार अलंगनी, मूसा ले गया काटि॥"

दो जड़ाऊ सुन्दर स्वर्णमय पहुँची एक सर्राफ़को बेची थी, दाम मिलनेके पहले ही उसका दिवाला निकल गया।

एक जड़ाऊ मुद्रिका गाँठ लगाते समय ही मार्गमें गिर पड़ी, ध्यान आनेपर नीचे देखा भी परन्तु किसी धूर्तने उसे पहले ही उठा लिया था अतः हाथ मलते ही रह गये। इस प्रकार इनके पास जो कुछ भी था धीरे-धीरे सब निकल गया, कुछ टोटेमें तो कुछ स्वयंकी असावधानीसे भरी भोली प्रकृतिके कारण। एकके बाद एक चारके इन अनेक दुःखद घटनाओंने कविके कुसुम-सुकुमार हृदयको झकझोर दिया, दुःख और चिन्ताकी तीव्रताके कारण कविको ज्वर आने लगा। दश लंघनें कीं तथा महीने-भर इतने दुर्बल रहे कि बाज़ार भी न जा सके। इसी बीच खड्गसेनजीके कई पत्र आये परन्तु व्यापारमें हुई आर्थिक क्षति और उक्त सभी घटनाओंके कारण हमारे कवि इतने दुःखी और लज्जित थे कि पिताके एक भी पत्रका उत्तर तक नहीं दिया।

"खड़गसेन की चीठी घनी, आवहिं पै न देहि आपनी।"

आगरामें कई व्यक्ति बनारसीके कुटुम्बसे परिचित थे ही, बात

खड्गसेनजी तक पहुँच ही गयी। बनारसीदासजीके बड़े बहनोई उत्तमचन्द जौहरीने खड्गसेनजीको एक पत्र लिखा जिसमें बनारसीदासके सम्बन्ध-में लिखा—

"पूँजी खोइ बनारसी, भये भिखारी भेख।"

इस समाचारके आते ही खड्गसेनजीके घरमें डटकर रुदन और कलह हुई। अपनी पत्नीसे वे बहुत ही क्रुद्ध हुए और कहने लगे : मैंने तो तेरे कहनेमें आकर तिलक कर दिया था, मैं तो जानता ही था कि यह घर बिगाड़कर ही रहेगा। उस निर्लज्जने तो समस्त पूँजी भी खो दी।

"कहा हमारा सब थया, भया भिखारी पूत।
पूँजी खोई बेहया, गया बनज का सूत॥"

खड्गसेनजी अन्तमें दुःख-भरी श्वास भरकर रह गये और उक्त समाचार खैराबाद भी भेज दिया वहाँ भी सभी रिश्तेदार दुःखी हुए। यहाँ आगरेमे बनारसीदासजीकी दिनचर्या भी अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। जो कुछ बचा था बेच-बेचकर सब खा गये और जब दो-चार टके ही हाथमें रह गये तो बाजारका जाना भी छोड़ दिया।

"घर की वस्तु बनारसी, बेंचि बेंचि सब खांहि।
लटा कुटा जो किछु हुतौ, सो सब खायौ डारि।
हंडवाई साई सकल, रहे टका द्वै चारि।
तब घर में बैठे रहें, जाई न हाट बजार॥"

अब बनारसीदासजीका बेकारीका समय था। मधुमालती और मृगावती नामक दो प्रेमाख्यान रात्रिके समय पढ़ते थे। दश-बीस रसिक जन सुनते थे और चर्चा करते थे, रात्रि अधिक हो जानेपर अपने-अपने घर चले जाते थे। कविवरकी यह दशा आ गयी कि घरमें खानेको भी कुछ न बचा।

कचौड़ीवाला

एक कचौड़ीवाला भी रात्रिके समय इनकी कथा सुना करता था, ये उसीकी दुकानसे एक सेर कचौड़ियाँ उधार लेकर खाने लगे। जब एक सवा महीना हो गया तो स्वयं ही कचौड़ीवालेसे अपनी असली निर्धनताकी दशा कह दी—भाई, तुमने मुझे बहुत उधार दिया अब आगे मत देना, मेरे पास तो कुछ है ही नहीं, तुम दाम लोगे भी कहाँसे !—

"एक दिवस बानारसी, समै पाइ एकान्त।
कहै कचौरीवाल सों, गुपत गेह–बिरतन्त ॥३४०॥
तुम उधार कीनौ बहुत, आगे अब जिन देहु।
मेरे पास किछू नहीं, दाम कहाँ से लेहु ॥३४१॥"

और कचौड़ीवाला भी कितना उदारहृदय था कि इनकी सरलता और विद्वत्ताको देखते हुए कविकी उक्त बातपर जो उसने कहा वह आज भी आगरेके उस कचौड़ीवालेके उज्ज्वल आदर्शको स्थिर किये हुए है—

"कहै कचौरीवाल नर, बीस रुपैया खाहु।
तुमसौं कोउन कछु कहै, जहाँ भावै तहाँ जाहु ॥"

कविका इसी प्रकार छह-सात महीनेका समय व्यतीत हो गया। व्यापारादिका कोई ठिकाना न लगा।

एक दिन आगरेके ताँबी ताराचन्दजी, जो इनके श्वसुर भी लगते थे, कथा सुनने आये और इन्हें समझा-बुझाकर अपने घर ले गये। कवि बड़े संकोचके साथ इनके घर रहे। दो महीने धर्मचन्दजी जौहरीके साझेमें कुछ व्यापार किया उससे थोड़े-से रुपये मिले तो कचौड़ीवालेका १४ रु० का हिसाब चुकता किया और दो वर्ष व्यापार किया। लगभग २०० रु० कमाया और खर्चा भी इतना ही बैठ गया, बचा कुछ नहीं, इससे कविवरका मन बैठ गया और आगरा छोड़नेकी सोचने लगे। अपनी व्यापारिक असफलतासे निराश होकर कवि लिखते हैं—

"निकसी घोंघी सागर मथा, भई हींगवाले की कथा।
करी मसक्कत गयी अकाथ, कौड़ी एक न लागी हाथ ॥"

और दूसरे ही दिन ये अपनी ससुरालको चल दिये। वहाँ पहुँचनेपर इनका बहुत सत्कार हुआ। आगे सब दशा सुन-समझकर इनकी पत्नी और सासने मिलकर इन्हें २२० रुपये देकर फिर आगरा व्यापारके लिए बिदा किया। दुर्भाग्यने इस बार भी कविका पीछा नहीं छोड़ा और कपड़ेमें फिर इन्हें टोटा हुआ। अब जवाहरातके व्यापारकी ओर इनका मन हुआ। इससे इन्हें कुछ लाभ भी हुआ और यही व्यापार करनेकी सोचने लगे। धन कमानेके लिए कविवरने जीवन-भर दौड़-धूप की परन्तु इस दिशामें इन्हें सफलता न मिल सकी, हाँ निर्वाह लायक़ द्रव्य तो मिलता ही रहा परन्तु ये धनवान् न बन सके। सफलता और असफलता तो भाग्यकी बात है, मनुष्यका सच्चा मूल्य तो उसके परिश्रमसे बनता है और बनारसीदासजीने श्रमसे कभी मुँह नहीं मोड़ा।

इसके पश्चात् कविवरका जीवन प्राय: आगरेमें ही व्यतीत हुआ। अब ये निर्वाह लायक़ द्रव्यकी चिन्ता करते थे और बचा हुआ समय स्वाध्याय, सत्संग एवं काव्य-रचनामें ही लगाते थे।

बनारसीदासजीका धार्मिक सम्प्रदाय

जैनोंके दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं। कविवर बनारसीदासजी वंशानुक्रमसे श्वेताम्बर जैन सम्प्रदायके अन्तर्गत श्रीमाल कुलमें उत्पन्न हुए थे, अतः ये जन्मसे श्वेताम्बर जैन थे। श्रीमाल जाति आज भी श्वेताम्बर जैन है। यह जाति आज अहमदाबाद और बम्बईमें अल्प मात्रामें पायी जाती है। बनारसीदासजीके सभी पूर्वज दृढ़ जैनी थे, यावज्जीवन जैन धर्मका पालन करते थे। यही कारण है कि हमारे चरितनायकके बचपनके संस्कार भी पूर्वजोंके धर्मानुसार हो पड़े। कविवर बनारसीजीके गुरु उद्भट विद्वान् भानुचन्द्रजी खरतरगच्छ (श्वेताम्बर सम्प्रदायकी एक शाखा) की लघु शाखाके साधु थे। इनके प्रति कविकी अगाध श्रद्धा थी, अपनी रचनाओंमें कई स्थानोंपर आपको स्मरण भी किया है। बनारसीदासजीके प्राय: सभी सम्बन्धी एवं मित्र भी श्वेताम्बर सम्प्रदायके ही थे। स्नानविधि, सामायिक, पठिकोना (प्रतिक्रमण), अस्तोन (स्तवन) आदि श्वेताम्बरी क्रियाकाण्डका बनारसीदासजीने अध्ययन किया था तथा इसीके अनुसार वे अपना धार्मिक आचरण भी करते थे। पौसालमें वे नित्य-प्रति जाया करते थे। [1]पं० नाथूराम प्रेमी लिखते हैं :—

"उदाहरणके लिए अर्धकथानकका ५८३ नम्बरका छप्पय ले लीजिए। उसमें शान्ति कुन्थु अरनाथके माता-पिताके नाम श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार हैं। दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार अरनाथकी माताका नाम मित्रा और लांछन (चिह्न) मत्स्य होना चाहिए। इसी तरह राग आसावरी (बनारसीविलास पृ० २६६) का प्रसन्नचन्द ऋषिका उल्लेख भी श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार जान पड़ता है। दिगम्बर कथाकोशोंमें या अन्य कथा-ग्रन्थोंमें प्रसन्नचन्द्रकी कथा नहीं है परन्तु श्वेताम्बर कथाकोशोंमें प्रसन्नचन्द्र और बल्कलचीरिन्की कथा सुलभ है। कुमारपाल प्रतिबोध (पृ० २८४–९२) में भी है।"

---

१. 'अर्धकथा', पृ० १५ : सं० पं० नाथूराम प्रेमी।

१६७० में लिखे हुए 'अजितनाथके छन्द' में खैराबाद मण्डनकी स्तुति है, जो खैराबाद श्वेताम्बर मन्दिरकी मुख्य प्रतिमाको लक्ष्य करके है।[1] "इस प्रकार बनारसीदासजीकी दिनचर्या और रचनाओंसे यह बात झलकती है कि वे श्वेताम्बर जैन ही थे। बालकपर अपने पूर्वजोंके धार्मिक संस्कारोंका प्रभाव पड़ता ही है। सामान्यतया, कविवरका आरम्भिक जीवन धार्मिक वातावरणके अन्तर्गत होते हुए भी स्वैराचारी प्रवृत्तिका रहा, हाँ, उनमें धार्मिकताकी दिव्य ज्योति समय-समयपर अवश्य ही चमकती हुई मिलती है। धार्मिक यात्राओंके प्रति भी कविकी प्रबल रुचि रही है। २२–२३ वर्षकी अवस्थासे कविका जीवन निश्चित रूपसे एक स्थायी धार्मिक मोड़ लेता है, उनमें सात्त्विक वृत्तिका उदय होता है। उनकी दिनचर्यामें और आचरणमें धर्म प्रमुखतासे प्रवेश करता है—

"नित उठि प्रात जाइ जिन भौन, दरसन बिन न करै दन्तौन।
चौदह नेम विरति उच्चरै, सामायिक पडिकौना करै॥
हरी जाति राखी परवान, जाव जीव बैंगन-पचखान।
पूजा विधि साधै दिन आठ, पढ़ै बीनती पद मुख पाठ॥२७५॥
इहि विधि जैन धरम कथा, कहै सुनै दिन रात।
होनहार कोऊ ना लखै, अलख जीव की बात॥२७६॥"

बनारसीदासजीकी इसी सच्ची धार्मिक प्रवृत्तिके कारण जनतामें भी इनके प्रति सद्भावना जागृत हुई।

"तब अपजसी बनारसी, अब जस भयौ विख्यात।"

शैव, शाक्त और तान्त्रिक प्रभाव

बनारसीदासजी यद्यपि जैनकुलोत्पन्न थे, जैन धर्मके अनुयायी थे, फिर भी उनमें शिव, शक्ति और तन्त्रोंके प्रति एक गहरा मोह रहा। वे जीवन-भर धर्मार्जनके लिए प्रयत्नशील रहे और उन्हें जब इस दिशामें विशेष सफलता न मिली तो धन-प्राप्ति हेतु वर्षों तक शिवोपासना करते रहे। शक्तिके प्रति भी उनकी गहरी आस्था रही। मन्त्रों और तन्त्रोंमें तो वे इतने फँस गये थे कि भोजनादिककी भी चिन्ता न करते थे। पूरा वर्ष मन्त्र-साधनामें लगा दिया, परन्तु जब परिणाम शून्य निकला तो इस क्रिया-से सदाके लिए घृणा हो गयी। शिवोपासनाकी चर्चा प्रथम अध्यायमें हो ही चुकी है। इन उपासनाओंके प्रति उनकी आगे चलकर अरुचि हो गयी।

---

१. वही, पृ० १५, सं० पं० नाथूराम प्रेमी पाद टिप्पणी।

वे फिर अपनी सात्त्विक वृत्तिके साथ जैन धर्मकी ओर अग्रसर हुए। इस प्रकार कविके जीवनपर उक्त धर्मोंका भी सामयिक प्रभाव रहा।

दिगम्बर जैन सम्प्रदायके प्रति आस्था

संवत् १६८० तक पं० बनारसीदासजीमें श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यताओंके प्रति आस्था देखी जा सकती है। यह बात उनकी रचनाओं और कार्यों-द्वारा ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है। संवत् १६८० के पश्चात् कविवरका झुकाव स्पष्ट रूपसे दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यताओंकी ओर हो गया। हाँ, इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि कविने कहीं भी अपने धर्म या सम्प्रदाय-परिवर्तनका उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने श्वेताम्बर-दिगम्बर मान्यताओंपर किसी भी प्रकारका अपना मत व्यक्त नहीं किया। दोनों ही धार्मिक शाखाओंके प्रति उनकी गहरी आस्था थी। वास्तवमें वे इतने उदार थे कि भेद शब्द उनकी जिह्वापर आ ही न सकता था। इतनी उदार भावना होनेपर भी वे सदैव सच्चे धर्मकी खोजमें रत रहते थे। जिस प्रकार उनके श्वेताम्बर सम्प्रदायके लिखित प्रमाण मिल जाते हैं उसी प्रकार उनके परिपक्व जीवनमें दिगम्बर धर्मने प्रवेश किया इसके भी प्रमाण उनकी रचनाओंमें स्पष्ट रूपसे प्राप्त होते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायके तेरहपन्थ और बीसपन्थके रूपमें प्रमुख दो भेद हैं। बीसपन्थी क्रियाकाण्ड-को प्रमुखता देते हैं और तेरहपन्थी अध्यात्मको। क्रियाकाण्ड और अध्यात्मकी मान्यता दोनोंमें है, परन्तु कहीं किसीकी प्रमुखता है कहीं किसीकी। बनारसीदासजी दिगम्बर सम्प्रदायकी अध्यात्मपरक तेरहपन्थ-शाखाके स्वीकर्ता थे।

दिगम्बरत्वके अंकुर

संवत् १६८० में खैराबादनिवासी अर्थमलजी ढोरने बनारसीदासजी-की धार्मिक अस्त-व्यस्तता देखकर उन्हें 'समयसार'की हिन्दी अर्थसहित राजमल्ली टीका सौंप दी और कहा, इसके स्वाध्यायसे धर्मकी वास्तविकता आपके सामने हस्तामलकवत् आ जायेगी। बनारसीदासजीने अध्यात्मरस-सिक्त समयसारका बड़ी तन्मयतासे अध्ययन-मनन किया। परिणामस्वरूप उनका झुकाव शुद्ध निश्चय नयकी ओर हो गया, वे एक दृढ़ अध्यात्मी बन गये। उन्हें क्रियाकाण्ड अत्यन्त थोथा प्रतीत होने लगा। जप, तप, सामायिक, परिक्रमा, पूजन आदि छोड़कर उनकी दृष्टि एकमात्र आत्म-तत्त्वमें स्थिर हो गयी। उनके मित्र चन्द्रभानजी, उदयकरनजी और थान-

सिंहजीकी भी इसी दिशामें दृढ़ आस्था थी। बारह वर्षके लम्बे समय तक जब इन सबकी दृष्टि एक मात्र अध्यात्मकी ओर ही रही, क्रियाकाण्डकी सर्वथा उपेक्षा कर दी गयी तो धार्मिक लोग उन्हें 'खोसरामती' अर्थात् एक असन्तुलित मतका अनुयायी कहने लगे।

संवत् १६९२ में अध्यात्मके प्रकाण्ड पण्डित रूपचन्द्रजी आगरे आये। आगराके समस्त अध्यात्मप्रेमी व्यक्तियोंने पण्डितजीसे 'गोम्मटसार' ग्रन्थकी वचनिका करायी। पं० जीने गुणस्थानोंके अनुसार ज्ञान और क्रियाका समन्वय अर्थात् निश्चय और व्यवहारका मेल ही सच्चे सुखका कारण बताया। इसका परिणाम यह हुआ कि पं० बनारसीदासजी भी अब कर्मकाण्ड अर्थात् धार्मिक क्रियाओंको सर्वथा हेय न समझकर आत्मकल्याण-में कुछ उपयोगी समझने लगे। बादमें कविवरकी अध्यात्मरसिकता इतनी प्रबल हो गयी कि आपने १६९३ में नाटक समयसारको सुललित हिन्दी पद्योंमें आबद्ध किया। आपका यह अध्यात्म-ग्रन्थ आज भी दोनों ही सम्प्रदायोंमें अत्यन्त लोकप्रिय है। इस ग्रन्थमें शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे ही आत्म-तत्त्वपर विचार किया गया है।

पण्डित रूपचन्द्रजीका सम्पर्क और गोम्मटसारका श्रवण तथा समय-सारकी हिन्दी पद्योंमें रचना इत्यादि बातें बनारसीदासजीके दिगम्बरपरक झुकावको द्योतित करती हैं। कविवरकी रचनाओंमें से ऐसे उद्धरण भी दिये जा सकते हैं जो इस बातको प्रमाणित करते हैं।

"उत्तम कुल श्रावक संचार, तासु गेह प्रासुक आहार।
भुंजै दोष छियालिस टाल, सो मुनि बन्दों सुरति सँभाल ॥११॥
भूमि शयन मंजन तजन, वसन त्याग कच लोच।
एक बार लघु असन, थिति-असन दंतवन मोच ॥
द्विविधि परिग्रह, दशविधि, जान, संख, असंख अनन्त बखान।
सकल संग तज होय निरास, सो मुनि लहै मोक्ष पद वास ॥
लोक लाज विगलित भयहीन, विषय वासना रहित अदीन।
नगन दिगम्बर मुद्राधार, सो मुनिराज जगत सुखकार ॥
सघन केश गर्भित मलकीच, त्रस असंख्य उतपति तसु बीच।
कच लुंचै यह कारण जान, सो मुनि नमहुँ जोर जुग पान ॥"

साधुवंदना (बनारसी विलास, पृ० १२९।३०)

१. 'अर्धकथानक', पृ० १७ : पं० नाथूराम प्रेमी।

इन उद्धरणोंमें जितनी बातें आयी हैं वे श्वेताम्बर सम्प्रदायके साधुओंमें नहीं पायी जातीं। दिगम्बर साधुओंको लक्ष्य करके ही उक्त बातें लिखी गयी हैं। इससे कविवर बनारसीदासजीकी आस्था दिगम्बर सम्प्रदायपर हो गयी थी इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता है। इतना अवश्य है कि पं० बनारसीदासजीने अपने अन्तिम समय तक अपने श्वेताम्बरगुरु पं० भानुचन्द्रजी तथा पं० रूपचन्द्रजी आदिके प्रति श्रद्धा ही व्यक्त की है, साथ ही अपने सम्प्रदाय-परिवर्तनका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है।

बनारसीदासजीके इस विचित्र परिवर्तनके कारण तात्कालिक विद्वानों-ने भी उन्हें दिगम्बर अथवा श्वेताम्बर न कहकर स्वतन्त्र रूपसे एक 'साम्प्रतिक अध्यात्ममत' का प्रवर्तक कहा है। पं० नाथूरामजी प्रेमी लिखते हैं : 'सुप्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य यशोविजयजीने बनारसीदासजीके मतको जैसा कि आगे बतलाया गया है 'साम्प्रतिक अध्यात्ममत' कहा है और महोपाध्याय मेघविजयजीने 'आध्यात्मिक' या 'वाणारसीय' कहा है। उनके ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि उक्त विद्वान् बनारसीदासजीको दिगम्बर सम्प्रदाय युक्त मानते हुए भी सर्वथा दिगम्बर नहीं मानते थे, बल्कि दिग-म्बर सम्प्रदायके एक नये ही पन्थका प्रवर्तक समझते थे।"

ग्यारहवीं शती अर्थात् यवन शासनके समयसे ही दिगम्बर साधुओंका अभाव-सा हो गया था और बनारसीदासजीके समय तक तो दिगम्बर जैन साधुओंका आदर्श एक अशक्यानुष्ठान-जैसी बात बन चुकी थी। लोग पुराणोंमें पढ़ लेते थे परन्तु विचारते यही थे कि कभी रहे होंगे ऐसे साधु, आज तो सम्भव नहीं है। बनारसीदासजीके समयमें परिग्रहधारी भट्टारकों-के हाथोंमें ही धर्मकी बागडोर थी। क्रियाकाण्डको ही धर्म घोषित कर दिया था। अध्यात्म-चर्चाको भुला दिया गया था। भट्टारकोंकी बात एक धर्म-वाक्यके रूपमें मानी जाती थी। बनारसीदासजी प्रतिभासम्पन्न कुशाग्र-बुद्धि विद्वान् थे। उनका जैन सिद्धान्तके शास्त्रोंका अध्ययन-मनन भी खूब हो चुका था। वे इस सब मायाचारको शीघ्र ही समझ गये और उन्होंने इस क्रियाकाण्ड और परिग्रहकी मान्यताको एकदम अस्वीकार कर दिया। वे स्वयं आगे आये और जनताके सम्मुख धर्मका वास्तविक स्वरूप रखा।

सामान्यतया प्रत्येक महान् व्यक्ति किसी विशेष धर्ममें दीक्षित होनेपर भी आगे चलकर अपनी उदार वृत्तियोंके कारण एक सामान्य युगधर्मका

अनुयायी हो जाता है। बनारसीदासजीकी भी सात्त्विक वृत्ति इतनी प्रबल हो चुकी थी कि उनकी दृष्टिमें जाति-भेद, छुआछूत, क्रियाकाण्ड आदिका कोई मूल्य न रह गया था। मानव धर्मसे उद्वेलित हो उनकी अन्तश्चेतना बोल उठी—

"मेरे नैनन देखिए घट घट अन्तर राम।
....
एक रूप हिन्दू तुरक दूजी दशा न कोय।
मन की द्विविधा मानकर भये एक सौं दोय।
दोऊ भूले भरम में, करें बचन की टेक।
राम राम हिन्दू कहें, तुर्क सलामालेक॥" इत्यादि।

जनश्रुतियाँ

सभी विख्यात महापुरुषोंके सम्बन्धमें कुछ किंवदन्तियाँ प्रचलित हो ही जाती हैं। इन सबमें इतना सत्य अवश्य होता है कि वह व्यक्ति एक असाधारण नररत्न था। सभी किंवदन्तियाँ असत्य हैं अथवा भक्तों-द्वारा अपने श्रद्धेयकी प्रसिद्धिके लिए गढ़ दी गयी हैं ऐसा निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता और सत्य हैं यह प्रमाणित नहीं हो पाता अतः स्थिति मध्यकी ही रहती है। यहाँ हमारा कार्य जनश्रुतियोंमें प्रामाणिकता खोजना नहीं है, उनका उल्लेख मात्र करना है जिससे कवि-जीवनकी किसी रूपमें एक और झलक हमें मिल जाये। निम्नस्थ जनश्रुतियाँ आज भी कविके भक्तोंमें प्रचलित हैं—

१. एक समय बनारसीदासजी उपयुक्त भूमि देखकर पेशाब करने बैठ गये। सिपाहीने आकर उन्हें डाँटा और एक थप्पड़ भी मार दी। कविवर शान्त भावसे घर चले गये। अगले दिन दरबारमें जब ये सम्राट्के पास ही बैठे थे, वही सिपाही किसी कार्यसे बुलाया गया। उन्हें देखते ही सिपाही अत्यन्त भयभीत हुआ, परन्तु जब वह लौट गया तो बनारसीदासजीने सिफ़ारिश करके उसका वेतन बढ़वा दिया, यह जानकर वह सिपाही सदाके लिए उनका भक्त हो गया।

२. एक बार आगरेमें दो नग्न मुनियोंका आगमन हुआ। सभी व्यक्ति उनके दर्शन करने जाने लगे। बनारसीदासजी परीक्षाप्रधानी थे। जबतक परीक्षा न कर लेते थे किसी मुनिको नमस्कार न करते थे।

दोनों मुनि मन्दिरकी ऊपरकी दहलानमें शास्त्रप्रवचन करते थे।

नीचेसे कवि एक ऐसे स्थानमें खड़े हो गये जहाँसे उन्हें दोनों मुनि दिखते थे। बनारसीदासजीने उँगलियाँ दिखा-दिखाकर मुनियोंको चिढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। मुनियोंने दो-चार बार उपेक्षा करके शान्त भावका परिचय दिया। जब तंग आ गये तो क्रुद्ध होकर भक्तोंसे ज़ोरसे कहा देखो तो नीचे कुत्ता उपद्रव कर रहा है। भक्तजन शीघ्र ही देखने गये। बनारसी-दासजी मुनिजीकी बात सुनते ही चल दिये थे। भक्तोंने केवल कविवरको ही जाते हुए देखा और किसीको नहीं और मुनिजीसे निवेदन भी कर दिया कि महाराज नीचे तो कोई नहीं था, हाँ, पं० बनारसीदासजी ही लम्बे-लम्बे पैर रखकर जल्दीसे जा रहे थे। मुनि सब बात समझ गये और दो-चार दिनमें ही वहाँसे विहार कर गये।

३. 'बाबा शीतलदासजी' नामक संन्यासीका आगरेमें आगमन हुआ। भक्तोंने उनके शान्त स्वभावकी बहुत प्रशंसा की। बनारसीजी उनकी परीक्षा लेने चल पड़े। थोड़ी देर तक एक भोले भक्तकी भाँति उनसे बातें करते रहे। चलते समय बाबाजीका नाम जानना चाहा। बाबाजीने बड़ी सरलतासे अपना नाम 'शीतलदास' बता दिया। थोड़ी देर तक कुछ और बातें करके फिर बनारसीदासजीने बाबाजीका नाम पर पूछा और उत्तरमें वही 'शीतलदास' मिला। इसी प्रकार रुक-रुककर पूछे जानेपर बाबाजीने दो-तीन बार तो सरलतासे उत्तर दिया और फिर झुँझलाकर बोल उठे: 'अरे मूर्ख, कह तो दिया शीतलदास, शीतलदास, शीतलदास। यह सुनते ही बनारसीदासजी उठ खड़े हुए और बोले, आपका नाम 'ज्वालाप्रसाद' होना चाहिए था। मुझे आपका शीतलदास नाम गुणहीन होनेसे ही तो याद नहीं हो रहा था।

४. सम्राट् जहाँगीरके दरबारमें बनारसीदासजीकी प्रसिद्धिकी चर्चा चली। साथमें यह बात भी उठी कि वे अपने इष्टदेवके अतिरिक्त किसीके सम्मुख नतमस्तक नहीं होते। सम्राट्के सम्मुख उनसे नत होनेको जब कहा गया तो बनारसीदासजीने यह कवित्त तत्काल रचकर सुनाया—

> "जगत् के प्रानी जीत, ह्वै रह्यौ गुमानी ऐसौ,
> आस्रव असुर दुखदानी महाभीम है।
> ताकौ परताप खंडिबै कौ प्रगट भयौ,
> धर्म को धरैय्या, कर्मरोग को हकीम है॥
> जाके परभाव आगै, भागे परभाव सब

नागर नवल सुख-सागर की सीम है ॥
संवर को रूप धरैं साधैं सिवराह ऐसौ,
ज्ञानी पातसाह ताकौ मेरी तसलीम है ।" —समयसार ।

इस रचनासे सम्राट् प्रसन्न हुए और फिर कविको कभी नमस्कारके लिए विवश न किया।

५. बनारसीदासजी शतरंजके अच्छे खिलाड़ी थे। सम्राट् शाहजहाँ भी कविवरके साथ शतरंज खेलते थे और समय-समयपर कविजीको इसीलिए बुलवा लिया करते थे। इस समय तक कविकी प्रसिद्धि भी खूब हो चुकी थी। कविने धार्मिक भावनासे यह नियम लिया कि मैं भगवान्के अतिरिक्त किसीको नमन नहीं करूँगा। यह बात धीरे-धीरे सम्राट्के पास पहुँची। बनारसीदासजीपर उनका अपार सौहार्द था अतः इस बातसे वे क्रोधित न हुए हाँ, आश्चर्यचकित अवश्य ही हुए। कविकी यही बात देखनेके लिए सम्राट्ने एक मज़ाक़ किया। वे ऐसी जगह बैठ गये जहाँके दरवाज़ेमें झुककर ही प्रवेश हो सकता था। बनारसीदासजीको बुलवाया। वे आते ही समझ गये कि यह सम्राट्की चाल है। मुझसे नमस्कार कराना चाहते हैं। पहले पैर डालकर कविने प्रवेश किया। सम्राट् उनकी इस बुद्धिमानीसे बहुत प्रसन्न हुए और कुछ माँगनेको कहा। बनारसीदासजीने सम्राट्को वचनबद्ध करके यही कहा, महाराज मुझे आगे कभी भी दरबारमें न बुलाया जाये यही मेरी इच्छा है। इससे सम्राट् अत्यन्त खिन्न हुए, परन्तु विवश थे।

६. एक बार गोस्वामी तुलसीदासजी अपने कुछ शिष्योंके साथ आगरा आये। आगरामें बनारसीदासजीसे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए। कई दिनों तक उनका सत्संग रहा। इसके बाद तुलसीदासजीने अपनी रामायणकी एक प्रति बनारसीदासजीको भेंट की और बिदा हो गये। बिदाके समय बनारसीदासजी-द्वारा भेंटस्वरूप दी गयी पार्श्वनाथकी पद्यबद्ध स्तुति साथ लेते गये। कुछ वर्षोंके अनन्तर जब दोनों कविश्रेष्ठ पुनः मिले तो तुलसीदासजीने अपनी रामायणके सम्बन्धमें बनारसीदासजीका अभिमत जानना चाहा। बनारसीदासजी प्रत्युत्पन्न मति थे ही। अतः उत्तरमें एक कविता तत्काल रचकर सुना दी —

"बिराजै रामायण घट मांहिं ।
मरमी होय मरम सो जानै, मूरख जानै नाहिं ॥ बिराजै० ।

आतम राम ज्ञान गुन लछमन, सीता सुमति समेत ।
शुभोपयोग बानर दल मंडित, वर विवेक रन खेत ॥
ध्यान धनुष टंकार शोर सुनि, गई विषयदिति भाग ।
भई भस्म मिथ्यामत लंका, उठी धारणा आग ॥
जरे अज्ञान भाव राक्षस कुल, लरे निकांछित सूर ।
जूझे राग द्वेष सेनापति, संसे गढ़ चकचूर ॥
विलखित कुंभ करण भव विभ्रम, पुलकित मन दरयाव ।
थकित उदार वीर महिरावण, सेतु बन्ध समभाव ॥
मूर्छित मन्दोदरी दुराशा, सजग चरण अनुमान ।
घटी चतुर्गति परिणति सेना, छुटे छपक गुणबान । वि०
निरखि सकति गुन चक्र सुदर्शन, उदय विभीषण दीन ।
फिरै कबन्ध महोरावण की, प्राणभाव शिर हीन ॥ वि०
इह विधि सकल साधु घट अन्तर, होय सहज संग्राम ।
यह विवहार दृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम ॥ वि०

(बनारसीविलास, पृ० २३३)

तुलसीदासजी बनारसीदासजीके इस काव्य-कौशलसे अत्यधिक प्रभावित हुए और स्वयं भी पार्श्वनाथ स्तोत्रके बदलेमें 'भक्ति विरदावली' नामक कविता भेंट की। इसके पश्चात् भी समय-समयपर दोनों विद्वान् एवं प्रतिभाभिराम कवियोंकी भेंट होती रही ।

७. एक बार एक अत्यन्त कुख्यात चोर बनारसीदासजीके घरमें घुसा । बहुमूल्य वस्तुएँ एक गठरीमें बाँधकर चलनेका प्रयत्न करने लगा, परन्तु गठरी इतनी भारी हो गयी थी कि उससे नहीं उठ सकी। उसने कई बार उठानेका प्रयत्न किया पर सफलता न मिली। इतनेमें बनारसीदासजी स्वयं जाग उठे और वह गठरी स्वयं ही उसके मस्तकपर रखवा दी। चोर प्रसन्न होकर गठरी लेकर घर पहुँचा और सारी अद्भुत घटना अपनी माताको सुनायी। माता इस घटनाको सुनते ही बोल उठी, बेटा यह माल बनारसीदासके अलावा किसीका नहीं हो सकता, उसके अतिरिक्त कोई भी ऐसा नहीं कर सकता, तू शीघ्र ही हाथ जोड़कर यह माल उन्हें लौटा आ। मुझे बहुत दुःख हो रहा है। ऐसे धर्मात्माकी तो हमें सेवा ही करनी चाहिए। चोरने सब धन बनारसीदासजीके चरणोंमें रख दिया और क्षमा-याचना की ।

८. लाला किशनलालजी जैन आगरेवालोंने भी कविवरके सम्बन्धमें एक घटना मुझे सुनायी है। एक बार मन्दिरमें एक सज्जन दधि, घृत तथा दुग्धसे भगवान्का अभिषेक कर रहे थे। बनारसीदासजी वहाँ पहुँचे और उस भक्तको केवल जलसे अभिषेक करनेका परामर्श दिया। भक्त बहुत क्रुद्ध हुआ और कविसे विवाद करने लगा। कविवर बनारसीदासजीने बड़ी सरलतासे कहा भई इस अनुचित कार्यका परिणाम तुम्हें शीघ्र ही मिल जायेगा, इसमें विवादसे क्या लाभ है। इतना कहकर वे चले गये। भक्तने अपना कार्य आरम्भ किया ही था कि उसके गालपर किसी दैवी शक्तिसे एक जोरकी थप्पड़ लगी। वह वेदीसे बाहर आया और सारी बात अन्य दर्शनार्थियोंको सुनायी। लोगोंके पूछनेपर उसने बताया कि एक व्यक्ति बड़ी सरलतासे बोलता था, धोती, अँगरखा और मोतिया पगड़ी बाँधे था, क़द लम्बा और गौर वर्ण था, उसीने मुझे इस कार्यसे रोका था। लोग एक ही स्वरमें बोल उठे वे तो पं० बनारसीदास ही हो सकते हैं।

९. पं० बनारसीदासजीके देहावसान-समयके सम्बन्धमें एक किंवदन्ती प्रचलित है। यद्यपि कविवरके देहोत्सर्ग-समयके सम्बन्धमें आजतक प्रामाणिक ढंगसे कुछ नहीं कहा जा सका है, फिर भी यह (सन्दिग्ध-प्रामाणिकता) किंवदन्ती एक हलकी प्रकाश-रश्मि अवश्य ही उक्त विषयपर छोड़ती है। अबतक जिन एक-दो विद्वानोंने कविवरके मृत्यु-कालपर विचार किया है उन्होंने भी इसी किंवदन्तीका आश्रय लिया है।

कहते हैं अन्त समयमें बनारसीदासजीका कण्ठ अवरुद्ध हो गया अतः वे बोलनेमें असमर्थ थे। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि उनकी मृत्यु अति निकट है अतः वे ध्यानावस्थित हो गये। लोगोंने समझ लिया कि अब वे दो-चार घण्टोंके ही मेहमान हैं। जब समय अधिक टल गया और प्राणान्त न हुआ तब लोगोंने मनमानी कल्पनाएँ करना प्रारम्भ कर दिया। कुछ लोग कहने लगे इनके प्राण कुटुम्बीजनोंके मोहमें अटक रहे हैं। कुछने कहा इन्होंने जीवन-भर धनके लिए दौड़-धूप की है और उसे कम ही पा सके हैं अतः आज भी इनके प्राण उसीमें अटक रहे हैं। इनके आगे जबतक दौलतकी गठरी न होगी इनके प्राण नहीं निकलेंगे। इस विचारपर प्रायः सभीने हाँ कहा। किसीने भी इसे अनुचित नहीं बताया। कविवर लोगोंकी इन मूर्खतापूर्ण धारणाओंसे विचलित हो उठे पर शक्तिहीन इतने थे अतः बोल तो न सके किन्तु एक लेखनीके लिए लोगोंको संकेत किया। बड़े

प्रयत्नके पश्चात् लोग कविवरके संकेतको समझ सके। लेखनी पाकर कवि-
ने दो छन्द रच दिये। उन्हें पढ़कर लोगोंको धारणा एकदम बदल गयी
और कविवरको एक शुद्ध हृदयवाला धर्मात्मा और विद्वान् मानकर सभी
व्यक्ति उनकी आवश्यक परिचर्यामें लीन हो गये।
छन्द थे—

"ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना।
प्रगटयो रूप स्वरूप, अनन्त सु सोहना॥
जा पर जै को अन्त, सत्य कर मानना।
चले बनारसिदास, फेर नहिं आवना॥"

समकालीन विख्यात कवियोंसे मैत्रीपूर्ण सम्पर्क

हिन्दी साहित्यके भक्तियुगकी १७वीं शतीमें इस साहित्यके चोटीके कवि तुलसीदासजी, केशवदासजी, मीरा, सुन्दरदासजी आदि हुए। इसी शतीके हमारे चरितनायक कविवर बनारसीदासजी भी हुए थे। कविवरका सम्पर्क अपने समकालीन सभी कवियोंसे अवश्य हो रहा होगा, परन्तु प्रामाणिक रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। महाकवि तुलसीदासजी और महात्मा सुन्दरदासजीसे बनारसीदासजीका सम्पर्क रहा है इस सम्बन्धमें विद्वानोंने अबतक स्वीकृति दी है अथवा वे मौन रहे हैं, अस्वीकृति कहीं नहीं आयी है। बनारसीदासजीने तो कहीं इन कवियोंका नामोल्लेख भी नहीं किया और ऐसे प्रतिभासम्पन्न कवियोंकी मिलकर भी वे चर्चा कहीं न करते इसपर सहसा विश्वास नहीं होता। सम्भव है उक्त कवियोंसे सामयिक सम्पर्क रहा हो, एक दूसरेके वे प्रशंसक भी रहे हों परन्तु अपनी रचनाओंमें अप्रासंगिक नामोल्लेख उन्हें रुचिकर न लगा हो अतः नहीं किया हो। यह भी सम्भव है कि उक्त कवियोंसे कविका परिचय कई वर्षोंमें एक-दो बार ही हुआ हो और कविताका क्षेत्र चूंकि दोनोंका प्रायः स्वतन्त्र था अतः एक दूसरेका नामोल्लेख न कर सके हों, अस्तु हम यहाँ कुछ साम्य-सूचक रचनाएं प्रस्तुत करते हैं जो न केवल भावोंकी दृष्टिसे ही समान हैं बल्कि भाषा और शैलीकी भी अद्भुत एकरूपता भी उनमें प्राप्त होती है। जीवनकी परिस्थितियाँ भी पर्याप्त मात्रामें मेल खाती हैं। इस सबको विद्वान् परखें और जैसा उचित समझें, मानें।

परिस्थिति-साम्य

महाकवि तुलसीदासजीका संवत् १६८० में देहान्त हुआ था, उस समय

तक बनारसीदासजीकी अवस्था ३७ वर्षकी हो चुकी थी। इस समय तक ये एक प्रतिभाशाली एवं अनुभवी कवि हो गये थे, इसमें रंचमात्र सन्देह नहीं किया जा सकता। चौदह वर्षकी अवस्थामें ही एक सहस्र सरस छन्दोंमें नवरसका ग्रन्थ रच लेना ही इसके लिए पर्याप्त प्रमाण है। अतः दोनों कवियोंका मिलन निरा असम्भव भी नहीं कहा जा सकता।

जिस प्रकार तुलसीदासजीको जन्मसे ही पितृ-वियोग सहना पड़ा उसी प्रकार बनारसीदासजीको भी अल्पवयमें ही पितृ-मरणका असह्य दुःख सहना पड़ा।

युवावस्थामें दोनों ही विषयासक्त रहे। तुलसीदासजी अपनी पत्नीके प्रेमसे पागल ही थे। उनका यह प्रेमका नशा या पत्नीके प्रति गहरी आसक्ति बादमें पत्नीकी[1] फटकारसे ही छूटी और उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा, अगाध विद्वत्ताके साथ जन-कल्याण-परक साहित्य-सृजनमें लगी। उधर बनारसीदासजी भी अत्यधिक विषयासक्त रहे इसी कारण भयंकर रोग भी सहा। वे स्वयं लिखते हैं—

"कै पढ़ना कै आसिखी, ये ही दोनों काम।
....
तजि कुल कान लोक की लाज, भयौ बनारसि आसिखबाज।"

जब दोनों कविवर सचेत हुए—ठीक मार्गपर आये तो अपार भक्ति और अध्यात्मके सागरमें निमग्न हो गये।

तुलसीदासजीने हिन्दीमें रामायण लिखकर, सामान्य जनताके सम्मुख सरल भाषामें रामचरितके आदर्श रखे। रामका सर्वातिशयी उदार रूप प्रस्तुत किया। इससे हिन्दी साहित्यमें तथा धार्मिक क्षेत्रमें उन्होंने एक युगान्तर ही उपस्थित कर दिया। बहुत विरोध भी हुआ पर वे अडिग रहे। विरोध धीरे-धीरे शमित हो गया। बनारसीदासजीको भी धार्मिक शैथिल्य और क्रियाकाण्डका डटकर विरोध करना पड़ा था। शुद्ध चारित्र प्रधान तेरह पन्थ (दिगम्बर जैन धर्मकी एक प्रमुख शाखा) का प्रवर्तन किया था। अध्यात्म-रससे आप्लुत समयसार नामक प्राकृत ग्रन्थका हिन्दी पद्योंमें सृजन कर जनताका अपार कल्याण किया था।

दोनों कवियोंका रचना-क्षेत्र बिलकुल स्वतन्त्र था, फिर भी दोनोंके

---

१. लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहहुं मैं नाथ॥

उद्देश्य महान् थे और महानता अन्तिम रूपमें एक हो जाती है। कुछ स्थल अवश्य ही दोनोंमें ऐसे हैं जो अत्यन्त समान प्रतीत होते हैं।

दोनोंमें भाव और भाषाका साम्य देखिए :—

तुलसीदासजी

"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह के धारि।
तिह मह अति दारुण दुखद माया रूपी नारि॥"

बनारसीदासजी

"माया छाया एक है, घटै बढ़ै छिन माहिं।
इनकी-संगति जे लगैं, तिनहिं कहीं सुख नाहिं॥
ज्यौं काहू विषधर डसै, रुचि सौं नीम चबाय।
त्यौं तुम माया सौं मढे, मगन विषय सुख पाय॥"

महामारी रोगका-दोनोंका अनुभव कवितावद्ध है, मार्मिक है। दोनोंने सरस्वती-वन्दना की है जिसमें भारी साम्य है।

बनारसीदासजी

"सुधा धर्म संसाधनी धर्मशाला,
सुधा ताप निर्नासिनी मेघमाला।
महा मोह विध्वंसनी मोक्षदानी,
नमो देवि वागेश्वरी जैन वाणी।" इत्यादि

गोस्वामीजी

"यहै सरस्वती हंसवाहिनी प्रकट रूप,
यहै भव भेदिनी भवानी शंभु घरनी।
यहै ज्ञान लांछन सौं लच्छमी विलोकियत,
यहै गुन रतन भंडार भार भरनी॥"

इसी प्रकारके और भी कई साम्य-स्थल दोनों ही कवियोंमें देखे जा सकते हैं।

दोनों ही अपने-अपने इष्टदेवोंके अनन्य भक्त थे। अलंकार-विधानमें दोनोंने ही प्रमुख रूपसे अनुप्रास, रूपक, श्लेष, उपमा आदिका प्रयोग किया है।

साम्यकी भाँति वैषम्य भी अनेक प्रकारसे दोनों ही कवियोंमें देखा जा सकता है। अतः कुछ बातोंमें साम्य मिल जानेसे यह बात सर्वथा सत्य नहीं हो जाती कि उक्त दोनों कवियोंका साक्षात्कार हुआ ही था, हाँ हुआ होगा ऐसी सम्भावनाको कुछ बल अवश्य ही मिल जाता है। दोनों कवियों के मेल और कविताओंके आदान-प्रदानके सम्बन्धमें प्रचलित किंवदन्ती (जिसका उल्लेख हो चुका है) भी कुछ ऐसा ही संकेत करती हैं।

दोनों कवियोंकी मिलन-सम्भावनापर कुछ अभिमत

[१]"बड़े हर्षका विषय है कि उक्त दोनों कविश्रेष्ठोंमें साक्षात्कार भी हुआ था, वह भी एक बार नहीं अनेक बार। उन दोनोंमें आपसमें बड़ा प्रेम था, धार्मिक विद्वेष तो उन्हें छू तक न गया था। उनमें अपनी-अपनी रचनाओंका पारस्परिक लेन-देन भी हुआ था........आदि।"

[२]"उनके विषयमें कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, जिनपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता, किन्तु इसमें शक नहीं कि कविवर जहाँगीर बादशाह और महाकवि तुलसीदासजीके समकालीन थे और यह सम्भव है कि उनका परस्पर साक्षात्कार हुआ हो।"

[3]"यदि गोस्वामी तुलसीदाससे साक्षात्कार होनेकी बात सच होती तो उसका उल्लेख अर्धकथानकमें अवश्य होता, क्योंकि तुलसीदासका देहोत्सर्ग विक्रम संवत् १६८० में हुआ था और अर्धकथानक १६९८ में लिखा गया है। इसी तरह जहाँगीरकी मृत्यु भी १६८४ में हो चुकी थी। 'ज्ञानी बादशाह' वाला कवित्त नाटक समयसार (चतुर्दश गुणस्थानाधिकार पद्य ११५) में है और वह १६९३ में पूर्ण हुआ था।"

यह अन्तिम मत पं० नाथूराम प्रेमीका है। यह पर्याप्त प्रामाणिक है, परन्तु इसपर थोड़ा विचार और आवश्यक है। प्रेमीजीने कहा है अर्ध-कथानक तुलसीदासजीके देहोत्सर्गसे बादकी रचना है अतः उसमें ऐसे मिलनका उल्लेख होना चाहिए था। कुछ भी हो किसी पुष्ट प्रमाणके अभावमें इस चर्चाको पूर्ण सत्य तो नहीं माना जा सकता है।

---

१. 'वीर' पृ० ५५६ अगस्त १६२४।

२. 'हिन्दी जैन सा० का संक्षिप्त इतिहास' पृ० ११५ ले० कामताप्रसाद जैन डी० एल०।

३. 'अर्धकथानक' पृ० २५, सं० पं० नाथूराम प्रेमी।

सन्त सुन्दरदासजीसे समागम

सन्त सुन्दरदासजीका जन्म-समय विक्रम संवत् १६५३ और मृत्यु-काल संवत् १७४६ है। बनारसीदासजीका जन्म-संवत् १६४३ है अत: इन दोनों सन्तोंका समागम होना सम्भव है। दोनों ही कविवरोंको बड़ी घनिष्ठता थी, समय-समयपर मिलते थे। परस्पर पद्योंका आदान-प्रदान भी हुआ था। दोनों ही सन्तोंके काव्यमें अद्भुत साम्य (भाषा, भाव और शैलीकी दृष्टिसे) परिलक्षित होता है। सुन्दर ग्रन्थावलोकी विद्वत्तापूर्ण भूमिकामें पुरोहित हरिनारायण शर्मा बी० ए० लिखते हैं :—[1]"अपने सम्प्रदायके साधु-सन्तोंके अतिरिक्त आगरेमें कवि बनारसीदासजी जैन, काशीमें महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी, महाकवि केशवदासजी, महाकवि रायसुन्दरजी, पंजाबके कविश्रेष्ठ सिक्ख कवि भाई गुडदासजी आदिक समकालीन थे।" पुरोहितजी आगे लिखते हैं :—

[2]"प्रसिद्ध जैन कवि महात्मा बनारसीदासजीके साथ सुन्दरदासजीकी मैत्री थी। सुन्दरदासजी देशाटनमें जब आगरे गये तब ही बनारसीदासजी आदिकोंके साथ संसर्ग हुआ था। बनारसीदासजी सुन्दरदासजोकी योग्यता, कविता और यौगिक चमत्कारोंसे मुग्ध हो गये थे, तब ही उनकी श्लाघा मुक्त कण्ठसे उन्होंने की थी। परन्तु वैसे ही त्यागी और मेधावी बनारसी-दासजी भी तो थे। उनके गुणोंसे सुन्दरदासजी प्रभावित हो गये तब ही वैसी अच्छी प्रशंसा उन्होंने भी की थी। परस्पर हिन्दी भाषाके दो सुयोग्य कवियों और त्यागियोंका यह प्रेम सत्संग, स्तवन और सद्भाव मनपर कितना गहरा प्रभाव डालनेवाला है। इसको साधु, सत्संगतिके स्वादको जाननेवाले पुरुष सहज ही अवगत कर सकते हैं। अपने समयके बनारसी-दासजी भी अद्वितीय कवि और ज्ञानी थे। नाटक समयसारमें [3]'कीच सो

---

१. 'सुन्दर ग्रन्थावली' पृ० ५६ प्रथम खण्ड, सं० पुरोहित हरिनारायण शर्मा।

२. वही, पृ० ८८–८९।

३. कीच सौ कनक जाकै नीच सौ नरेस पद,
मीच सी मिताई गरुवाई जाकै गारसी।
जाहर सो जोग जाति, कहरसी करामाति,
हहर सी हौंस, पुद्गल छवि छारसी॥
जाल सौ जग विलास, भाल सौ भवन बास,
काल सौ कुटंबकाज लोक लाज लारसी।
सीठ सौ सुजास जाने बीठ सौ बखत मानै,
ऐसी जाकी रीति ताहि बंदत बनारसी॥ बन्धद्वार १९।

कनक जाके' छन्द है जो बनारसीदासजीने सुन्दरदासजीको भेजा था और सुन्दरदासजीने उसके उत्तरमें दो छन्द भेजे थे—[1]'धूल जैसो धन जाके' और [2]'काम हीन क्रोध जाके' तथा [3]'प्रीति सी न पाती कोउ' भी। कोई कहते हैं पहले सुन्दरदासजीने पिछला छन्द 'प्रीति सी न पाती' भेजा था। कुछ हो इनका आपसमें प्रेम था। दोनोंकी काव्य-रचनामें शब्द, वाक्य और विचारोंका साम्य स्पष्ट है। ये दोनों महात्मा आगरेमें कब मिले इसका पता नहीं है। हमको महन्त गंगारामजीसे तथा झूझडूके श्रीमाल सेठ अमोलक चन्दजीसे यह कथा ज्ञात हुई थी।

---

१. धूलि जैसो धन जाकै सूलि सो संसार सुख,
 भूलि जैसो भाग देखे, अन्त की सी यारी है।
पास जैसी प्रभुताई, साँप जैसो सनमान,
 बड़ाई हू बीछनी सी नागिनी सी नारी है॥
अग्नि जैसो इन्द्रलोक, विघ्न जैसो विधि लोक,
 कीरति कलंक जैसी, सिद्धि सींट डारी है।
बासना न कोउ बाकी ऐसी मति सदा जाकी,
 'सुन्दर' कहत ताहि वन्दना हमारी है॥ १५

२. कामहीन क्रोध जाके, लोभ हीन मोह ताके,
 मदहोन मच्छर न कोऊ न बिकारो है।
दुखहीन सुख माने, पापहीन पुन्य जाने,
 हरख न सोक आने, देह ही तें न्यारो है॥
निन्दा न प्रसंसा करे, राग हीन दोष धरे,
 लेन ही न देन जाके कछु न पसारो है।
'सुन्दर' कहत ताकी अगम अगाध गति,
 ऐसो कोऊ साधु सु तो रामजी को प्यारो है॥ १६
 (साधुको अंग पृ० ४६४)

३. प्रीत सी न पाती कोउ, प्रेम से न फूल और,
 चित्त सौ न चन्दन सनेह सौ न सेहरा।
हृदे सौ न आसन सहज सौ न सिंहासन,
 भाव सी न सौंज और सून्य सौ न गेहरा॥
सील सौ सनान नाहिं, ध्यान सौ न धूप और,
 ज्ञान सौ न दीपक अज्ञान तम केहरा।
मन सी न माला कोऊ सौंह सो न जाप और,
 आतमा सौ देव नाहिं, देह सौ न देहरा॥
 (सांख्यको अंग पृ० ५६६)

'नाटक समयसार' में नियति और हस्ताक्षर छन्द, सवैया मात्रिक और वर्णिककी चाल-ढाल सुन्दरदासजीसे मिलती-जुलती है। अडिल्ल छन्द और 'आत्मा ही राम है' वाला छन्द यथा—

"जैसे बनचारी में कुधातु के मिलाप हेम,
नाना भांति भयो पै तथापि एक नाम है।
कसि के कसौटी लीक निरखै सराफ ताहि,
बान के प्रमान करि लेतु देतु दाम है॥
वैसे ही अनादि पुद्‌गल सों संजोगी जीव,
नव तत्त्व रूप में अरूपी महाधाम है।
दीसे उनमान सों उद्योत वान ठौर-ठौर,
दूसरो न और एक आत्मा ही राम है॥ ६०॥"

तथा—"वरनादिक रागादि जड़, रूप हमारो नाहिं।
एक ब्रह्म नहि दूसरो, दीखे अनुभव मांहि॥" इत्यादि
....

तथा—"ऐसो सुविवेक जाके हिरदै प्रगट भयो,
ताको भ्रम गयो ज्यों तिमिर भग्यो भान सों॥" (अ०३।५ में)
....

तथा—"पानी को तरंग जैसे पानी में गुड़म है।" (अ० ८।४९ में)
पुनश्च—"यह मन चंग तो कठौत मांहि गंग है।" (अ० ८।४९ में)
इत्यादि।

इसी प्रकार परस्पर सभी दृष्टियोंसे मेल खानेवाले दोनों ही सन्तोंके अनेक छन्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

आज दुर्भाग्यसे अदालती ढंगसे हम भले ही यह न कह सकें कि ये दोनों सन्त परस्पर मिले थे और आदान-प्रदान भी किया था, परन्तु किंवदन्तियाँ भी सभी मिथ्या होती हैं यह भी कैसे कहा जा सकता है। सच्चे भक्त भी अपने श्रद्धेयको गलत बातोंसे बचाते ही हैं। फिर यह अपार साम्य कैसे भुलाया जा सकता है। अब विद्वान् आलोचक ही निर्णय करें कि वास्तविकता क्या हो सकती है।

महाकवि तुलसीदासजी और सन्त सुन्दरदासजीके बनारसीदासजीके साथ समागमकी चर्चा करके हमारा उद्देश्य एक-दूसरेके महत्त्वको बढ़ाना

कदापि नहीं और वह वास्तवमें बढ़ाता भी नहीं है, वे सभी स्वयं महान् थे। हमारा उद्देश्य केवल यही है कि ये समकालीन विद्वान् किस अगाध स्नेह भावसे एक-दूसरेसे मिले होंगे और एक-दूसरेकी प्रतिभासे परिचित हुए होंगे।

रचनाएँ

कविवर बनारसीदासने कई सुन्दर पद्यबद्ध ग्रन्थ रचे जो उनकी काव्य-प्रतिभा और ज्ञान-गरिमाको आज भी द्योतित कर रहे हैं। गद्य यद्यपि थोड़ा-सा ही लिखा है, परन्तु कविवरकी गद्य-निबन्धन-पटुताका तो वह परिचायक है ही। यहाँ कविकी रचनाओंका संक्षिप्त परिचय मात्र दिया जा सकेगा। अग्रिम अध्यायमें प्रत्येक रचनापर सविस्तार विचार होगा।

१. नवरस

बनारसीदासजीकी यह सर्व-प्रथम रचना थी। इसमें नव रसोंपर सुन्दर एवं ललित एक हजार पद्य थे। इसकी रचना कविने अत्यल्प वयमें अर्थात् वि० सं० १६५७ में जब कि वे केवल १४ वर्षके थे, की थी। कविवरने लिखा है सामान्यतया इसमें सब रसोंपर चर्चा है– "पै विसेस बरन आसिखी"। दुर्भाग्यसे कविने संवत् १६६२ में इस रचनाको गोमतीमें जलसमाधि दे दी। वे स्वयं लिखते हैं :–

> पोथी एक बनाई नई, मित हजार दोहा चौपई ॥१७८॥
> तामें नवरस रचना लिखी, पै बिसेस बरनन आसिखी।
> ऐसे कुकवि बनारसी भये, मिथ्या ग्रन्थ बनाये नये ॥१७९॥

गोमतीके पुलपर मित्रोंके साथ बैठे हुए कविवर इसी ग्रन्थकी रसमयी कविताएँ सुना रहे थे कि सहसा उन्हें इस आसक्तिपूर्ण, मिथ्या कवितासे अरुचि हो गयी और आवेशमें उस पूर्ण ग्रन्थको उन्होंने नदीके अपार जलमें प्रक्षिप्त कर दिया। सभी मित्र इस कार्यसे अत्यन्त दुःखी हुए, पर अपार जलमें बिखरे हुए अनेक पत्रोंको उठा भी न सकते थे, अतः खेदखिन्न होते हुए घर चले गये।

प्रेरणा-स्रोत

इस रचनाके सबसे बड़े प्रेरणा-स्रोत कविवर बनारसीदासजी स्वयं हैं, क्योंकि रसिकता और विषयासक्तिके बीज उनमें बहुत ही छोटी अवस्थासे

थे और यौवनागमसे पहले ही वे अनंगरंगमें मस्त हो गये थे। यह सब उनकी आत्मकथासे स्पष्ट ही है।

यद्यपि उक्त रचनामें मूल कारण कविकी रसिक प्रवृत्ति थी, परन्तु बाह्य सहायक प्रेरक कारण भी कम न थे। कविवरके समयमें जौनपुरमें मुसलमानोंका शासन था ही अतः जो सूफ़ी फ़क़ीर पहलेसे ही इस देशमें फैले थे वे इस समय तक और अधिक फैल रहे थे। जौनपुर उनके प्रेम-कथानकोंके प्रचारके लिए काफ़ी उपयुक्त पड़ा। ये सूफ़ी फ़क़ीर जनताको हिन्दुओंकी प्रेम-गाथाएँ, मुसलिम प्रेम-पद्धतिसे सुनाया करते थे। महाकवि जायसीका पद्मावत उन दिनों जौनपुरमें बड़ी रुचिके साथ पढ़ा-सुना जाता था। अनेक फ़क़ीरोंने तो इसके कई खण्ड कण्ठ कर लिये थे। आज भी जौनपुरमें और उसके आस-पास ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें पद्मावतके कई सुन्दर स्थल कण्ठ हैं। बहुत सम्भव है कविवर बनारसीदासपर इन प्रेम-गाथाओंका प्रभाव रहा हो और वे प्रेमकी प्रयोगशालामें अवतीर्ण होनेके साथ-साथ एक नवरसमय पद्यबद्ध ग्रन्थ लिखनेको इससे ही प्रेरित हुए हों।

आगरेमें जब व्यापारादिसे निराश होकर अपनी सब पूँजी गवाँकर बनारसीदासजी बेकारीके दिन व्यतीत कर रहे थे तब भी वे समय-यापनके लिए कुछ रसिकोंके बीच बैठकर मधुमालती और मृगावती नामक प्रेमाख्यानोंको बड़ी रुचिसे पढ़ा करते थे। इन प्रेमाख्यानोंका भी जौनपुरमें भारी प्रचलन था। इससे भी यही ध्वनित होता है कि कविमें प्रेमपरक भाव एवं रसरुचिके बीज बाल्यकालसे ही थे। उक्त दोनों ग्रन्थोंको अपने नवरस रचनाके पूर्व भी अवश्य पढ़ा होगा। दुर्भाग्यसे कविका नवरस ग्रन्थ आज हमारे सम्मुख नहीं है अन्यथा अन्यचर्चित ग्रन्थोंसे उसका मेल करके कविपर उनसे प्राप्त प्रभाव और प्रेरणाएँ देखी जा सकतीं।

२. मोह-विवेक युद्ध

कविवर बनारसीदासजीकी उपलब्ध रचनाओंमें 'मोह-विवेक युद्ध' सबसे पहलेकी प्रतीत होती है। यद्यपि इसमें कोई रचना-संवत् नहीं दिया हुआ है, परन्तु विषय और रचना-शैलीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह रचना कविवरकी प्रारम्भिक अवस्थाकी अर्थात् शृंगारिक जीवनसे विरक्ति-के ठीक पश्चात्की है। इसमें वासना-वृत्तियोंकी भारी भर्त्सना की गयी है। मोहात्मक प्रवृत्तियोंसे विवेकका युद्ध होता है और अन्तमें विवेक विजयी होता है। नाममाला, बनारसीविलास, अर्धकथानक और समय-

सारकी रचनाओंमें क्रमशः वर्धमान विद्वत्ता, काव्य-प्रौढ़ता एवं समुन्नत प्रतिभा परिलक्षित होती है। मोह-विवेकयुद्धका भाषासारल्य, भावोंकी स्वाभाविक उठान तथा शैलीकी प्रसादपरकता उसे कविकी प्रारम्भिक रचना सिद्ध करते हैं। इस रचनाके समय कविवरकी अवस्था लगभग २३-२४ वर्षकी रही होगी। यही उनकी विषय-विरक्तिका भी समय है।

उक्त रचना ११० छन्दोंमें पूर्ण हुई है। इसकी प्रामाणिकता आदिपर विशेष चर्चा तृतीय अध्यायमें की जायेगी।

इस रचनाको बनारसीदासजीकृत माननेमें नाथूरामजी प्रेमीको आपत्ति है, इसके लिए उन्होंने कई युक्तियाँ भी दी हैं। समर्थ शोधक अगरचन्द नाहटा[1]-जैसे विद्वानोंने इसे बनारसीदासकृत ही माना है और अनेक युक्तियों-द्वारा इसका समर्थन भी किया है। अग्रिम अध्यायमें, जो रचनाओंकी सविस्तार चर्चाके लिए ही है, इसपर विचार होगा।

३. बनारसी-नाममाला

जिनकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध है ऐसी उपलब्ध कृतियोंमें बनारसी-दासजीकी नाममाला सर्वप्रथम है। यह एक हिन्दीमें लिखा गया पद्यबद्ध शब्दकोष है। इसमें १७५ दोहे हैं। ये दोहे अत्यन्त सुबोध हैं। [2]अपने घनिष्ठ मित्र नरोत्तमदास और थानमलके आग्रहपर कविवरकी इस रचनामें प्रवृत्ति हुई थी। बनारसीदासजीके इस कोषके सम्बन्धमें लिखे गये एक दोहेसे यह स्पष्ट होता है कि इसमें २०० छन्द[3] थे, पर प्राप्त प्रतिमें १७५ दोहे ही हैं। इस सम्बन्धमें प्रेमीजी लिखते हैं—[4]"जान पड़ता है कि कविने उक्त दो-सौकी संख्या बत्तीस अक्षरोंका एक श्लोक मानकर ही रचा है। प्रत्येक दोहेमें बत्तीस अक्षरोंमें कुछ अधिक ही अक्षर हैं। इसके रचना-कालके सम्बन्धमें बनारसीदासजीने स्वयं ही लिखा है—

> "सोरह सै सत्तरि समै, आसौं मास सित पच्छ।
> विजै दसमि ससिवार तह, स्रवन नखत परतच्छ ॥१७१॥"
>
> —नाममाला

---

१. प्रेरणा स्रोत—मल्ल, लालदास, गोपालके मोह-विवेकयुद्धको 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटकसे प्रेरणा, बनारसीदासको इनसे प्रेरणा।

२. मित्र नरोत्तम थान, परम विचच्छन धरम निधि।
तास वचन परवान कियौ निबन्ध विचार मन ॥१७०॥ —नाममाला।

३. करी नाम माला सै दोइ, राखे अजित छन्द उर पोइ ।२८७। 'अर्धकथा'।

४. 'अर्धकथानक' पृ० २८, सं० नाथूराम प्रेमी।

अर्थात् जो आश्विन शुक्ला दशमी सोमवार संवत् १६७० में जौनपुर-में पूर्ण हुई।

कविने रचनाके प्रारम्भ और अन्तमें अपने गुरु भानुजीका उल्लेख किया है।

प्रेरणा-स्रोत

"मित्र नरोत्तम थान, परम विचच्छन धरम निधि।
तास वचन परवान, कियौ निबन्ध विचार मन॥"

से ही स्पष्ट है कि अपने मित्र नरोत्तमदास खोबरा और थानमल बदलिया-की प्रेरणासे ही कविवर बनारसीदासने यह कार्य किया। रचनाका आकार-प्रकार देखकर यह भी स्पष्ट-सा झलकता है कि बनारसीदासजीने अपनी रचनाका आधार या प्रेरणा-स्रोत महाकवि धनंजयकृत 'नाममाला' और 'अनेकार्थनाममाला' को चुना था। उक्त दोनों ग्रन्थोंके सम्मुख रहनेपर भी बनारसीदासजीने यह रचना पूर्ण स्वतन्त्र रूपसे की है। उनकी शैली और शब्द-गठनकी मौलिकताके साथ-साथ प्राकृत और हिन्दीके शब्दोंका आव-श्यक मेल भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह रचना इतनी सरल और स्पष्ट है कि सहजमें ही कण्ठ की जा सकती है।

४. नाटक-समयसार

यह एक श्रेष्ठ आध्यात्मिक रचना है। बनारसीदासजीकी सम्पूर्ण रचनाओंमें यह रचना सर्वाधिक लोकप्रिय है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें इसकी भारी मान्यता है। आत्मतत्त्वकी इतनी स्पष्ट विवेचना अन्यत्र दुर्लभ है। संसारके अन्तःबाह्यका वास्तविक दिग्दर्शन कराते हुए आत्माकी शुद्धातिशुद्ध अवस्थाका निरूपण अत्यन्त स्पष्टता, युक्तियुक्तता तथा प्रांजलताके साथ कविने किया है।

इसमें ३१० दोहा—सोरठा, २४५ सवैया इकतीसा, ८६ चौपाई, ३७ सवैया तेईसा, २० छप्पय, १८ कवित्त, ७ अडिल्ल और ४ कुण्डलियाँ हैं। समस्त छन्द ७२७ हैं। इस कृतिमें बनारसीदासजीने भावोंके पात्र खड़े किये हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व ही अभिनय करनेवाले पात्र हैं। भावोंका नाटकीय ढंगसे चित्रण करनेके कारण ही इस कृतिके नामके साथ नाटक शब्द जोड़ा गया है। समयसार शब्द आत्मतत्त्व स्वयंके लिए है।

कृतिके आधार

आचार्यप्रवर कुन्दकुन्दका 'समयप्राभृत', उसकी आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका और पं० राजमल्लकृत भाषा-टीका इन तीनों ग्रन्थोंके आधारपर ही इस हिन्दी पद्यबद्ध ग्रन्थका प्रणयन हुआ है। विशेष उल्लेखनीय सहायता पं० राजमल्ल कृत भाषा-टीकासे ही कविने ली है। पं० राजमल्लजी आदि अनेक अध्यात्मरसिकोंसे कविवरको प्रेरणा भी मिली है।

स्पष्ट है कि उक्त तीन ग्रन्थ इसके आधार हैं अतः यह ग्रन्थ बनारसी-दासजीकी एक मौलिक रचना नहीं कही जा सकती। परन्तु कविवरने भावोंका सार मात्र लेकर अनेक अलंकारों, प्रांजल भाषा और प्रसाद गुणवती शैली-द्वारा इतना रोचक बना दिया है कि वह कृति अपने मूलाधारोंसे बढ़कर प्रतीत होती है। विषयको स्पष्ट करनेके लिए पदे-पदे सुन्दर दृष्टान्त देकर उसे और भी सुगम कर दिया है। प्रेमीजी लिखते हैं—

"कहीं भी क्लिष्टता, भावहीनता एवं परमुखापेक्षा नहीं दिखलाई देती। ऐसा मालूम होता है कि कविने मूलग्रन्थके भावोंको बिलकुल आत्मसात् करके, अपने अनुभवोंके रूपमें प्रकट किया है। कवित्वकी दृष्टिसे भी यह रचना अपूर्व है।"

रचना-काल—आश्विन शुक्ला १३, रविवार सं० १६९३ में सम्राट्-शाहजहाँके शासन-कालमें आगरेमें यह कृति रची गयी।[1]

५. अर्धकथानक

कविवर बनारसीदासजीकी उपलब्ध रचनाओंमें यह तीसरी रचना है। यह समस्त भारतीय भाषाओंमें सर्वप्रथम हिन्दी पद्यबद्ध आत्मकथा है। कविवरकी ५५ वर्षकी जीवनी अत्यन्त सरल, संक्षिप्त एवं सत्यपरक होकर इस कृतिमें आयी है। उक्त तीन कसौटियाँ ही किसी आत्मकथाकी

---

१. 'अर्धकथानक', पृ० २६, सं० पं० नाथूराम प्रेमी।
सोरह सौ तिरानबै बीतै, आसौ मास सित पच्छ बितीतै।
तिथि तेरस रबिवार प्रवीना, ता दिन ग्रन्थ समापत कीना ॥३६॥
सुख-निधान सक बंध नर, साहिब साह किरान।
सहस-सहस सिर मुकुटमनि, साहजहाँ सुल्तान ॥३७॥ समयसार, पृ० ५४०।

उत्तमता सिद्ध करती हैं। अपनी भूलों, त्रुटियों और असफलताओंका वर्णन जितनी सीधी और स्पष्ट भाषामें कविने किया है उसे देखकर पाठक उनकी मानस-निश्छलताके सम्मुख नत हुए बिना नहीं रहता।

इस कृतिमें कविकी आत्मकथा तो प्रमुख रूपसे है ही, यथावसर ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राजनैतिक स्थितिके भी ऐसे उल्लेख कविने दिये हैं जिनसे आज भी इतिहासके कलेवरमें एक सुन्दर अध्याय और जोड़ा जा सकता है।

रचनाकी प्रेरणा

बनारसीदासजीने स्वतः प्रेरणासे ही यह रचना लिखी थी—वे लिखते है—

"बनारसी बिहोलिया, अध्यातमी रसाल ॥६७१॥
ताके मनु आई यहु बात, अपनौ चरित कहौं बिख्यात।
तब तिनि बरष पंच पंचास, परमिति दसा कही मुखमास॥६७२॥

बाबर और जहांगीरनामा कविके पूर्व ही लिखा जा चुका था, अतः अवश्य ही इससे प्रेरणा मिली थी।

रचना-काल—अगहन शुक्ला पंचमी सोमवार संवत् १६९८ में आगरेमें यह कृति पूर्ण हुई।

सोलह सै अट्ठानबै, संवत् अगहन मास।
सोमवार तिथि पंचमी, सुकल पक्ष परगास ॥६८०॥

६. बनारसी-विलास

कविवर बनारसीदासजीने पूर्वोक्त रचनाओंके अतिरिक्त बहुत-सी फुटकर रचनाएँ भी की थीं। इन रचनाओंकी संख्या अभी निश्चित रूपसे नहीं कही जा सकती, क्योंकि अभी जैन शास्त्रभण्डारोंकी खोज बाकी है और इसमें कविवरकी कुछ और स्फुट रचनाएँ मिलनेकी सम्भावना हैं। कविवरकी रचनाओंके संग्रहकर्ता पं० जगजीवनजीने चैत्र सुदी २ वि०सं० १७०१ को यह संग्रह किया था और उन्होंने इस संग्रहको यह नाम दिया था। इसमें एक छन्द-द्वारा ५७ रचनाओंका उल्लेख है और वे सभी रचनाएँ इसमें हैं। इन रचनाओंके अतिरिक्त ३ पद पं० नाथूराम प्रेमीको और दो पद पं० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल एम० ए० को कविवरके और मिले हैं। इन पाँच पदोंको भी कासलीवालजीने स्वसम्पादित बनारसी-

विलासमें दे दिया है। अतः अबतक कुल ६२ फुटकर रचनाएँ इसमें हैं।

इस संग्रहमें समय-समयपर कवि-द्वारा रचित विविध विषयोंकी विविध छन्दोंमें विविध रचनाएँ हैं। इन रचनाओंको विषयकी दृष्टिसे हम निम्न भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

१. धार्मिक कविताएँ, २. आध्यात्मिक कविताएँ, ३. अनूदित कविताएँ और ४. उपदेशप्रद कविताएँ।

कविवर बनारसीदासजीने जितनी स्फुट रचनाओंका उल्लेख किया है उन सबके अतिरिक्त 'कर्म प्रकृति विधान' नामक रचनाका भी, संग्रहकर्ताने संग्रह कर दिया है अतः कोई विशेष रचना छूटनेकी सम्भावना नहीं है।

७. बनारसी-पद्धति

स्व० बाबा दुलीचन्दजी-द्वारा संग्रहीत ग्रन्थोंकी सूची (जैन शास्त्र नाममाल) में 'बनारसी-पद्धति' नामक एक ग्रन्थका नाम दिया गया है जिसकी श्लोक-संख्या ५०० लिखी है। इसकी सम्भावनाओंपर कई प्रकारसे विचार हो चुका है परन्तु यह कृति प्राप्त कृतियोंका अंश सिद्ध नहीं होती। कोई स्वतन्त्र रचना ही हो सकती थी। विद्वानोंने इसे खोजनेका बहुत प्रयत्न किया है परन्तु आज ५० वर्षके लगभग हो जानेपर भी यह कृति नहीं मिली है। एकमात्र यही सम्भावना प्रबल मात्रामें विद्वानोंको मोहित और लालायित किये हुए है कि कहीं कविकी यह शेष जीवनी न हो। परन्तु जैसी कविकी मृत्युके सम्बन्धमें १७०० की प्रेमीजीकी धारणा है, यदि उसका संवत् उसी रूपमें मान लिया जाये तब तो जीवनीका प्रश्न उठता ही नहीं है, क्योंकि १६९८ में तो अर्धकथानक समाप्त हो हुआ था, भला दो वर्षमें वे लिखते भी क्या !

दुर्भाग्य है कि आज वह रचना प्राप्त नहीं है अन्यथा कुछ प्राणवान् विचार भी हो पाता।

बनारसीदासजीकी जन्मभूमि

कविवरकी जन्मभूमि जौनपुरमें आज जैनोंकी संख्या बहुत कम है। बनारसीदासजीके सम्बन्धमें क्या जैन क्या जैनेतर कोई भी व्यक्ति किसी प्रकारकी सूचना नहीं देते हैं। लोगोंको यह भी ज्ञात नहीं है कि एक सुयोग्य कवि एवं विद्वान्ने कभी जौनपुरको अलंकृत किया था। दो चार

लोग ही ऐसे मिलते हैं जो नाम लेने-भरमें अपना गौरव समझते हैं। लोगों-के इस प्रकार अपरिचित रहनेका एक प्रमुख कारण यह भी है कि जौन-पुरसे धनी-मानी लोगोंको कविवरके समयमें नवाबोंके अत्याचारोंके कारण कई बार भागना भी पड़ा था। इसमें जैनोंकी और अन्य वर्गोंके धनाढ्यों-की संख्या भी बहुत कम हो गयी। फिर बनारसीदासजीका अधिक समय अन्य स्थानोंमें और एक लम्बा समय आगरामें व्यतीत हुआ अतः जौनपुरमें पूरा बाल्यकाल भी मुश्किलसे बीत सका था।

मकान और मुहल्लाका पता तो असम्भव ही समझना चाहिए जबकि नाम लेनेवाले कम हैं।

देहावसान-समय

पं० बनारसीदासजीने अर्धकथामें अपने ५५ वर्षके जीवनका उल्लेख किया है और यह बड़ी आशाके साथ लिखा है कि मनुष्यकी आयु ११० वर्षकी इस समय सम्भव है अतः यह मेरा अर्धकथानक है। शेष फिर लिखूँगा। इससे तो वे अपने जीवनके प्रति बड़े उत्साही और आशावादी प्रतीत होते हैं। अर्धकथानक १६९८ में समाप्त हुआ था। कविवरकी अन्तिम रचना 'कर्म प्रकृति विधान' है। यह फाल्गुन सुदी सप्तमी संवत् १७०० को समाप्त हुई थी। इसके पश्चात्‌की उनकी कोई भी रचना आज तक प्राप्त नहीं हुई है। बनारसी-विलासका संग्रह चैत्र शुक्ला दोज सं० १७०१ को पं० जगजीवनजीने किया था। स्पष्ट है कि कर्म प्रकृति विधानके ठीक २५ दिन बाद यह संग्रह किया गया था। किसी व्यक्तिकी रचनाओंका संग्रह और इतनी शीघ्रताके साथ अवश्य ही किसी बहुत-बड़े कारणसे होता है। सम्भव-सा लगता है कि इसी बीच बनारसीदासजीका देहावसान किसी गहरी अस्वस्थताके कारण हो गया हो।

यद्यपि कविवरका देहान्त-समय अद्यावधि अनिश्चित है तथापि एक जनश्रुति जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं वह भी (जिसपर हम विश्वास करें या नहीं) उक्त निष्कर्ष ही हमें देती है।

यदि १७०० के पश्चात् कविवरका अस्तित्व रहा होता तो उनकी प्रौढ़ प्रतिभासे हमें अवश्य ही कुछ उज्ज्वल कविताएँ और प्राप्त होतीं।

उनके समकालीन किसी कविने उनके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा है अतः बाहरसे भी इस सम्बन्धमें हमें निराशा ही मिलती है।

■

रचनाएँ

प्रामाणिकता, पाठानुसन्धान, परम्परा और प्रणालियाँ

कविवर बनारसीदास जीकी रचनाएँ काव्य-विधाओंकी दृष्टिसे अनेक प्रकारकी हैं यथा महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तककाव्य, कोष एवं आत्मकथा काव्य आदि। इन विभिन्न विधात्मक रचनाओंमें हमें कविके बहुमुखी व्यक्तित्व, कृतित्व एवं विषय-चयन दृष्टियोंके दर्शन होते हैं। एक ओर अध्यात्मके भव्य धरातलपर उनका देदीप्यमान एवं सुलझा हुआ व्यक्तित्व हमें 'समयसार'-दर्पणमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है तो दूसरी ओर 'बनारसी विलास'-के अनेक स्थलोंमें चारित्रिक दृढ़ताके लिए आचारपर उनकी भारी आस्था देखी जा सकती है। शुष्क कल्पना, निर्बल भावुकता एवं व्यर्थके शब्दों अथवा अलंकारोंमें वे कभी नहीं बहे, उनकी कवितामें आद्यन्त वास्तविक जीवन-दर्शनने ही स्थान पाया। शब्दकोष (नाममाला) में उनका भाषाकी जिज्ञासासे परिपूर्ण एवं हिन्दीकी समृद्धिकी उत्सुकतासे भरित रूप हमें मिलता है। 'अर्धकथानक' में आपकी जीवन-भरकी घटनाओंका यथाघटित वास्तविक रूप प्रत्येक सहृदय पाठकके हृदयमें उनके प्रति अमिट आस्था उत्पन्न कर देता है। वे अपने किसी भी निन्द्य अथवा गोपनीय कर्मको अत्यन्त निर्भीकतापूर्वक प्रस्तुत करते हैं और इस चुनौतीके साथ कि भद्र अथवा अभद्र जो कुछ भी हूँ, यह हूँ। किसीकी निन्दा अथवा प्रशंसाकी मानो उन्हें कोई चिन्ता नहीं है।

जहाँ भाव-प्रकाशन और विषय-चयनमें हम कविवरके वशंवद हुए बिना नहीं रहते वहाँ उनकी प्रबन्धपटुता भी स्तुत्य है। उनमें 'समयसार'-जैसे प्रबन्ध-काव्यके लिए सागर-जैसी गम्भीरता और हिमालय-सदृश महत्ता विद्यमान है। सम्पूर्ण काव्यमें उनकी कवित्वशक्ति कहीं भी शिथिल, दुर्बल एवं निस्तेज नहीं होने पाती। प्रत्येक छन्दमें भाव और कलाका अद्भुत सम्मिलन हुआ है। निर्मल एवं अजस्र स्रोतस्विनीकी भाँति उनका काव्य-प्रवाह चलता है। इस प्रबन्धनैपुण्यमें ही उनकी पूर्णता नहीं है,

उनमें मुक्तकों-द्वारा अपनी भावोर्मियोंको प्रकट करनेकी भी भारी क्षमता है। 'बनारसीविलास' में हम कविवरके इसी मुक्तकमय उन्मुक्त रूपके दर्शन करते हैं। इस संग्रहके अधिकांश मुक्तक पाठकको अक्षय जीवन-सुरभिसे आभरित कर देनेवाले हैं। कविवरकी आत्मकथाकी प्रबन्धोत्कृष्टता एवं शालीनता तो आज सर्वविदित है ही। प्रस्तुत अध्यायमें आपकी सभी रचनाओंका विस्तृत अध्ययन किया जायेगा।

बनारसीदासजीके नामसे प्रचलित रचनाएँ—नाममाला, समयसार, बनारसीविलास, अर्धकथानक, मोहविवेकयुद्ध एवं नवरसपद्यावलि हैं। इनमें-से 'मोहविवेकयुद्ध'पर ही विद्वानोंका सर्वाधिक मतभेद रहा है। कतिपय विद्वान् इसे बनारसीदासकृत मानते हैं और कुछ आलोचक नहीं। इसपर इसी अध्यायमें विचार होगा। 'नवरस पद्यावलि' को तो कविने अपने ही समयमें स्वयं उसके अतिशृंगारिक वर्णनोंसे ऊबकर गोमती नदीकी भेंट चढ़ा दी थी अतः उसकी प्राप्तिका प्रश्न ही नहीं उठता है। कविकी अन्य रचनाएँ आज प्राप्त हैं।

नाममाला

बनारसीदासजीकी प्राप्त रचनाओंमें 'नाममाला' सबसे पूर्वकी है। इसकी समाप्ति आश्विन सुदी १०, संवत् १६७० को हुई थी।[1] अपने परममित्र नरोत्तमदास खोबरा और थानमल खोबराकी प्रेरणासे कविकी प्रवृत्ति इस रचनामें हुई थी। यह हिन्दी पद्य-बद्ध शब्दकोश १७५ दोहोंमें है। बनारसीदासजीकी यह रचना मौलिक नहीं कही जा सकती, हाँ इसकी साज-सज्जा, व्यवस्था, शब्दयोजना तथा इसमें लोक-प्रचलित शब्दोंकी योजनाके कारण उनकी आंशिक मौलिकताके दर्शन इसमें होते हैं। रचना मौलिक नहीं है परन्तु मौलिक ढंगसे लिखी गयी है। यह नाममाला प्रसिद्ध कवि धनंजयकी संस्कृत नाममाला और अनेकार्थ कोषके आधारपर रची गयी है। यद्यपि बनारसीदासजीकी नाममाला उक्त नाममालाओंका

१. मित्र नरोत्तम थान, परम विचच्छन धरम निधि (धन)।
तासु बचन परवान, कियौ निबन्ध विचार मन ॥१७०॥
सोरह सौ सत्तरि समै, असोमास सित पच्छ।
बिजै दसमि ससि बार तह, स्रवन नखत परतच्छ ॥१७१॥
दिन-दिन तेज प्रताप जय, सदा अखण्डित आन।
पात साह किर नूरदी, जहाँगीर सुल्तान ॥१७२॥

अविकल अनुवाद नहीं है, और न नामोंका क्रम तथा नामोंकी संख्या ही उन रचनाओंसे मिलती है, हाँ उन रचनाओंके शब्दोंको यथावश्यक रूपसे ग्रहण किया गया है। बनारसीदासजीने अपनी आत्मकथामें स्वयं ही उल्लेख किया है कि अपनी १४ वर्षकी अवस्थामें पं०[1] देवदत्तसे उन्होंने नाममाला और अनेकार्थ कोष पढ़े थे। उक्त दोनों रचनाएँ अवश्य ही कविवर धनंजय कृत रही होंगी। कारण यह है कि बनारसीदासजीने उनकी श्लोक-संख्या २०० कही है। यह श्लोक-संख्या वस्तुतः धनंजय नाममालाकी है। संवत् १६७१ में जौनपुर[2] के किलीचखांके ज्येष्ठपुत्रको कविवरने नाममाला और श्रुतबोध पढ़ाये थे। इससे भी यही ध्वनित होता है कि वे धनंजय नाममालासे भली भाँति परिचित थे।

कविवर धनंजय-कृत नाममालासे बनारसीदासजीकी नाममालाका साम्य बैठानेपर ऐसा रंचमात्र भी प्रतीत नहीं होता कि बनारसी नाममाला धनंजय नाममालाका अनुवाद-मात्र है। बनारसीदासजीने अपनी नाममाला-के प्रारम्भमें ही कहा है कि शब्द-सिन्धुका मन्थन करके प्रचलित भाषाके तथा प्राकृत और संस्कृतके शब्द लिये गये हैं। इससे भी यही ध्वनित होता है कि धनंजय नाममालासे कविने कुछ शब्दोंकी ही सहायता ली है अवि-कल अनुवाद नहीं किया है। सम्भव है, 'अमरकोष' से भी कविवर प्रभा-वित रहे हों किन्तु धनंजय नाममालाकी श्लोक-संख्या और बनारसीदास-जीकी नाममालाकी श्लोक संख्या क्रमशः २०५ और १७५ हैं जो लगभग एक-सी है। फिर नाममाला पढ़ानेकी भी चर्चा कविने की है अतः धनंजय-की नाममालासे ही वे प्रभावित थे। कविके समयमें 'मानमंजरी'-जैसे दो-एक हिन्दी पद्यबद्ध शब्दकोष भी आ ही चुके थे अतः कविवर उनसे भी प्रभावित रहे हों यह भी सम्भव प्रतीत होता है।

---

१. पंडित देवदत्त के पास, किछु विद्या तिन करी अभ्यास ॥१६८॥
पढ़ी नाममाला सै दोई, और अनेकारथ अवलोई ॥१६९॥
कबहुं नाममाला पढ़ै, छन्द कोख सुतबोध।
करै कृपा नित एकसी, कबहूं न होइ विरोध ॥४५५॥ अर्धकथा० ॥

२. सबद सिन्धु मन्थान करि, प्रगट सु अर्थ विचारि।
भाषा करै बनारसी, निज गति मति अनुसार ॥२॥
भाषा प्राकृत संसकृत, विविध सु सबद समेत।
जानि बखानि, सुजान, वह, एं पद पूरन हेत ॥३॥

—बनारसी नाममाला

धनंजय और बनारसी नाममालाके कुछ उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जायेगा कि इन दोनोंमें कितना साम्य है—

आकाशके नाम

(धनंजय) खं विहायो वियद् व्योम गगनाकाशमम्बरम् ।
द्यौर्नभोऽभ्रोऽन्तरिक्षं च मेघवायुपथोऽप्यथ ।।५३।।

(बनारसी) पुहकर गगन बिहाय नभ, अन्तरिक्ष आकाश ।

बनारसीदासजीने नाटक समयसारमें भी आकाशके नाम दिये हैं—

खं विहाय अम्बर गगन, अन्तरिक्ष जगधाम ।
व्योम वियत नभ मेघपथ, ये अकाश के नाम ।।

सूर्य नाम

(धनंजय) तरणिस्तपनो भानु-ब्रघ्न-पूषाऽर्यमा रविः ।
तिग्मः पतङ्गो द्युमणिर्मार्तण्डोऽर्को ग्रहाधिपः ।।४६।।
इनः सूर्यस्तमोध्वान्तः तिमिरारिर्विरोचनः ।
दिनं दिवाहर्दिवसो वासरस्तत्करश्च सः ।।५०।।
चक्रवाकाऽब्जपर्यायबन्धुकुमुदविप्रियः ।
यमुनायमकानीनजनकः सविता मतः ।।५१।।

(बनारसी) सूर दिवाकर धामनिधि, सहस किरन हरि हंस ।
मार्तण्ड दिनमनि तरनि, आदिति आतप अंस ।।३९।।
सविता मित्र पतंग रवि, तपन हेलि भगमान ।
जगत विलोचन कमल हित, तिमिर हरन तिगमान ।।४०।।

बाण नाम

(धनंजय) शिलीमुखः शरो बाणो मार्गणो रोपणः कणः ।
इषु काण्डं क्षुरप्रं च नाराचं तोमरं खगः ।।७८।।

(बनारसी) सरसायक नाराच खग, बान सिलीमुख कण्ड ।।१४१।।

इन चार प्रकारके नामोंके उद्धरणोंके देखनेसे स्पष्ट पता चलता है कि दोनोंमें कोई साम्य नहीं है। नामोंकी संख्या और क्रम भी स्वतन्त्र हैं। अतः यह कहना न्यायसंगत नहीं होगा कि बनारसीदासजीने अनुवाद मात्र किया है। यही कहा जा सकता है कि कवि अपने पूर्वाचार्य धनंजयसे प्रभावित अवश्य रहे और उनपर यह प्रभाव अप्रत्यक्ष रूपसे देखा भी जा सकता है। अनेक नामोंके साथ कविवर बनारसीदासने अपने समयमें प्रच-

लित देशभाषा एवं प्राकृतके शब्द भी रखे हैं।

बनारसीदासजीने जहाँ भी अपनी रचनाओंका उल्लेख किया है वहाँ अपनी नाममालाकी भी चर्चा की है। अतः यह रचना उनकी है इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं किया जा सकता। बनारसीदासजीकी यह कृति हिन्दी पाठकोंको भारी लाभप्रद सिद्ध हुई है और अब भी हो रही है। उक्त कृतिकी प्रामाणिकता सर्वथा असन्दिग्ध है।

पाठानुसन्धान

कविवर बनारसीदासजीकी नाममाला सन् १९४१ में पं० जुगलकिशोर मुख्तारके सम्पादकत्वमें प्रथम बार मुद्रित रूपमें प्रकाशित हुई थी। इसके प्रकाशनमें उन्होंने दिल्लीके मन्दिरोंसे प्राप्त दो प्रतियोंसे सहायता ली थी। अन्य विद्वानोंने उसी समयसे 'नाममाला'की और हस्तलिखित प्रतियाँ अनेक जैन मन्दिरोंमें खोजनेका प्रयत्न किया परन्तु अद्यावधि कोई भी प्रति नहीं मिली है। पिछले ३ वर्षोंसे मैंने भी आगरा, अलीगढ़, मथुरा, फ़ीरोज़ाबाद, जयपुर, बीकानेर एवं जौनपुरके जैन शास्त्र भण्डारोंको देखा है परन्तु इस कोषकी कोई अन्य प्रति प्राप्त नहीं हुई है। इसके न मिलनेका एक प्रमुख कारण यही हो सकता है कि मन्दिरोंमें स्वाध्यायकी दृष्टिसे धर्मप्रधान ग्रन्थोंका ही संग्रह होता था अतः नाममालाके संग्रहकी जैन पण्डितोंने चिन्ता न की हो। प्रस्तुत मुद्रित नाममालाके सभी पाठ प्रायः शुद्ध हैं।[1] इस मुद्रित कोषका संशोधनादि कार्य मुख्यतया एक ही प्रतिपर-से हुआ है, जो सेठका कूँचा देहलीके जैन मन्दिरकी पुस्तकाकार १५ पत्रात्मक प्रति है, श्रावण शु० सप्तमी संवत् १९३३ की लिखी हुई है। पं० बाँकेरायकी मार्फ़त रामलाल श्रावक दिल्ली दरवाजेके रहनेवालेसे लिखाँयी गयी थी, इन्द्राजजीका मन्दिर लिखा है। मुख्तारजीकी उक्त प्रतिके अतिरिक्त एक हस्तलिखित प्रति पानीपतके छोटे मन्दिरके शास्त्र-भण्डारसे मार्फ़त पं० रूपचन्दजी गार्गीयके प्राप्त हुई। इसका लिपि-संवत् १८९८ आश्विन शुक्ला द्वितीया शनिवार है। इसे चौधरी दीनदयालने जलपथ नगर (पानीपत) में लिखा है। पाठों और अवस्थाके सम्बन्धमें पं० परमानन्दजी शास्त्री लिखते हैं—"इस प्रतिका पहला और अन्तके ४ पत्र दूसरी क़लमसे लिखे हुए हैं और वे शेष पत्रोंकी अपेक्षा अधिक अशुद्ध हैं। इस प्रतिसे

१. 'नाममाला', पृ० १३–१४ प्रस्तावना, सं० पं० जुगलकिशोर मुख्तार।

भी संशोधनादि कार्यमें कितनी ही सहायता मिली है। यों प्रतियाँ दोनों ही थोड़ी-बहुत अशुद्ध हैं और उनमें साधारण-सा पाठभेद भी पाया जाता है, जैसे देहलीकी प्रतिमें तनय, तनया पाठ हैं तो पानीपतकी प्रतिमें तनुज, तनुजा पाठ पाये जाते हैं। स, श, य, ज-जैसे अक्षरोंके प्रयोगमें भी कहीं-कहीं अन्तर देखा जाता है और ख के स्थानपर ष का प्रयोग तो दोनों प्रतियोंमें बहुलतासे उपलब्ध होता है जो प्रायः लेखकोंकी लेखनशैलीका परिणाम जान पड़ता है।"[1] प्राप्त प्रतियोंकी लिपि जिन प्रतियोंके अथवा जिस प्रतिके आधारसे हुई होगी वह प्रति सम्भवतः आगरेके ताजगंज अथवा मोती कटराके जैन मन्दिरोंसे ही प्राप्त हुई होगी। प्रयत्न करनेपर भी आज वे मूल प्रतियाँ न आगरामें मिलती हैं और न देहलीमें। नाममालाकी वे प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ नष्ट हो गयी हैं यह कहना कठिन है, वे अवश्य ही किसी प्राचीन जैन मन्दिरमें संगृहीत की गयी होंगी। मैंने उन्हें खोजनेका अनेक शास्त्र भण्डारोंमें प्रयत्न किया परन्तु मुझे निराश ही होना पड़ा। सम्भव है प्रयत्न करनेपर (प्रसिद्ध नगरोंके जैन मन्दिरोंके शास्त्र भण्डार देखनेपर) हमें और भी प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त हो जायें।

जहाँतक और पाठानुसन्धानकी बात है वह तभी सम्भव हो सकती है जब कि कुछ और प्रामाणिक प्रतियाँ प्राप्त हो जायें। अभी जिन प्रतियोंके आधारसे कार्य हो ही चुका है उन्हींको आधार मानकर चलनेमें कोई नयी बात मिलनेकी आशा नहीं है। मुख्तारजी-द्वारा सम्पादित नाममाला भी पाठोंकी दृष्टिसे पर्याप्त मात्रामें प्रामाणिक है।

परम्परा

संस्कृत साहित्यमें शब्दकोषोंकी परम्परा एक लम्बे समयसे रही है। अमरकोष, हेमलिंगानुशासन एवं धनंजय नाममाला ये तीनों संस्कृत शब्दकोष आज भी संस्कृतानुरागी जनतामें बड़ी रुचि और तत्परतासे कण्ठ किये जाते हैं। अमरकोष ईसाकी चतुर्थ शतीमें प्रणीत हुआ था। इसके सैकड़ों संस्करण और अनेक टीकाएँ हो चुकी हैं। इतना विशाल पद्यमय शब्दकोष भारतकी ही नहीं सम्पूर्ण विश्वकी किसी भी भाषामें न मिलेगा।

धनंजय कवि-द्वारा २५१ संस्कृत पद्योंमें दशम शताब्दीमें एक सरल शब्दकोषकी रचना की गयी। यह कोष लघुकाय अवश्य है परन्तु अत्यन्त

---

१. 'नाममाला', पृ० १४ प्रस्तावना : सम्पादक पं० जुगलकिशोर मुख्तार।

उपयोगी एवं लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। इसमें अन्तिम ४६ श्लोक अनेकार्थक शब्दोंके लिए हैं। ये ४६ पद्य तो वास्तवमें संस्कृत साहित्यके रत्न हैं। बहुधा लोग एक शब्दके एक या दो अर्थोंको जानते हैं और जब वे शब्द किसी तीसरे ही अर्थमें प्रयुक्त हो जाते हैं तो उनकी बुद्धि और पाण्डित्यको लज्जित होना पड़ता है। इस लज्जासे बचनेके लिए और स्वयंका ज्ञान समृद्ध करनेकी दृष्टिसे ये ४६ श्लोक बड़े उपयोगी हैं। उदाहरणार्थ एक-दो विविधार्थक शब्दोंके पद्य प्रस्तुत हैं—

गो शब्द ११ अर्थोंमें प्रयुक्त होता है देखिए—

[1]"वाचि वारि पशौ भूमौ, दिशि लोम्नि पवौ दिवि।
विशिखे दीधितौ दृष्टावेकादशसु गौर्मतः ॥२६॥"

गौ शब्दके वाच् (बोली), वार् (पानी), पशु, भूमि, दिशा, लोमन् (रोम), पवि (वज्र), दिव् (आकाश), विशिख (बाण), किरण और दृष्टि ये ११ अर्थ हैं।

इसी प्रकार हरि शब्दके भी अनेक अर्थ देखिए—

"चन्द्रे सूर्ये यमे विष्णौ वासवे दर्दुरे हये।
मृगेन्द्रे वानरे वायौ दशस्वपि हरिः स्मृतः ॥ २७ ॥"

अर्थात् चन्द्र, सूर्य, यम, विष्णु, इन्द्र, दर्दुर (मेंढक), घोड़ा, सिंह, बन्दर और वायु ये १० अर्थ हैं।

बारहवीं शताब्दीमें आचार्य हेमचन्द्रने हेमलिंगानुशासनकी रचना की। इससे विद्यार्थी और विद्वान् आज भी लाभ ले रहे हैं। इसमें शब्दोंके लिंग निर्णयका सुन्दर एवं विद्वत्तापूर्ण विवेचन है। यद्यपि मूलतः यह एक व्याकरणका ग्रन्थ है परन्तु इसके द्वारा शब्दोंकी एक विस्तृत एवं सुलझी हुई परम्परा और व्यवस्थाके दर्शन होते हैं अतः इसे हम कोषकी श्रेणीमें भी आंशिक रूपसे रख सकते हैं।

इन संस्कृत कोषोंके अतिरिक्त इस भाषामें फिर किसी कोषकी रचना नहीं हुई।

हिन्दीमें शब्दकोषोंकी परम्परा

हिन्दीमें सबसे पहला पद्यबद्ध शब्दकोष कविवर नन्ददासका मिलता

१. 'धनंजय नाममाला', (अनेकार्थ नाममाला) २६।

है।[1] 'मानमंजरी' और 'अनेकार्थनाममाला' इन दो शब्दकोषोंकी रचना आपने की। आपका रचना-काल महाकवि सूरदासके मृत्यु संवत् (१६२६) के पश्चात् या कुछ पूर्व माना जाता है।

'मानमंजरी' में कविने पद्यके पूर्वार्धमें किसी वस्तुके नाम और उत्तरार्धमें मानवती नायिकाके साथ उनका सामंजस्य कराया है। नन्ददासजीने अमरकोषके आधारपर इस कोषकी रचना की है। वे स्वयं लिखते हैं :

[2]"गूँथनि नाना नाम की, अमरकोष के भाइ।
मानमती के मान परि, मिलै अर्थ सब आइ॥"

मानमती नायिकासे किस प्रकार कविने सभी नामोंको मिलाया है इसके लिए एक दो उद्धरण पर्याप्त होंगे—

मानके नाम—[3]"अहंकार मद दर्प पुनि, गर्व समय अभिमान।
मान राधिका कुँअरि को, सबको करौ कल्यान॥"

कृपा नाम—[4]"दया मया कृपा घृणा, अनुकम्पा अनुक्रोश।
करुणा की करुणा निधे, राधे जिन करि रोष॥"

कुछ नाम ऐसे भी हैं जिनके उत्तरार्धमें मानमती राधाके मानकी चर्चा नहीं की गयी है। यथा—

सर्पनाम—"पनग नाग भुजग उरग, जिह्मग भोगी सर्प।
चक्षुस्रवा हरि सरीसृप, काकोदर गर दर्प॥" इत्यादि।

इसमें भी अन्तिम शब्द 'गरदर्प' के द्वारा मानमतीके मानका हलका-सा संकेत कर ही दिया गया है

असुर नाम—"दानव दनुज दैत्य पुनि, सुररिपु असुर असंग।
माया रूपी रैन दिन, डोलत असुर अनंत॥"

सम्पूर्ण कोषमें २४८ पद्य हैं।

कविवर नन्ददासका दूसरा कोष अनेकार्थनाममाला है। यह कोष कविवर धनंजयकी अनेकार्थनाममालाके आधारपर उसी रचनापद्धतिसे हिन्दी पद्योंमें रचा गया है।

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'।
२. नन्ददासजी : 'मानमंजरी', छन्द ४।
३. वही।
४. वही।

इसके पश्चात् कविवर बनारसीदासकी नाममाला आती है। इसमें १७५ पद्योंमें ३४८ वस्तुओंके नाम दिये गये हैं। कृति सरल एवं सुबोध है। पाठकको हृदयंगम करनेमें सरलता होती है। कविने सम्पूर्ण शब्दकोषमें अनावश्यक शब्दोंको कहीं भी स्थान नहीं दिया है। जहाँ दोहा पूर्ण होनेके पूर्व ही किसी वस्तुके नाम समाप्त हो गये हैं वहाँ कविने उस दोहेको येन-केन प्रकारेण समाप्त करनेका क्रम नहीं रखा है, अपितु ठीक वहींसे किसी दूसरी वस्तुके नाम प्रारम्भ कर दिये हैं।

बनारसीनाममालाकी एक सबसे बड़ी विशेषता इस कोषमें लोक-प्रचलित हिन्दी और प्राकृत शब्दोंका लिया जाना भी है। प्राचीन कोषोंके आधारपर संस्कृतके शब्द ही अन्य कोषकारोंने लिये हैं। बनारसीदासजीने अपनी नाममाला-द्वारा हिन्दी जनताके सम्मुख संस्कृतकी निधि तो व्यवस्थित रूपमें रखी ही है साथ ही उसे तात्कालिक जनभाषाके शब्दोंसे समृद्ध भी किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कविने कोषोंकी परम्पराके विकासमें भारी योग दिया है।

[1]कविवर बनारसीदासके पश्चात् इस परम्परामें कविवर चन्दनने एक शब्दकोषकी रचना की। इनके शब्दकोषका नाम भी नाममाला है। यह संवत् १८५० के लगभग की है। चन्दनजी नाहिल पुवायाँ (जि० शाहजहाँपुर) के रहनेवाले बन्दीजन थे। आपने शृंगारसागर, काव्याभरण आदि कई ग्रन्थ लिखे। आपका शब्दकोष कविवर नन्ददास और बनारसीदासकी परम्पराका ही पूरक है।

इसके पश्चात् कविवर [2]गोकुलनाथने संवत् १८७० में एक 'नामरत्नमाला' की रचना की। यह रचना हिन्दी पद्यमय है। इसके द्वारा भी कोष साहित्यकी पारम्परिक पूर्ति हुई।

आगे चलकर इस प्रकारके पद्यात्मक कोषोंकी परम्परा समाप्त हो गयी। उक्त पद्धतिसे रचे गये कोषोंमें पाठकोंको अकारादि क्रमके बिना भारी असुविधा होती थी। किसी भी वस्तुके अनेक नाम तो मिल जाते थे, परन्तु किसी शब्दका अर्थ जाननेके लिए पाठकको पूरा कोष छानना पड़ता था अथवा पण्डितोंकी शरणमें जाना पड़ता था। आज अत्यन्त वैज्ञानिक पद्धतिसे हिन्दीमें अकारादि क्रमसे सुसज्जित एवं यथावसर सचित्र गद्यमय

---

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्यका इतिहास', पृ० ३२५।

२. वही, पृ० ४२०।

कई लाख शब्दप्रमाण कोषोंकी रचना हो चुकी है। इस शताब्दीके प्रारम्भमें 'गौरी नागरी कोश', 'मंगल कोश' आदि दो-चार लघु कोश ही मिलते थे जो उस समय किसी प्रकार हिन्दीकी पूर्ति कर रहे थे। हिन्दीमें विस्तृत, व्यवस्थित एवं कलापूर्ण कोश-निर्माणका कार्य सर्वप्रथम काशी नागरी प्रचारिणी सभाने सन् १९०९ में आरम्भ किया और बीस वर्षोंमें उसने 'हिन्दी शब्द सागर' मुद्रित करके हिन्दी जनताके सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। यह कोष हिन्दी-भाषी जनताके लिए आदर्श एवं सर्वश्रेष्ठ था। भारतीय भाषाओंमें भी अपने ढंगका यह पहला शब्दकोश था। जहाँ इसकी इतनी प्रसिद्धि जनता में हो रही थी वहाँ इसके सम्पादक मण्डलके प्रमुख व्यक्ति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं श्री रामचन्द्र वर्मा स्वयं ही त्रुटियोंका भी अनुभव कर रहे थे। आगे चलकर वर्माजीने संवत् २००७ में प्रामाणिक हिन्दी कोश अत्यन्त व्यवस्थित रूपसे प्रस्तुत किया। इसमें 'हिन्दी शब्द सागर' की छापे-सम्बन्धी एवं क्रम-सम्बन्धी सभी भूलोंका ध्यान रखा गया। नालन्दा शब्दकोष भी सुन्दर रूपमें प्रकाशित हो गया है, और भी कई हिन्दी कोष प्रकाशित हुए हैं। इस प्रकार हिन्दीमें कोषोंकी भव्य परम्परा आज भव्यतर ही हो रही है।

प्रणालियाँ

शब्दकोषोंके इतिहास और परम्परापर दृष्टिपात करते समय उनकी विभिन्न रचना-प्रणालियोंपर भी दृष्टि जाना स्वाभाविक है। कोषकारोंकी रचना-शैलियाँ भिन्न-भिन्न रही हैं। संस्कृतके शब्दकोषोंकी रचना-प्रणाली पद्यात्मक ढंगसे वस्तुओंके विविध नाम गिनानेकी रही है। कहीं-कहीं शब्दोंके लिंगादिकका भी संकेत कर दिया गया है।

स्वर्गके नाम—[1]"स्वरव्ययं स्वर्ग-नाक-त्रिदिव-त्रिदशालयाः।
सुरलोको द्यो-दिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम्॥"

संस्कृत कोषकारोंने अकारादि क्रमसे अपने कोषोंकी रचना नहीं की। इससे पाठकको किसी शब्दका अर्थ जाननेके लिए या तो शब्दकोष कण्ठ करना पड़ा है या कोष-सागरमें अनेक गोते लगाकर उसे खोजना पड़ा है या किसी विद्वान्को (जिसे सम्पूर्ण कोष कण्ठस्थ रहा हो) शरणमें जाना पड़ा है। आज भी संस्कृत पढ़नेवाले छात्रोंको अमरकोष कण्ठस्थ करना पड़ता है। एक वस्तुके अनेक पर्यायवाची शब्द एवं एक शब्दके अनेक अर्थ

१. 'अमरकोष', श्लोक-संख्या ६।

स्पष्ट करनेकी भव्य प्रणाली इन कोषोंकी रही है। विद्यार्थी बाल्यावस्थामें ही कोष पढ़ लेता है फिर वह जीवन-भर शब्दकोषके बिना स्वयं ही शब्द-कोष बनकर अपना अध्ययन-अध्यापनसम्बन्धी कार्य चलाता रहता है। उसे पदे-पदे कोषकी शरण नहीं लेनी पड़ती है। इन कोषोंको कण्ठस्थ करनेमें भी छात्रोंको सुगमता होती है।

हिन्दीके पद्यात्मक कोषोंमें भी संस्कृतकी रचना-प्रणालीको अपनाया गया। वही पद्यात्मक ढंग, वही नामोंकी गणना एवं अनेकार्थक शब्दोंका क्रम हमें यहाँ भी मिलता है। संस्कृत कोषोंकी भाँति हिन्दी कोषोंमें भी एक ही श्लोकमें दो-तीन वस्तुओंके नाम भी रखे गये हैं। खींच-तानकर श्लोककी पूर्ति नहीं की गयी है। संस्कृत कोषोमें कहीं-कहीं च, ननु, अथ एवं व इन शब्दों-द्वारा श्लोकपूर्तिमे सहायता ली गयी है। हिन्दी कोषोंमें भी पुनि, और तु, सु आदि शब्द दोहा-पूर्तिके लिए अपनाये गये हैं।

जहाँ हिन्दीके कोषकारोंने संस्कृत कोषोंका इतना अनुकरण किया है वहाँ उन्होंने अपनी मौलिकताका भी सुन्दर परिचय दिया है। कविवर नन्ददासकी 'मानमंजरी' में हमें पद्यके पूर्वार्धमें किसी वस्तुके नाम और उत्तरार्धमें राधाके मानपर उसे घटित करनेकी शैली मिलती है। सर्वत्र अभिधा शक्ति एवं प्रसाद गुण है। यह क्रम सम्पूर्ण कोषमें नहीं है परन्तु अधिकांशमें यही क्रम है।

कविवर बनारसीदास कविवर नन्ददासके उत्तरवर्ती हैं। बनारसी-नाममालामें हमें एक आदर्श रचना-शैलीके दर्शन होते हैं। अबतक कवियों-ने हिन्दीमें संस्कृतके शब्दोंको हिन्दीकी क्रियाओंके साथ ज्योंका त्यों रखकर ही कोषोंकी रचना की थी। कहीं-कहीं संस्कृतके शब्दोंके लोक-प्रचलित (विकसित या विकृत) रूपको भी लिया था। बनारसीदासजीने अपनी नाममालामें संस्कृतके कोषोंके शब्द तो लिये ही साथमें जनतामें प्रचलित प्राकृत और लोकभाषाके शब्द भी लिये। इससे पाठकोंकी दृष्टिमें आपके कोषकी उपयोगिता स्वभावतः अधिक सिद्ध हुई। सम्पूर्ण कोष दोहोंमें ही रचा गया है।

आपकी रचना-शैलीकी दूसरी विशेषता कोष-जैसे रूक्ष विषयको अनु-प्रासों-द्वारा पदे-पदे सरस बनानेमें है। संस्कृत अथवा हिन्दीके किसी भी कोषमें यह बात नहीं मिलती। आपके पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती किसी भी कोषकारने पाठकोंकी रुचिका ध्यान रखकर कोषकी रूक्षतामें सरसता

लानेका कोई प्रयत्न नहीं किया, इस ओर उनकी दृष्टि ही नहीं गयी। बनारसीदासजीकी नाममालाके प्रायः प्रत्येक दोहेमें पद-लालित्यवर्धक अनुप्रासकी मोहक छटा मिलती है। उदाहरणार्थ कुछ दोहे प्रस्तुत हैं :

समुद्रके नाम—"[1]सिन्धु समुद्र सरिताधिपति, अम्बुधि पारावार।
अकूपार सागर उदधि, जलनिधि रतनागार॥"

पवित्र नाम—"[2]पावन पूत पवित्र सुचि, अवलम्बन आधार।"

कलश, कोष नाम—"कुम्भ कलश भृंगार घट, गरम कोस मण्डार॥"

लता, फुलवारी—"[3]बल्ली बेलि व्रतति लता, वाटिक कुसुम अराम।"

सुगन्ध एवं मालानाम—"सुरभि सुगन्ध सुवासना,
माल हार स्रज दाम॥"

सिंहनाम—"[4]कण्ठीरव कुंजर दमन, हरि हरिधिप मृगसूल।
बली पंचमुख केसरी, सरम सिंह सार्दूल॥"

कविवर बनारसीदासजीकी 'नाममाला' के पश्चात् और भी हिन्दी पद्यमय २-३ शब्दकोष रचे गये परन्तु रचना-प्रणालीकी दृष्टिसे उनमें कोई नवीनता दृष्टिगोचर नहीं होती, प्राचीन परम्पराके आधारपर ही इनकी रचना हुई है।

शब्दकोषोंकी गद्यात्मक आधुनिक वैज्ञानिक अकारादि क्रमकी पद्धतिने तो प्राचीन शब्दकोषोंका पठन-पाठन ही रोक-सा दिया है। आजका पाठक किसी शब्दार्थमें अटकनेपर तत्काल कोषका आश्रय लेता है। प्राचीन विद्वानोंको एक ही शब्दके अनेक पर्यायवाची शब्द कण्ठ होते थे अतः वे स्वयं एक चलते-फिरते कोष होते थे। किसी भी ग्रन्थको समझनेमें उन्हें असुविधा नहीं होती थी। प्राचीन कोषोंमें अकारादि क्रमका अभाव तो है ही, साथ ही वे पूर्ण भी नहीं हैं। इतना होनेपर भी उनका महत्त्व आज भी अनेक दृष्टियोंसे है और आगे भी रहेगा।

२. नाटक समयसार

अध्यात्म सन्त कविवर बनारसीदासकी समस्त कृतियोंमें 'नाटक समयसार' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह बनारसीदासजीकी मूल कृति नहीं

१. 'बनारसी नाममाला', ५१।
२. वही, ५७।
३. वही, १५१।
४. वही, १५२।

है। आचार्यप्रवर कुन्दकुन्दने 'समय पाहुड़' की रचना की थी। आगे चलकर इसी रचनाकी 'आत्मख्याति' नामक विशद टीका आचार्य अमृतचन्द्रने की। आचार्य अमृतचन्द्रने समय पाहुड़के मूल भावको विस्तृत एवं स्पष्ट करनेके लिए स्थान-स्थानपर स्वरचित पद्य भी दिये हैं, जो कलश नामसे प्रसिद्ध हैं। इनकी संख्या २७७ है। आचार्य अमृतचन्द्रके कलशोंपर भट्टारक शुभचन्द्र (१६वीं शताब्दी) की 'परमाध्यात्मतरंगिणी' नामक संस्कृत टीका भी है। इसके पश्चात् पांडे राजमल्लजीने कलशोंपर एक बालबोधिनी टीकाकी हिन्दीमें रचना की। यह रचना गद्यमें है। तात्कालिक हिन्दी-गद्यके स्वरूपको प्रस्तुत करनेमें भी भारी सहायक है। यह रचना बनारसीदासजीको प्राप्त हुई थी। उन्होंने अपने मित्रोंमें इसका वाचन किया। मित्रोंने इस रचनाके श्रवण-पाठनके पश्चात् एक उत्सुकतापूर्ण उद्गार व्यक्त किया—

"नाटक समैसार हित जीका, सुगम रूप राज मल टीका।
कवितबद्ध रचना जो होई, भाषा ग्रन्थ पढ़े सब कोई॥"

बनारसीदासजीके मित्रोंने 'समयसार' की कवित्तबद्ध अर्थात् हिन्दी पद्यमय रचनाका भव्य उद्गार कविवरकी काव्य-प्रतिभाको ध्यानमें रखकर ही व्यक्त किया था। कविवर 'समयसार' की अनुपम अध्यात्मपरक व्याख्यासे स्वयं तो अत्यधिक प्रभावित थे ही, मित्रोंका स्नेह-भरित आग्रह सुनकर इस दिशामें उनकी प्रतिभा सद्यः साकार हो उठी। भाव-भरित मार्मिक एवं सुकुमार पद्योंमें बनारसीदासजीने 'समयसार' का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत कर दिया। यद्यपि बनारसीदासजीके 'समयसार' का मूलाधार आचार्य कुन्दकुन्दका 'समय पाहुड' है और उसीसे स्पष्टीकरणके हेतु कविने अपना हिन्दी पद्यमय 'नाटक समयसार' रचा भी, परन्तु इसकी भावगहनता, मूलकी अपेक्षा भारी विशदता, वस्तुको उपस्थित करनेकी निजी अद्भुत क्षमता आदि विशेषताएँ इसे निस्सन्देह रूपसे एक मौलिक कृतिकी कोटिमें प्रस्तुत करती हैं।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यके प्राकृतमें रचित 'समय पाहुड' अमृतचन्द्राचार्यके उसके आधारपर लिखे गये कलश एवं आत्मख्याति नामक टीका और तत्पश्चात् पांडे राजमल्लजीकी बालबोध-भाषाटीका रची गयी। इस भाषा टीकाके आधारपर बनारसीदासजीने इस हिन्दी पद्यबद्ध समयसार नाटककी रचना की है। कविवरपर आचार्य कुन्दकुन्द एवं अमृतचन्द्रा-

चार्यका प्रभाव भी अवश्य ही रहा है। बनारसीदासजीके समयसारमें जो मार्मिकता एवं भाव-गाम्भीर्य और विवेचन-पटुता है वह उनकी अद्भुत प्रतिभा एवं पाण्डित्यकी स्पष्ट परिचायिका है। बनारसीदासजीने आचार्य कुन्दकुन्दके 'समयपाहुड' के मर्मको जिस प्रतिभा कला और विद्वत्ता (जो सर्वत्र सारल्यसे ओतप्रोत है) के वातावरणमें प्रस्तुत किया है, वह अद्भुत है, वरेण्य है, श्लाघ्य है। यह कृति अपने बहुमुखी आकर्षणोंके कारण कविकी मौलिक कृति-जैसी ही प्रतीत होती है।[1] 'नाटक समयसार' कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है फिर भी एक मौलिक ग्रन्थ-जैसा मालूम होता है। कहीं भी क्लिष्टता, भावहीनता और परमुखापेक्षा नहीं दिखलाई देती। अर्थात् बनारसीदासजीने समयसारके कलशोंका अनुवाद ही नहीं किया है, उसके मर्मको अपने ढंगसे इस तरह व्यक्त किया है कि वह बिलकुल स्वतन्त्र ग्रन्थ-जैसा मालूम होता है और यह कार्य वही लेखक कर सकता है जिसने उसके मूल भावको अच्छी तरह हृदयंगम करके अपना बना लिया है। जैन अध्यात्मके पुरस्कर्ताओंमें आचार्य कुन्दकुन्दका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। उनके अध्यात्मसम्बन्धी अनेक ग्रन्थोंमें 'समयपाहुड' सर्वश्रेष्ठ है। इसका रसास्वादन विद्वज्जन भी बड़ी कठिनतासे कर पाते थे, सामान्य जिज्ञासु जनोंकी उत्सुकता निराशामें ही परिणत होती रहती थी। बनारसीदासजीने समयसारके हिन्दी पद्यानुवाद-द्वारा उत्तर भारतके जैन-जगत् के लिए वही कार्य किया जो महात्मा तुलसीदासजीने रामचरितमानस-द्वारा सम्पूर्ण उत्तर भारतके लिए किया था। आचार्य कुन्दकुन्दकी वास्तविक प्रसिद्धिका श्रेय कविवर बनारसीदासजीको ही है। जनता कविवरके समय तक अपने प्रमुख महर्षि एवं अध्यात्म सन्त कुन्दकुन्द स्वामीको विस्मृत-सा करने लगी थी। बनारसीदासजीकी इस कृतिमें मौलिकता भी अनेक स्थलोंपर देखी जा सकती है। प्राय: सम्पूर्ण ग्रन्थके प्रतिपादनमें कविने पदे-पदे मौलिकताके हृदयहारक पुट दिये हैं। कई स्थलोंपर एक ही पद्यके भावको सरलातिसरल एवं स्पष्ट करनेके लिए कविने कई पद्य दिये हैं। कविकी मौलिकता प्राप्त रचनाको मौलिक ढंगसे और यथावश्यक विस्तारसे भी उपस्थित करनेमें देखी जा सकती है।

बनारसीदासजीके[2] समयसारमें ३१० दोहा-सोरठा, २४५ इकतीसा

१. 'अर्धकथानक', पृ० ५८, सं० पं० नाथूराम प्रेमी।
२. 'समयसार', अन्तिम प्रशस्ति ३९।

कवित्त, ८६ चौपाई, ३७ तेईसा सवैया, २० छप्पय, १८ घनाक्षरी, ७ अडिल्ल, ४ कुण्डलियाँ इस प्रकार सब मिलकर ७२७ पद्य हैं। आचार्य कुन्दकुन्दकी मूल कृतिमें २७७ पद्य हैं। बनारसीदासजीने मूल कृतिसे पूर्ण तादात्म्य स्थापित करके अपने समयसारको मौलिक भावसे रचना की है। अतः इतना विस्तार भी स्वाभाविक हो गया। समयसारकी रचना-समाप्ति-की तिथि बनारसीदासजीने स्वयं ही दी है[1]—

सोरह सौ तिरानबे बीते, आसौ मास सित पच्छ बितीतै।

तिथि तेरस रविवार प्रवीना, ता दिन ग्रन्थ समापत कीना।

अर्थात् विक्रम संवत् १६९३ आश्विन मास शुक्ल पक्ष त्रयोदशी रवि-वारके दिन यह ग्रन्थ समाप्त किया।

इस विस्तारके अतिरिक्त बनारसीदासजीने ११३ पद्योंमें गुणस्थान अधिकार सर्वथा स्वतन्त्र रूपसे ही लिखा है। प्रारम्भमें उत्थानिकामें ५० पद्य तथा अन्त उपसंहारमें भी ४० स्वतन्त्र पद्य आपके मौलिक कृतित्व एवं भव्य उपस्थितिके अक्षय ज्योतिर्दीप-सदृश विद्यमान हैं।

समयसारकी विषय-व्यवस्था

कविवर बनारसीदासजीने समयसारमें विषय-व्यवस्था प्राचीन ग्रन्थ 'समयपाहुड' एवं अमृतचन्द्राचार्यके कलशोंके आधारपर रखी है। विषयारम्भमें ५१ पद्य, साध्य-साधकद्वारके पश्चात् गुणस्थानोंकी चर्चामें ११३ पद्य तथा अन्तमें ४० सुन्दर पद्यों-द्वारा आपने ग्रन्थको सर्वथा परि-पूर्ण कर दिया है। संक्षेपमें सम्पूर्ण ग्रन्थकी विषय-व्यवस्थाके सम्बन्धमें स्वयं बनारसीदासजी लिखते हैं—

"जीव निरजीव करता करम पुन्न पाप,
आस्रव संवर निरजरा बन्ध मोष है,
सरब विसुद्धि स्यादवाद साध्यसाधक,
दुवादस दुवार धरै समसार कोष है।
दरबानुयोग दरबानुजोग दूरि करै,
निगम को नाटक परम रस पोष है,
ऐसो परमागम बनारसी बखाने जामैं,
ग्यान कौं निदान सुद्ध चारित की चोख है॥"

(उत्थानिका ५१)

---

१. 'समयसार', अन्तिम प्रशस्ति ३६।

अर्थात् 'समयसार'जीके अक्षयकोषमें जीव, अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, सर्वविशुद्धि, स्याद्वाद और साध्य-साधक ये बारह द्वार हैं। यह उत्तम ग्रन्थ जीवको कर्मादिक पर-वस्तुओंसे पृथक् कर मोक्षमार्गकी निष्कर्म अवस्थाकी ओर बढ़ानेवाले द्रव्यानुयोगका भण्डार है। यह आत्माका नाटक (विविध दशाओंका वर्णन करनेवाला) परम रस—उत्तम आत्मशान्तिका प्रदाता है। ज्ञानका प्रमुख स्रोत एवं शुद्ध चारित्रका वर्द्धक है।

कविने आत्माकी सभी सांसारिक अवस्थाओंसे निर्लिप्त दशाका अत्यन्त मार्मिक, हृदयग्राही एवं सिद्धान्त-समन्वित चित्र प्रस्तुत किया है।

ग्रन्थका आरम्भ कवि तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथकी, सिद्धोंकी एवं साधुओंकी स्तुतिसे करते हैं। इसके पश्चात् सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि जीवोंके स्वभावोंकी चर्चा करते हुए वे अपने कविकर्मकी लघुताका भी बड़ी विनयसे उल्लेख करते हैं। अन्तमें वस्तुके नाम, जीवद्रव्यके नाम तथा दर्शन आदिके नामोंका उल्लेख करके ग्रन्थके अधिकारोंकी गणना करते हुए कविवरने ५१ पद्योंकी उत्थानिका समाप्त की है।

१. जीवद्वार

नाटक समयसारका यह प्रथम अधिकार है। इसमें जीवकी अर्थात् आत्माकी जैनदर्शनके अनुसार व्याख्या की गयी है। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, निर्विकल्प, देहातीत एवं आनन्दघन है। अपनी अत्यन्त निर्मल अवस्था पाते ही परमात्मा पद यह आत्मा ही प्राप्त कर लेता है। यह अनादि अनन्त है। आत्मा अपने स्वरूपसे शुद्ध-स्वच्छ है परन्तु संसारी दशामें पड़कर अनादि कालसे शरीर और कर्मोंसे मलिन हो रहा है। वास्तवमें कर्म और शरीर आत्माका स्वयं कुछ नहीं बिगाड़ सकते परन्तु स्वयं आत्माने इनको अपने ऊपर बोझ समझ लिया है और अपनी अनन्त ज्ञान-दर्शनकी शक्तिको भूल बैठा है।

जैन दर्शनमें आत्माको समझनेके दो प्रकार हैं—एक निश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय। जीवको देहसे पृथक् शुद्ध एवं निर्विकल्प समझनेवाला निश्चय नय है और शरीरसे सम्पृक्त राग-द्वेष मोहादिकसे जीवको मलिन करनेवाला व्यवहार नय है। कविवरने स्पष्ट किया है कि इन नयों-द्वारा जीवकी दशाओंका विचार करके अपने शुद्ध निर्विकल्प स्वरूपकी ओर अग्रसर होना चाहिए।

बनारसीदासजी आत्माका शुद्ध स्वरूप कितनी निखरी हुई शैलीसे

स्पष्ट करते हैं, देखिए—

> "कहे विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं।
> अपने रस सौं भर्यो आपनी टेक हौं।
> मोह कर्म मम नाहिं नाहिं भ्रम कूप है,
> सुद्ध चेतना सिन्धु हमारो रूप है॥"[1]

२. अजीवद्वार

'समयसार' जीव-तत्त्वकी व्याख्या करनेवाला ग्रन्थ है। इसमें अजीव तत्त्वकी चर्चा कुछ अप्रासंगिक लग सकती है, परन्तु है नहीं। जिस प्रकार हीरा और स्वर्णका परिचय कराते समय काँच और पीतल-जैसे भ्रमोत्पादक पदार्थोंका परिचय कराना भी आवश्यक हो जाता है, उसी प्रकार जीव-तत्त्वके स्वरूपको दृढ़ करनेके लिए अजीव-तत्त्वको समझना भी आवश्यक समझा है। अजीव-तत्त्व जीव-तत्त्वसे सर्वथा भिन्न है। जीवका लक्षण चेतन और अजीव अचेतन है। अचेतन पदार्थ पुद्गल, नभ, धर्म, अधर्म और कालके भेदसे पाँच प्रकारका है। पुद्गलरूपी और शेष चार अरूपी हैं। पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण युक्त है। जीव द्रव्यमें ऐसा कोई चिह्न नहीं है। पुद्गल अचेतन, रूपी और सखण्ड है जब कि जीव चेतन, अरूपी और अखण्ड है। जीवका स्वभाव और गुण यद्यपि पुद्गलसे सर्वथा पृथक् हैं फिर वह जीव पौद्गलिक वस्तुओंमें ही सुख-दुःखकी निःसार कल्पना करता रहता है। संसारकी समस्त नाट्यलीला पुद्गलके कारण हो है। प्रस्तुत अजीवाधिकारमें यही स्पष्ट किया गया है कि यह शरीर जड़ है, अचेतन है, नाशवान् है, इसमें आत्मीयता खोजना ही मिथ्या ज्ञान है। बनारसीदासजीने चेतन और अचेतन अर्थात् अजीव द्रव्यकी भिन्नता अत्यन्त सुलझे हुए ढंगसे दो पंक्तियोंमें स्पष्ट कर दी है। गागरमें सागर भरनेकी अद्भुत क्षमताका एक उदाहरण देखिए—

> [2]"चेतनवंत अनंत गुण, सहित सु आतम राम।
> याते अनमिल और सब, पुद्गल के परिनाम॥"

३. कर्ता-कर्म-क्रियाद्वार

अज्ञानके कारण जीव स्वयंको कर्म और क्रियाका कर्ता मानता है। वस्तुतः है नहीं। ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गल रूप हैं, अचेतन हैं, पुद्गल

---

१. 'समयसार', जीवद्वार ३३।
२. 'समयसार', अजीवद्वार ४।

ही इनका कर्ता है, आत्मा नहीं। इस अधिकारमें कविने यही विचार सुन्दर शैली-द्वारा प्रस्तुत किया है कि शुभाशुभ कर्म तथा क्रिया आत्म-जनित नहीं हैं इनको आत्माका मानना अज्ञान है। आत्मा अपने चिद्भाव कर्म और चैतन्य क्रियाका कर्ता है।

४. पुण्य-पाप-एकत्वद्वार

दान, दया, संयम, शील, भक्ति तथा व्रतादिकमें उत्पन्न होनेवाली जीवकी विशुद्ध भाव दशा ही पुण्य है। विषयोंमें प्रवृत्ति, कलुषता, द्वेष, मैथुन एवं परिग्रह आदिमें उत्पन्न हुआ अशुद्ध भाव पाप है। पुण्य और पाप ये दोनों ही संसारके कारण हैं। आत्माकी शुद्ध दशामें बाधक हैं। पुण्य सोनेकी बेड़ी है और पाप लोहेकी। ये दोनों ही बेड़ियाँ इस जीवको संसारमें बन्दी बनाकर भ्रमण कराती हैं। पुण्य शुभोपयोग है और पाप अशुभोपयोग है, शुद्धोपयोग इनमें-से कोई नहीं है। वास्तविक आत्मकल्याण शुद्धोपयोग अर्थात् पाप-पुण्यसे—राग-द्वेषसे परेकी अवस्थामें ही सम्भव है। जबतक आत्मा पूर्णतया स्वलीन नहीं हो जाता तबतक मुक्ति सम्भव नहीं है।

५. आस्रव-अधिकार

द्रव्यास्रव एवं भावास्रवके भेदसे आस्रव दो प्रकारका है। शुभाशुभ पुद्गल प्रदेश अशुद्ध आत्मा-द्वारा आकृष्ट होकर जो क्रिया करते हैं वह द्रव्यास्रव है और राग-द्वेष मोहादिक भाव भावास्रव है। आत्मामें कर्मोंका आगमन आस्रव है। उक्त दोनों ही आस्रव संसारके कारण हैं अतः जीवके सम्यग्ज्ञानमें बाधक हैं। आस्रव विभाव-परिणति है, पौद्गलिक है, आत्मा-का निज स्वभाव नहीं है ऐसा विचार कर आत्मज्ञानी जन इससे पृथक् ही रहते हैं।

६. संवरद्वार

मिथ्यात्वमय आस्रव भावोंका निरोध करनेवाली क्रिया अथवा भाव ही संवर है। यह संवर भाव आत्माको निर्मल करता है और उसकी मुक्तिमें भारी सहायक होता है। संवरभाव वास्तवमें जीवकी भेदविज्ञान-परक दृष्टि ही है। इस दृष्टिसे उसमें स्व-परविवेकका अनोखा भाव आ जाता है।

७. निर्जराद्वार

निर्जराका अर्थ है कर्मोंका झरना। विवेकी जीव जब पदार्थका वास्त-

विक स्वरूप समझ लेते हैं और अपनी आत्माकी निराकुल अवस्थाका परिचय भी कर लेते हैं, तो उन्हें निर्मल सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है और असंख्य कर्मोंकी सहजमें ही निर्जरा हो जाती है। सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जानेपर जीवकी प्रत्येक क्रिया फलकी इच्छारहित ही होती है अतः कर्मोंका आस्रव नहीं होता और बँधे कर्मोंकी निर्जरा ही होती है।

८. बन्धद्वार

जीवके कर्म-बन्धनमें मन, वचन और कायके योग, चेतन अचेतनकी हिंसा और पंचेन्द्रियोंके विषय कारण नहीं हैं। केवल राग आदि अशुद्ध मनोभाव ही बन्धनका कारण है। इसी भावको बनारसीदासजीने अत्यन्त सरल-ललित शैली-द्वारा व्यक्त किया है—

[1]"कर्म जाल वर्गना सौं जग में बँधे न जीव,
बँधे न कदापि मन-वच-काय जोग सौं,
चेतन अचेतन की हिंसा सौं न बँधे जीव,
बँधे न अलख पंच-विषै-विष-रोग सौं।
कर्म सौं अबन्ध सिद्ध जोग सौं अबन्ध जिन,
हिंसा सौं अबन्ध साधु ग्याता विषै-भोग सौं
इत्यादिक वस्तु के मिलाप सौं न बँधे जीव,
बँधे एक रागादि असुद्ध उपयोग सौं॥"

९. मोक्षद्वार

जीवकी निष्कर्म अवस्था ही मोक्ष है। निश्चय नय अथवा शुद्ध दृष्टि-से तो जीव सदैव निष्कर्म अर्थात् मुक्त ही है क्योंकि वह कर्मोंसे वस्तुतः बँधा ही नहीं है, कर्म पौद्गलिक—भौतिक हैं और आत्मा अभौतिक—अरूपी एवं अविनश्वर है। अतः इन दोनोंके स्वभाव और गुण पृथक्-पृथक् होनेसे ये परस्पर सम्बद्ध हो ही नहीं सकते। आत्मा ही स्वयंको इनसे बँधा हुआ अनुभव करता है और भटकता है। जीवकी मुक्ति हो गयी अथवा होगी यह कथन व्यावहारिक दृष्टिसे ही सत्य है, निश्चय दृष्टिसे तो जीव मुक्त एवं निर्बन्ध है। जिस क्षण भी जीवमें स्वयं ही मुक्तावस्थाका उदात्त भाव अपनी पूर्णतासे प्रविष्ट हो जायेगा उसी क्षण वह मुक्तिका आनन्दानु-भव कर लेगा। बनारसीदासजीने निर्विकार मोक्षोन्मुख आत्माका अत्यन्त

१. 'समयसार', बन्धद्वार ४।

सुलझा हुआ पद्य-चित्र प्रस्तुत किया है :–

[1]"जे अविकलपी अनुभवी, सुद्ध चेतना युक्त।
ते मुनिवर लघुकाल में, होंहि करम सों मुक्त॥"

१०. सर्वविशुद्धिद्वार

आत्माको पाप-पुण्य एवं राग-द्वेषसे परेकी निराकुल एवं निजानन्द-परक अवस्था उसकी आत्यन्तिकी निर्मलताका प्रमुख कारण है। इसी आत्मानुभवका फल साक्षात् निर्वाण-पद है। बनारसीदासजीने इसी भावको प्रस्तुत पदमें बड़ी प्रभावपूर्ण शैलीमें चित्रित किया है :–

[2]"जोई द्रिग चरनातम में बैठि ठौर,
भयो निरदौर पर वस्तु को न परसै।
सुद्धता विचारै ध्यावै सुद्धता में केलि करै,
सुद्धता में थिर ह्वै अमृत धारा बरसै।
त्यागि तन कष्ट ह्वै सपष्ट अष्ट करम को,
करि थान भ्रष्ट नष्ट करै और करसै।
सो तो विकलप बिजई अलप काल माँहि,
त्यागि भौ विमान निरवान पद परसै॥"

स्पष्ट है–जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र-पूत आत्मामें स्थिर हो जाता है, निरदौर अर्थात् शान्त परिणामी होकर पर-वस्तुओंका स्पर्श भी नहीं करता, सर्वदा विचारमें, ध्यानमें, क्रीड़ामें आत्मशुद्धिको ही अग्रसर करता है अर्थात् आत्मशुद्धि–आत्मानन्द ही जिसका जीवन हो जाता है। दैविक कष्ट जिसे कोई वेदना नहीं दे पाते, कर्मोंकी सत्ता जो सहजमें ही छिन्न-भिन्न कर देता है–ऐसा आत्मशोधक अविलम्ब निर्वाण-पद पाता है।

११. स्याद्वादद्वार

जैन दर्शनको यदि 'स्याद्वाद' शब्दसे भी अभिहित किया जाये तो अनुचित न होगा। स्याद्वाद वस्तुका आपेक्षिक दृष्टिसे कथन करता है। इसमें एक वस्तुके पूर्ण अध्ययनके लिए उसके सभी आपेक्षिक सम्बन्धोंपर दृष्टि रखना आवश्यक हो जाता है। आचार्य अमृतचन्द्रने कुन्दकुन्दा-

---

१. 'समयसार', मोक्षद्वार ४३।

२. 'समयसार', सर्वविशुद्धिद्वार १६।

चार्यके 'समयसार' में 'स्याद्वादद्वार' स्वयं रचकर और जोड़ दिया इससे ग्रन्थकी उपयोगित और भी अधिक हो गयी। आचार्य अमृतचन्द्रने स्याद्-वादद्वारके सम्बन्धमें अत्यन्त भव्य उद्‌गार व्यक्त किये हैं। बनारसीदास-जीने वे उद्‌गार पद्यबद्ध किये हैं—

"[1]अद्भुत ग्रन्थ अध्यातम बानी, समुझै कोऊ बिरला ज्ञानी,
यामैं स्याद्वाद अधिकारा, ताकौ जो कीजै विसतारा ॥ १ ॥
तौ गिरन्थ अति शोभा पावै, वह मन्दिर यह कलस कहावै।
तब चित अमृत बचन गढ़ि खोलै, अमृतचन्द्र आचारज बोलै॥२॥"

१२. साध्य-साधकद्वार

किसी वस्तुको प्राप्त करनेवाला तो साधक होता है और जिसे साधा जाये अर्थात् प्राप्तव्य वस्तु साध्य होती है। इस रीतिसे साध्य और साधक पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं और व्यवहार दृष्टिसे हैं भी परन्तु शुद्ध निश्चय-नयकी दृष्टिसे आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधक है। अन्तर इतना ही है कि जीवकी ऊँची अवस्था जो उसे आगे चलकर प्राप्त हो जायेगी साध्य है और नीची अवस्था अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रावक एवं साधु आदि साधक हैं।

१३. चतुर्दश गुणस्थानाधिकार

गुणस्थान अधिकारकी रचना बनारसीदासजीकी मौलिक रचना है। गुणस्थानका अर्थ इस प्रकरणमें है—गुण अर्थात् जीवके मनोभावों—परि-णामोंके आधारपर उसका उन्नत एवं अधःपतित होना। जिस प्रकार विभिन्न रंगोंका सम्पर्क प्राप्त करनेसे वस्त्र बहुवर्णी एवं अनेकाकार हो जाता है उसी प्रकार शुद्ध एवं निरंजन आत्मापर अनादि कालसे मोह और योगोंके सम्बन्धके कारण अनेक विकृत अवस्थाओंके आवरण आ जाते हैं, इन्हींका नाम गुणस्थान है। ये आवरण अथवा अवस्थाएँ अनेक हैं परन्तु आचार्योंने उन सभीका समाहार जिन १४ गुणस्थानोंमें किया है वे ये हैं: १. मिथ्यात्व, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. अविरत, ५. देशव्रत, ६. प्रमत्त, ७. अप्रमत्त, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मलोभ, ११. उपशान्त मोह, १२. क्षीण मोह, १३. सयोगी और १४वाँ अयोगी।

इसके पश्चात् बनारसीदासजीने अन्तमें प्रशस्ति दी है जिसमें जीवकी

१. 'समयसार', स्याद्वादद्वार १–२।

विभिन्न अवस्थाएँ, कुकवि-सुकवि वर्णन, ग्रन्थ लिखनेका प्रेरणा स्रोत आदि फुटकर बातोंका पद्यात्मक परिचय ४० पद्योंमें दिया है।

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थको कविने अत्यन्त सुन्दर एवं आकर्षक ढंगसे व्यवस्थित करके अपनी योजनाशक्ति एवं प्रबन्ध-पटुताका अनुपम परिचय दिया है।

प्रामाणिकता

बनारसीदासजी 'समयसार' में हमारे सम्मुख कोरे अनुवादकर्तासे बहुत आगे आते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दके मूल पाठपर रचे गये कलश और उन कलशोंपर बालबोधिनी टीका—ये दोनों रचनाएँ कविके सम्मुख थीं। हम कुछ उद्धरणों-द्वारा यह स्पष्ट जान सकेंगे कि बनारसीदासजीके सामने जो आधार थे उन्हें उन्होंने पूर्णतया हृदयंगम करके पूर्ण स्वतन्त्र रूपसे ही पद्यमय विवेचन किया है—

कलश

"नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्,
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्ते।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरा पूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥ १ ॥"

बालबोधिनी टीका

अथ ज्ञानपुञ्जः स्फूर्जति। अयं कहता विद्यमान छै। ज्ञानपुंज कहता शुद्ध जीव द्रव्य। स्फूर्जति कहता प्रगट होइ छै। तत्त्वार्थ सो जु रहा ताहि लेइ करि जीवको जैसे शुद्ध स्वरूप छै। तिसो कहि जै छै। किसो ज्ञान पुंज। टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा। टंकोत्कीर्ण कहता सर्व-काल रूप इसो छै। प्रकट कहता स्वानुभवगोचर। महिमा कहता स्वानुभव जिहिको इसो छै। और किसो छै। स्वरसविसरा पूर्णपुण्याचलार्चिः। स्वरस कहता शुद्ध ज्ञान चेतना तिहि कौ। विसर कहता अनन्त अंश तिनसूं पूर्ण कहता सम्पूर्ण है। पुण्य कहता निरावरण। ज्योति कहता प्रकाश स्वरूप। और किसो छै। शुद्धः शुद्धः दोई बार कै कहता। निस्सन्देह पनै कै शुद्ध है। बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः प्रतिपदं दूरीभूतः। बन्ध कहता ज्ञानावरणादि कर्म पिण्ड सौ बन्ध रूप एक क्षेत्र अवगाह। मोक्ष कहता सकल कर्मनासु होता जीवको स्वरूपको प्रगटपनो। तिहि क प्रक्लृप्ति कहता इसा कोई विकल्प तिहि थकी। प्रतिपद कहता इक इन्द्रिय आदि पंचइन्द्रिय पर्याय रूप जहा थे। तथा

दूरीभूतः कहता अति ही दूर छै। भावार्थ—इसौ जु एक इन्द्रिय आदि देय पंच इन्द्रिय पर्याय करि जीव द्रव्य जहाँ, तहाँ द्रव्य स्वरूप कौ विचारता। बन्ध इसौ मुक्त इसौ। विकल्प नाहि रहित छै। द्रव्यको स्वरूप ज्यौ छै त्यौं ही छै। जीव द्रव्य इसौ छै। अखिलान् कर्तृभोक्तादिभावान्। सम्यक् प्रलयं नीत्वा। अखिलान् कहता गणना करता। अनन्त छै इसा जे कर्तृ कहता कर्ता छै। इसौ भोक्तृ कहता जीव भोक्ता है। सम्यक् कहता भला है। प्रलयं नीत्वा कहता विनाश करि इसौ छै।

इसी भावको बनारसीदासजीने किस अनुपम सारल्य एवं मार्मिकतासे पद्यबद्ध किया है। देखिए—

"कर्मनि कौ कर्ता है, भोगनि कौ भोगता है,
जाकी प्रभुता में ऐसौ कथन अहित है।
जामें एक इन्द्री आदि पंचधा कथन नाहिं,
सदा निरदोष बन्ध मोख सौं रहित है।
ज्ञान कौ समूह ज्ञान गम्य है सुभाग जाको,
लोकव्यापी लोकातीत लोक में महित है,
सुद्ध वंस सुद्ध चेतना कै रस अंस भर्यौ,
ऐसौ हंस परम पुनीतता सहित है ॥ २ ॥"

इसी भावको कविने और भी स्पष्ट किया है—

"जो निहचै निरमल सदा, आदि मध्य अरु अन्त,
सो चिद्रूप बनारसी, जगत माँहि जयवन्त ॥"

इस उद्धरण-द्वारा हमारे सम्मुख पाण्डे राजमल्लजीकी 'समयसार' की बालबोधिनी गद्यमय टीकाकी एक झलक आ जाती है, साथ ही बनारसी-दासजी उक्त आधारोंके होनेपर भी अपनी पद्यरचनामें कितनी मौलिकता-का पुट भर सकते हैं यह भी स्पष्ट हो जाता है।

अब हम एक-दो ऐसे पद्य प्रस्तुत कर रहे हैं जिनका बनारसीदासजीने कई पद्योंमें विस्तृत विवेचन किया है। इससे यही ध्वनित होता है कि कविके सम्मुख कोरे 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका' के समर्थक अनुवादककी नीति नहीं रही है। उदार कविने अपने आराध्य पूर्वाचार्यके भावोंको आत्मसात् करके उनका अत्यन्त स्पष्ट एवं सारल्य-समन्वित विवेचन किया है। ऐसा करनेमें कविको कहीं-कहीं एक छन्दके विशद स्पष्टीकरण करनेमें चार-पाँच छन्द तक रचने पड़े हैं। इस दृष्टिसे हम बनारसीदासजीको एक अनुवादक-

की अपेक्षा प्रभावक प्रतिभासम्पन्न मौलिक व्याख्याकारके रूपमें ही अधिक देखते हैं। इस गुणका द्योतक अधस्तन छन्द देखिए।

आचार्य अमृतचन्द्र (कलश)

सम्यग्ज्ञान के बिना सम्पूर्ण चारित्र निस्सार है।

"सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥५॥"

बनारसीदासजी-द्वारा हिन्दीमें भावानुवाद अथवा व्याख्या—

"जो नर सम्यक्वन्त कहावत, सम्यक्ज्ञान कला नहिं जागी,
आतम अंग अबन्ध विचारत, धारत संग कहैं हम त्यागी,
भेष धरे मुनिराज-पटन्तर, अन्तर मोह महानल दागी,
सुन्न हिये करतूति करै पर, सो सठ जीव न होय विरागी ॥"

(निर्जराद्वार ८)

पुनः—

"ग्रन्थ रचै चरचै सुभ पन्थ, लखै जग मैं विवहार सुपत्ता,
साधि सन्तोष अराधि निरंजन, देइ सु सीख न लेइ अदत्ता,
नंगधरंग फिरै तजि संग, छकै सरवंग मुधा रस मत्ता,
ए करतूति करै सठ पै, समझै न अनातम आतम सत्ता ॥६॥"

पुनः—

"ध्यान धरै करै इन्द्रिय निग्रह, विग्रह सौं न गनै निज नत्ता,
त्यागि विभूति विभूति मढ़ै तन, जोग गहै भव जोग विरत्ता,
मौन रहे लहि मन्दकषाय, सहे बध बन्धन होइ न तत्ता,
ए करतूति करै सठपै, समुझै न अनातम आतम सत्ता ॥१०॥"

पुनः—

"जो बिनु ज्ञान क्रिया अवगाहै, जो बिनु क्रिया मोख पद चाहे,
जो बिनु मोख कहे मैं सुखिया, सो अजान मूढ़न में मुखिया ॥११॥"

इसी प्रकारके अनेक स्थल समयसारमें हैं। ऐसे स्थलोंकी एक स्वतन्त्र पुस्तिका बन सकती है।

समयसारकी रचनामें बनारसीदासजीकी स्वतन्त्र प्रतिभाने कितना भी कार्य क्यों न किया हो फिर भी वे मूलतः एक अनुवादक—सफल अनु-

दकके रूपमें ही स्वयंको प्रस्तुत करते हैं। कविका यह अनुवादक-रूप सम्पूर्ण काव्यमें स्पष्टतया प्रतिबिम्बित होता है। किस वरेण्य कौशलके साथ पूर्वाचार्यके भावोंको उतनी ही पंक्तियोंमें पूर्णतया सुरक्षित रखकर सुस्पष्ट कर दिया है। यह वैशिष्ट्य निम्नस्थ पद्यमें द्रष्टव्य है :-

"भावयेद् भेदविज्ञानमिदमिच्छन्न धारया।
तावद्यावत् परां च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते॥"

बनारसीदास-

"भेद ज्ञान तबलौं भलौ, जबलौं मुकति न होइ।
परम जोति परगट जहाँ, तहाँ न विकलप कोइ॥"

(संवरद्वार ६)

और भी देखिए-

"भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः॥"

(जीवद्वार १२)

बनारसीदास-

"कोउ बुद्धिवन्त नर निरखै, सरीर घर
भेदज्ञान दृष्टि सौं विचारै वस्तु वासतौ,
अतीत अनागत वरतमान मोह रस,
भीग्यौ चिदानन्द लखै बन्ध में विलासतौ।
बन्ध कौं विदारि महामोह कौ सुभाउ डारि,
आतमा कौ ध्यान करै देखै परगासतौ
करम कलंक पंक रहित प्रगट रूप,
अचल अबंधित विलोकै देव सासतौ॥

रचनाशैली

समयसारका भावपक्ष जितना पुष्ट, हृदयस्पर्शी एवं चिरन्तन है उसकी रचनाशैली भी उसके संवाहनमें उतनी ही समर्थ, सशक्त, माधुर्य-प्रसाद-भरित तथा आद्यन्त मन्द सुगन्ध एवं शीतल सदागति-सी प्रवहमान है। बनारसीदासजीका मानसिक एवं शारीरिक व्यक्तित्व कितना बहुमुखी था उसका अध्ययन समयसारकी रचनाशैली-द्वारा सुगमतासे किया जा

सकता है। शैलीमें मनुष्यका वास्तविक अन्तः बाह्य स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता। जहाँ साहित्यकार अपनी शब्दयोजना एवं प्रवाहयुक्त शैली-द्वारा वर्ण्य विषयके साक्षात् चित्रसे प्रस्तुत कर देता है, वहीं उसका स्वयंका गम्भीर, सरल, स्थिर अथवा प्रवहमान व्यक्तित्व भी उसकी रचनाशैली-द्वारा ही स्पष्ट हो जाता है। कविवर बनारसीदासजीकी रचनाशैलीके अध्ययनसे हम काव्यमें उनकी कला-दृष्टिके साथ-साथ उनके विनोदप्रिय, गम्भीर, समन्वयवादी अथवा स्थितिपालक व्यक्तित्वसे भी परिचित हो सकेंगे।

बनारसीदासजीने अपनी भावाभिव्यक्ति प्रायः सर्वत्र सरल एवं सुस्पष्ट शब्दोंमें की है। उनका विषयज्ञान परिपक्व था और तदनुकूल सुलझी हुई ललित अभिव्यंजना भी उनमें थी। अलंकारोंमें अनुप्रासके लिए ही कहीं-कहीं वे प्रयत्नशील दिखते हैं और तो सर्वत्र स्वाभाविक रीतिसे जो अलंकारादि आ गये हैं उन्हें ही कविने स्वीकार किया है। कविने अपनी भाषा-शैलीको चमत्कारपूर्ण बनानेके लिए अलंकारादिमें खींच-तान नहीं की है। 'समयसार' में विषय-स्थैर्यके साथ भाषा-शैलीका जो अपूर्व सौन्दर्य प्राप्त होता है उसका एक मात्र कारण उसकी स्वतः निःसृति है। सुबोधता और सरसताके मोहक स्थल 'समयसार' में सर्वत्र गुलदस्ते-से दृष्टिगोचर होते हैं। बनारसीदासजीकी भाषा और शैलीमें भाव-प्रेषणीयता कितनी अद्भुत कोटिकी है—प्रस्तुत पदसे स्पष्ट हो जायेगा—स्थिर ज्ञानी सभी दशाओं और स्थानोंमें महान् ही रहते हैं—यह भाव प्रस्तुत छन्दमें है—

"[1]जिन्हके सुमति जागी भोग सौं भये विरागी,
पर संग त्यागी जे पुरुष त्रिभुवन में,
रागादिक भावनि सौं जिनकी रहनि न्यारी,
कबहूँ मगन ह्वै रहैं न धाम धन में।
जे सदैव आपकों विचारें सरवांग सुद्ध,
जिन्हकें विकलता न व्यापै कहूँ मन में,
तेई मोख मारग के साधक कहावैं जीव,
भावै रहौ मन्दिर में भावै रहौ बन में॥"

अनेक स्थानोंपर गम्भीर विषयको स्पष्ट एवं सुबोध बनानेके लिए बनारसीदासजीने दृष्टान्तोंका आश्रय लिया है। जबतक जीवमें शुद्धात्मानुभव रहता है तबतक वह सूर्यके समान देदीप्यमान रहता है इसी भावको

१. 'समयसार', मोक्षद्वार १६।

कविने अधस्तन पद्यमें स्पष्ट किया है—

"जैसे रवि मंडल के उदै मही मंडल में,
आतप अटल तम पटल बिलातु है,
तैसें परमातमा कौ अनुभौ रहतु जौ लौं,
तौलौं कहूँ दुविधा न कहूँ पच्छपातु है।
नय कौ न लेस परवान कौ न परवेस,
निच्छेप के बंस कौ विधुंस होत जात है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेउ तहाँ बाधक हैं,
बाकी राग दोष की दसा की कौन बातु है॥"

अनुप्रासकी छटा देखिए—

"[1]करम भरम जगतिमिर हरन खग,
उरग लखन पग सिव मग दासी।
निरखत नयन भविक जल बरखत,
हरखत अमित भविक जन सरसी॥
मदन कदन जित परम धरम हित,
सुमिरत भगति भगति सब डरसी।
सजल जलद तन मुकट सपत फन,
कमठ-दलन जिन नमत बनारसी॥

अलंकारोंके मोहमें पड़कर कविने भावोंमें दुरूहता कहीं नहीं आने दी है। बनारसीदासजीमें भाषा-शैली और भावोंमें सन्तुलन रखनेकी जो अपूर्व क्षमता है वह सभीको वशंवद बना लेती है—

"[2]धरति धरम फल हरति करम मल,
मन वच तन बल करति समरपन,
भखति असन सित चखति रसन रित,
लखति अमित वित करि चित दरपन।
कहति भरम धुर दहति भरम पुर,
गहति परम गुर उर उप सरपन,
रहति जगति हित लहति भगति रति,
चहति अगनि गति यह मति परपन॥"

१. 'समयसार', १।

२. वही, मोक्षद्वार ५।

इस प्रकार बनारसीदासजीकी शैली-द्वारा हम उनके सरल, प्रसादमय (प्रसन्न) एवं व्यवस्थाप्रिय व्यक्तित्वके दर्शन करते हैं।

पाठानुसन्धान

बनारसीदासजीकी सम्पूर्ण रचनाओंमें 'समयसार' सर्वाधिक लोकश्रद्धा और लोकरुचिका विषय रहा है। इसकी इतनी प्रसिद्धिका प्रमुख कारण इसमें किया गया पुष्ट एवं हृदयाकर्षक अध्यात्म-विवेचन है। प्रायः प्रत्येक जैन मन्दिरमें 'नाटक समयसार' की एक हस्तलिखित प्रति अवश्य ही मिलती है। प्रत्येक स्वाध्याय-प्रेमी जो जैन सिद्धान्तके मर्मको पूर्ण रूपसे सरल-सरस हिन्दी-कवितामें जानना चाहता है इस रचनाकी ही शरण लेता है। सम्पूर्ण आगरा ज़िला, अलीगढ़, मथुरा, दिल्ली, जयपुर और बीकानेरके जैन मन्दिरोंके भण्डार तो मैंने स्वयं ही देखे हैं। कुछ मन्दिरोंमें तो दो-दो, तीन-तीन तक हस्तलिखित प्रतियाँ मुझे मिली हैं। कविवर बनारसीदासजीके इस ग्रन्थका जितना प्रचार हुआ उतना उनके अन्य ग्रन्थोंका नहीं।

इसका मुद्रण भी कई बार हो चुका है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी 'समयसार' का भारी प्रचार रहा है। यह ग्रन्थ यदि जैन सम्प्रदायके लेबिलसे रहित होता तो निश्चय ही इसे आजतक 'गीता'-जैसा व्यापक महत्त्व मिलता।[1] "इस ग्रन्थका प्रचार श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अधिक रहा है और अबसे कोई अस्सी वर्ष पहले सन् (१८७६ में) इसे भीमसी माणिक नामके श्वेताम्बर प्रकाशकने ही गुजराती टीका-सहित प्रकाशित किया था। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी अनेक श्वेताम्बर साधुओंकी लिखी हुई मिलती हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें जहाँतक मुझे स्मरण है सबसे पहले स्व० बाबू सूरजभानजीने 'नाटक समयसार' देवबन्दसे प्रकाशित किया था। उसके बाद फलटड़से स्व० नाना रामचन्द्र नागने और उसके बाद अनेक प्रकाशकोंने। भाषा टीकासहित भी अनेक स्थानोंसे प्राप्त हो चुका है।" पं० बुद्धिलाल श्रावक-द्वारा सुसम्पादित एवं सटीक समयसार जो आषाढ़ वि० सं० १९८६ में जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बईसे प्रकाशित हुआ था आजतकके अन्य संस्करणोंसे श्रेष्ठ है। पाठोंकी दृष्टिसे एवं टीकाकी दृष्टिसे भी ग्रन्थ प्रशंसनीय है। रूपचन्द्रकृत टीकासहित ब्रह्म-

---

१. पं० नाथूराम प्रेमी : 'अर्धकथानक', पृ० ६४।

भारती नन्दलाल-द्वारा भिण्डसे वि० सं० २००७ में जो समयसार प्रकाशित हुआ है वह पाठों, छपाई और शुद्धताकी दृष्टिसे विशेष महत्त्वका नहीं है। रूपचन्दजीको प्रकाशकने प्रसिद्ध पाण्डे रूपचन्द्रजी समझ लिया है। अस्तु, अभीतककी मुद्रित प्रतियोंमें पं० बुद्धिलाल श्रावककी प्रति ही अधिक प्रामाणिक है। यह मुद्रित प्रति पाठोंकी दृष्टिसे प्रामाणिक होनेके साथ-साथ और भी कई दृष्टियोंसे उपयोगी सिद्ध हुई है। इसमें सम्पादक महोदयने प्रारम्भमें पं० बनारसीदासका संक्षिप्त किन्तु पूर्ण जीवन परिचय दे दिया है। पं० बनारसीदासका जो पद्य आचार्य अमृतचन्द्रके जिस संस्कृत पद्यका अनुवाद अथवा भावानुवाद है उसे वहीं फ़ुटनोटमें दे दिया गया है जिससे जिज्ञासु पाठक दोनोंका रसास्वादन साथ-साथ कर सकें। यद्यपि बुद्धि-लालजी-द्वारा सुसम्पादित प्रतिमें पाठोंकी अशुद्धियाँ नहींके बराबर हैं पर हैं अवश्य। पाठानुसन्धानके लिए मैंने समयसारकी हस्तलिखित प्रामाणिक प्रतियाँ खोजनेके लिए अनेक जैन भण्डार देखे जिनमें समयसारकी प्रतियाँ प्राप्त हुईं। विशेष रूपसे मैंने जयपुर और आगराके शास्त्रभण्डार ही देखे। प्रतियाँ बहुत मिलीं किन्तु सभी दृष्टियोंसे प्रामाणिक प्रति एक भी न मिल सकी। हाँ, पर्याप्त सोच-विचारके पश्चात् एक बात ध्यान अवश्य आयी कि जयपुरके जैन शोध-संस्थान और आगराके ताजगंज तथा मोती-कटराके जैन भण्डारोंकी प्रतियोंके आधारपर यदि 'समयसार' का पाठानु-सन्धान करके पुनः मुद्रण कराया जाये तो अवश्य ही अत्यन्त प्रामाणिक समयसार हमारे सम्मुख आ सकेगा। सौभाग्यसे 'समयसार' की एक सुन्दर, स्वच्छ एवं पर्याप्त शुद्ध प्रति मुझे फ़ीरोज़ाबाद (आगरा) के दिगम्बर जैन बड़े मन्दिरके शास्त्रभण्डारमें मिली। इसका लिपि संवत् १९३८ है। प्रति अधिक प्राचीन नहीं है। अत्यन्त सावधानीसे इसे लिखा गया है। प्रत्येक पद्यके प्रत्येक चरण और चरणांशका स्वतन्त्र अर्थ अत्यन्त स्पष्टताके साथ किया गया है। पाठकको कविका भाव हृदयंगम करनेमें रंचमात्र भी असुविधा नहीं होती। यह प्रतिलिपि संवत्की दृष्टिसे अवश्य ही अधिक प्राचीन नहीं है फिर भी पाठानुसन्धानकी दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी है।

यहाँ हम बुद्धिलाल श्रावककी मुद्रित प्रति और उक्त हस्तलिखित प्रतिके कुछ पाठोंका अनुसन्धान करके देखेंगे कि कौन-सी प्रति अधिक वैज्ञानिक है।

छन्द मुद्रित	हस्तलिखित
मंगलाचरण	
१. सुमिरत	सुमरत
भगति भगति	भगत, भगत
३. ज़िन्हिके	जिनके
जिन्हकी	जिनकी
लख्यो	लखो
६. जिन्हके	जिनके
जिनेसुर	जिनेश्वर
७. चित्र	चित्त
८. को सो	को सो
कतक फल	कुतक फल
सकति	सगति
तरतु	तिरतु
९. सु	ज्यं
बधूले	बभूल्यो
कैसे	के से
११. भववास	घटवास
१४. दया ह्वै	दयाल ह्वै

पाप पुण्य एकत्व द्वार

४. न्यारै प्यारै	न्यारो प्यारो } ३८
५. परमानिए	परवानिए ३९
६. मोख दुहूँ	मोक्ष दुहो } ४०
९. फैल	फैलि ४३
१०. भाउ	भाव ४४
११. नहिं केवल पद पाइए	नाही केवल पाइए ४५

आस्रव अधिकार

सम्यग्ज्ञानको नमस्कार	ज्ञान बल वर्ननं
४. ज्ञातार	ज्ञाताहि
६. सुछन्दे	स्वछन्द ४६
७. तैसो, जैसो, ऐसो, कैसो	तैसें, जैसें, ऐसें, कैसें । ४६

सर्वविशुद्धिद्वारकी समाप्ति हस्तलिखित प्रतिमें १२८वें पद्यपर ही हो गयी है जब कि मुद्रितमें १३९ पद्य हैं। हस्तलिखित प्रतिके अन्तमें ये पंक्तियाँ हैं—

"लिपिसंवत् १९३३ शाके १९९८ तत्र वर्षे मासोत्तमे मासे भाद्रपद मासे शुक्ल पक्षे अष्टम्यां चन्द्र वासरे लिखितं मिश्र मानिकचन्दं फिरोजाबाद पठनार्थं लाला लिखमीचन्द खंडेलवाल चिरंजीवायु शुभं भवतु। कल्याणमस्तु। श्रीरस्तु।"

जयपुरके शोध संस्थानमें संवत् १७०० और १७०२ की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियाँ हैं। परन्तु पाठानुसन्धानकी दृष्टिसे उन्हें भी छोड़ना ही पड़ता है।

परम्परा और प्रणालियाँ

भारत-जैसे अध्यात्म-प्रधान देशमें अध्यात्म-ग्रन्थोंके प्रणयनकी परम्परा निश्चित रूपसे अत्यन्त प्राचीन रही है। वैदिक कालमें ही हमें अध्यात्मके भरपूर दर्शन होते हैं। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण, गीता और भागवतमें अध्यात्मके अनेक पुष्ट, व्यवस्थित एवं मनोहारी स्थल प्राप्त होते हैं।

बौद्ध साहित्यमें भी त्रिपिटिकों और जातक-ग्रन्थोंमें भरपूर ठोस अध्यात्मके दर्शन होते हैं। बौद्ध साहित्यका तो मूलाधार ही अध्यात्म रहा है। इस साहित्यमें आत्मपरक दृष्टिको ही सर्वस्व माना गया है। और आचार व्यवस्थाको प्रायः हेय दृष्टिसे देखा गया है। क्रियाकाण्डकी सारहीनता और निरर्थक हिंसा-पूर्ण यज्ञोंके विरोधमें ही बौद्ध धर्मका उदय हुआ था। वेदोंके आधारपर रचे गये पुराणोंने जहाँ अध्यात्मसे बढ़कर क्रियाकाण्ड और आचारका समर्थन किया था, बौद्धधर्मके ग्रन्थोंने एक स्वरसे केवल अध्यात्मका ही समर्थन किया। बौद्धधर्ममें आचारका कोई महत्त्व नहीं है यह बात नहीं है, हाँ इतना अवश्य है कि आचार पक्ष अत्यन्त गौण रहा है।

जैन आचार्योंने भी अध्यात्ममूलक ग्रन्थोंका सृजन बड़ी दृढ़ता, विद्वत्ता, मौलिकता एवं स्वानुभवके साथ किया है। जैन अध्यात्मकी परम्परा सहस्रों वर्ष प्राचीन है। भगवान् महावीरकी वाणी-द्वारा जिस शुद्ध एवं उदात्त अध्यात्मकी जगत्पावनी धारा प्रवाहित हुई थी वह आजतक अक्षुण्ण रूपसे जन-मानसका जीवन-सम्बल बनी हुई है। जैन अध्यात्ममें बौद्धधर्म-की भाँति आचार पक्षको गौणातिगौण मानकर उसके प्रति हेय दृष्टि नहीं रखी गयी है। जैन आचार्योंने आचारको जीवन-निर्माण एवं कल्याणमें आवश्यक बताया है। आचार-पालन जो आत्मजागृतिमें सहायक नहीं होता अपितु उसे अवरुद्ध करके व्यक्तिको दुराग्रही स्थूल द्रष्टा एवं उथला बना देता है, अवश्य ही जैनाचार्यों-द्वारा सर्वथा हेय बताया गया है। जैन साहित्यमें कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वाति, पूज्यपाद, योगीन्दु, गुणभद्राचार्य, अमृतचन्द्र, शुभचन्द्र, मुनि रामसिंह और राजमल्लजी आदि बनारसीदास-जीके पूर्ववर्ती अध्यात्मके प्रभावशाली एवं अधिकारी कवि हो गये हैं। इन कवियोंने समय-समयपर जैन एवं जैनेतर भारतका शुद्ध अध्यात्मकी रचनाओं-द्वारा अत्यधिक उपकार किया है। इन सभी कवियोंने प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषामें ही रचनाएँ कीं। राजमल्लजी ही ऐसे थे जिन्होंने 'समयसार' का हिन्दी गद्यानुवाद किया। बनारसीदासजीके समय तक वास्तवमें हिन्दीमें अध्यात्मग्रन्थोंका अभाव ही था। जनताको सरल माध्यमसे शुद्ध अध्यात्मका अनुभव करानेवाला कोई भी ग्रन्थ हिन्दीमें न था। किन्हीं कवियोंमें अध्यात्मके दर्शन भी कहीं होते हैं तो ऐसे ही जैसे 'विहारी सतसई' में तीस-चालीस नीतिके दोहे। अध्यात्म सन्त कविवर बनारसीदासने आचार्य कुन्दकुन्दके 'समयपाहुड' का हिन्दी पद्यानुवाद एवं यथावसर विस्तृत व्याख्या करके इस अभावकी अत्यन्त सुन्दर ढंगसे पूर्ति की। आचार्य कुन्दकुन्दके सदृश अध्यात्मका क्रमिक, ठोस एवं सरस वर्णन अन्य ग्रन्थोंमें प्राप्त नहीं होता। अन्य आचार्योंके ग्रन्थोंमें अध्यात्मकी स्फुट चर्चा ही प्राप्त होती है। बनारसीदासजीने आचार्य कुन्दकुन्दकी कृतिमें यथावसर अनुवादमें विस्तार तो किया ही, साथ ही उसमें गुणस्थानादिकी चर्चा बढ़ाकर उसे और भी आकर्षक बना दिया। यद्यपि बनारसीदासजीने यह कार्य अपने पूर्वाचार्योंकी परम्परा और उनकी रचनाओंके आधारपर ही किया, परन्तु भाषागत प्रांजलता, मोहक रूपकों, अनुप्रासों और उप-माओंकी अभिराम छटा, अर्थकी सुबोधता, शैलीकी मृदुलता, प्रवहणशीलता और इन सबसे बढ़कर विषयको मौलिक ढंगसे प्रस्तुत करनेकी विलक्षण

प्रतिभा और कुशलताके कारण कविवरकी यह कृति एक मौलिक कृति-जैसी ही प्रतीत होती है।

हिन्दीमें समयसारके अतिरिक्त जीव द्रव्यपर इतनी पुष्कल एवं व्यवस्थित पद्यबद्ध कृति दूसरी नहीं है। जीवकी सम्पूर्ण दशाओंका इतना मार्मिक विवेचन भी अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। वास्तवमें हिन्दीमें अध्यात्मकी इस उज्ज्वल परम्पराका आदर्श बीज-वपन अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीने ही किया। आपके ही समयसार एवं फुटकर अध्यात्म पदोंसे प्रभावित होकर आपके पश्चाद्वर्ती एवं समकालीन जैन कवियों (भैया भगवतीदास, भूधरदास, द्यानतराय, दौलतराम आदि) ने भी अध्यात्म पदोंकी रचना प्रचुर मात्रामें की। आज भी जनतामें अध्यात्मकी उदात्त परम्परा स्वाध्याय, प्रवचन, प्रणयन, आलोचना, ग्रन्थोंकी रचना एवं प्राचीन ग्रन्थोंके सुन्दर सटीक प्रकाशनों-द्वारा विद्वान् पुष्टरूपेण जीवित रख रहे हैं।

भारतवर्षकी मूल संस्कृतियाँ दो हैं—वैदिक और श्रमण। इन दोनोंके ही अद्यावधिक विकसित रूपोंमें अध्यात्मकी धारा कभी मन्थर तो कभी तीव्रगत्या प्रवहमान रही है। वैदिक संस्कृतिके पुराणकालमें शैव और वैष्णव ये दो रूप हो गये। शैव शाखा दक्षिणमें और वैष्णव शाखा उत्तर भारतमें पल्लवित हुई और आज भी है। शैवोंके अनेक सम्प्रदाय हुए और वैष्णवोंके भी। निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य एवं रामानुजाचार्यने वैष्णव शाखाको ही विभिन्न रूपोंमें प्रसारित किया। श्रमण संस्कृति भी अत्यन्त प्राचीन कालसे इस देशमें और अन्यत्र भी अध्यात्मका सन्देश प्रसारित करती रही है। यह संस्कृति जैन और बौद्ध इन दो शाखाओंमें आरम्भसे ही चली और आजतक चली आ रही है। जैन संस्कृति तो इस देशमें पनपी और इस देशमें ही आज अक्षुण्ण रूपेण अवस्थित है परन्तु बौद्ध संस्कृति इस देशके अतिरिक्त एशियाके बहुभाग (चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, मलाया आदि) में भी फैली और आज भी अपनी प्रतिष्ठाको पूर्ववत् बनाये हुए है। भारतवर्षमें राज्य-विप्लवोंके कारण बौद्ध संस्कृतिको कई बार भारी टक्करें झेलनी पड़ीं फिर भी उसकी अध्यात्मपरकतामें कभी निर्जीवता नहीं आने पायी।

अध्यात्म-प्रधान रचनाओंकी प्रणयन-प्रणालियाँ भी अध्ययनीय हैं। कुन्दकुन्दाचार्यने अपने 'समयपाहुड', 'प्रवचनसार' और 'नियमसार' में जीवकी विभिन्न दशाओंका विभिन्न अध्यायोंमें पद्यात्मक वर्णन करके उसकी

सर्वविशुद्ध अवस्थाका अत्यन्त स्पष्ट एवं मार्मिक दिग्दर्शन कराया। 'समयसार' में सर्वप्रथम 'जीवद्वार' में जीवके वास्तविक निर्लिप्त स्वरूपकी चर्चा की गयी है। उसे परवस्तुओंसे पृथक् एवं आत्मगुणलीन ही बताया गया है। जीवद्वारके पश्चात् अजीवद्वार है। इसमें कविने जीव और अजीवकी शक्तियोंका पृथक्-पृथक् विवेचन करके दोनोंका स्वतन्त्र प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार विभिन्न दशाओंमे जीवका निर्लिप्त स्वरूप कविने द्वादश अधिकारोंमें अत्यन्त मार्मिकतासे स्पष्ट किया है जिसका संक्षिप्त विवरण इसी अध्यायमें पहले हो ही चुका है।

वास्तवमें बनारसीदासजी-द्वारा प्रस्तुत समयसारकी प्रसाद-माधुर्यमयी रचना-शैली एवं सारल्य-समन्वित भावाभिव्यंजनाने हिन्दीको तो अक्षय निधि प्रदान की ही है, उत्तर भारतके सम्पूर्ण जनमानसमें अध्यात्म-जिज्ञासाके लिए उत्कट लालसा भर दी है। 'समयसार'-द्वारा बनारसीदासजीने जो एक और अनोखी देन दी है वह है हिन्दी भाषामें शान्त रससे परिपूर्ण अध्यात्मके विवेचनकी अद्भुत क्षमता। इससे अध्यात्म-जगत्में निश्चय ही एक युगान्तर उपस्थित हो गया।

नव रसोंके सम्बन्धमें कविकी मौलिक दृष्टि

बनारसीदासजीने समयसार-जैसे अध्यात्म-ग्रन्थ-रत्नके प्रणयनके साथ साहित्यिक नव रसोंके सम्बन्धमें भी एक उदात्त अध्यात्मदृष्टि निश्चित की है और शान्त रसको रस-नायक स्वीकार किया है। रसोंकी गणना कराते हुए कविवर लिखते हैं :—

> [1]"**नवमो शान्त रसनि को नायक।**
> **ए नव रस एई नव नाटक,**
> **जो जहं मगन सोइ तिहि लायक।"**

बनारसीदासजी जिस प्रकार आत्मस्वातन्त्र्यके प्रबल समर्थक रहे हैं उसी प्रकार परस्वातन्त्र्यके भी। शान्त रस व्यक्तिगत रुचि कहकर स्पष्ट कर देते हैं कि जिसे जिस रसमें तल्लीनता आ जावे उसे वही श्रेष्ठ है।

> "जो जहं **मगन सोइ** तिहि **लायक।"**

नव रसोंके लौकिक स्थानोंकी चर्चा अत्यन्त संक्षेप एवं स्पष्टताके साथ कविने एक ही पद्यमें की है :—

१. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार १३३।

"सोभा में सिंगार बसै वीर पुरुषारथ में,
कोमल हिये में करुन रस बखानिए।
आनन्द में हास्य रुंडमुंड में विराजै रुद्र,
बीभत्स तहाँ जहाँ ग्लानि मन आनिए।
चिन्ता में भयानक अथाह तामें अद्‌भुत,
माया की अरु चिता में सान्तरस मानिए।
एइ नवरस भव रूप एइ भावरूप,
इनकौ विलेछिन सुदृष्टि जागें जानिए॥"[1]

अन्तिम पंक्तिमें कविवरने अपनी ज्ञानदृष्टिका भी मार्मिक परिचय दे ही दिया है। वे स्पष्ट कह देते हैं ये नव रस लौकिक भी हैं और पारमार्थिक भी। ज्ञान दृष्टिके उदय होते ही इनका पृथक् अनुभव किया जा सकता है।

नव रसोंके कविने पारमार्थिक स्थान निश्चित किये हैं जो उनकी मौलिक उद्‌भावना शक्तिके चिरन्तन साक्षी हैं। कविका इससे स्पष्ट संकेत है कि अध्यात्मजगत्‌में भी साहित्यिक रसोंका आनन्द लिया जा सकता है, केवल रसास्वादनकी दिशा बदलनी होगी। कविने आत्माके विभिन्न गुणोंकी निर्मलता और विकासमें ही नवरसोंकी परिपक्वताका अनुभव किया है—

[2]"गुन विचार सिंगार, वीर उद्यम उदार रुख,
करुना सम रस रीति हास हिरदै उछाह सुख,
अष्ट करम दल मलन रुद्र बरतै तिहि थानक,
तन विलेछ बीभच्छ दुन्द मुख दसा भयानक।
अद्भुत अनन्त बल चिन्तवन सांत सहज वैराग धुव,
नव रस विलास परगास तब जब सुबोध घट प्रगट हुव।"

३. बनारसीविलास

कविवर बनारसीदासजीके पूर्वचर्चित तीन ग्रन्थों (अप्राप्त नवरस पद्यावलि सहित) के अतिरिक्त उनकी सभी फुटकर रचनाओंका संग्रह 'बनारसीविलास' में कर दिया गया है। यह संग्रह आगरा-निवासी दीवान जगजीवनजीने बनारसीदासजीके देहान्तके कुछ ही समय पश्चात् चैत्र सुदी २, विक्रम संवत् १७०१ में किया था। उन्होंने इस संग्रहका नाम 'बना-

१. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार १३४।
२. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार १३५।

रसीविलास' रखा था। जिन रचनाओंका उल्लेख बनारसीदासजीने अपने 'अर्धकथानक' में किया है, उनके अतिरिक्त 'कर्मप्रकृति विधान' नामक रचना, जिसकी समाप्ति फागुन सुदी ७ संवत् १७०० को हुई थी, भी इस संग्रहमें है। स्पष्ट है कि कर्मप्रकृति विधानके केवल २५ दिन बाद ही बनारसीविलासका संग्रह हो गया था। कविवरका देहावसान भी सम्भवतः इसी बीच कभी हो गया होगा और तत्पश्चात् उनकी रचनाओंका यह संग्रह किया गया।

बनारसीविलासमें बनारसीदासजीकी ४८ मुक्तक रचनाएँ संगृहीत हैं। ये रचनाएँ धार्मिक, सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक एवं नीत्यात्मक हैं। इन रचनाओंमें हमें कविवरकी बहुमुखी प्रतिभा, काव्यकुशलता एवं अगाध विद्वत्ताके दर्शन होते हैं। धार्मिक मुक्तकोंमें कविने उपमा, रूपक, दृष्टान्त एवं अनुप्रास आदि अलंकारों-द्वारा सरल भाषामें प्रायः वर्णनात्मक पद्धतिसे वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन किया है। धार्मिक आचारादिसे सम्बन्धित कविताओंमें कविकी प्रतिभाको प्रायः अवसर नहीं मिला है। उसे एक बँधी परम्परामें चलनेके कारण कई स्थानोंपर कुछ कुण्ठित ही होना पड़ा है। सैद्धान्तिक रचनाओंमें विषय-प्राधान्यपर मुख्य दृष्टि है अतः यहाँ भी प्रायः वर्णनशैली ही अपनायी गयी है। इन रचनाओंमें सरसताका प्रायः अभाव मिलता है। सैद्धान्तिक रचनाओंमें कवि कवि न रहकर प्रायः तार्किक हो गया है अतः कविता तर्कों, गणनाओं एवं उक्तियों और दृष्टान्तोंसे बहुधा बोझिल हो उठी है। ऐसी रचनाओंमें एक अनुपम विशेषता जो जिज्ञासु पाठकको बरबस मोह लेती है वह गहनतम सिद्धान्तको अत्यन्त सरलीकृत करके संक्षेपमें रखनेकी है। सरल प्रतिपादनने यथाशक्ति सिद्धान्तोंकी रूक्षता, जटिलता एवं विशालताको कम करनेमें भारी सहयोग दिया है।

आध्यात्मिक मुक्तकोंमें बनारसीदासजीकी काव्य-प्रतिभा, विषय-प्रतिपादनकी कुशलता एवं अर्थानुकूल भाषागत सौन्दर्य आदि सभी बातें स्वाभाविक रूपसे अपनी पराकाष्ठापर मिलती हैं। नीत्यात्मक रचनाओंमें भी प्रयासरहित शैली-द्वारा कविने अक्षय नीतिरत्नोंसे हिन्दी-माँकी सेवा की है। सम्पूर्ण बनारसीविलासके अध्ययन-मननके पश्चात् एक बात जो सम्भवतः इस संग्रहकी प्रमुखतम विशेषता भी कही जा सकती है, वह है भाव-प्रकाशनपर अद्भुत अधिकारपूर्ण सीधी दृष्टि। कविने कहीं भी

अनावश्यक रूपसे अथवा प्रयासपूर्वक कला पक्षको भावपक्षपर थोपनेका प्रयत्न नहीं किया है। कलापक्ष सर्वत्र भावपक्षका सहायक होकर ही आया है अवरोधक होकर नहीं।

बनारसीविलासमें जिस क्रमसे बनारसीदासजीकी रचनाएँ संगृहीत हैं उसी क्रमसे यहाँ संक्षेपमें उनपर विचार किया जायेगा।

१. जिनसहस्रनाम

वैष्णव और शैव सम्प्रदायान्तर्गत प्रचलित विष्णुसहस्रनाम एवं शिव-सहस्रनामकी भाँति जैन सम्प्रदायमे भी आचार्य जिनसेन, हेमचन्द्र एवं आशाधर-द्वारा संस्कृतमें रचे गये जिनसहस्रनाम हैं। सहस्रनामका पाठ पूजनके प्रारम्भमें एवं स्वतन्त्र रूपसे भी जैन सम्प्रदायमें किया जाता है। पं० बनारसीदासजीके पूर्व सहस्रनाम संस्कृतमें ही थे। हिन्दीमें सर्वप्रथम पं० बनारसीदासजीने ही इसकी पद्यबद्ध रचना करके हिन्दीभाषी जनता-का भारी उपकार किया।[1] कविने इस रचनामें तात्कालिक जनभाषा, प्राकृत एवं संस्कृतके शब्द लिये हैं और आरम्भमें कहा है कि एकार्थवाची शब्दोंकी यदि द्विरुक्ति हो तो दोष न समझना चाहिए। नामकथनकी कवितामें इनमे दोष नहीं लगता। इसका नाम सामान्यतया जिनसहस्र-नाम ही रखा गया है, वैसे जिनेन्द्रदेवके १००८ नामोंका कविने उल्लेख किया है। प्रस्तुत रचनामें दोहा चौपाई, पद्धड़ी, रोडक और वस्तु आदि छन्दोंका उपयोग किया गया है। कुल छन्द १०३ है। नाम-गणनामें सरसताके लिए स्थान ही क्या हो सकता है, फिर भी कविवरने यथा-साध्य अनुप्रासादिकी योजना करके उसमे सरसताका पुट लानेका सफल प्रयत्न किया है। यथा—

> केवलज्ञानी केवलदरसी, संन्यासी संयमी समरसी।
> लोकातीत अलोकाचारी, त्रिकालज्ञ धनपति धनधारी ॥५४॥

---

१. बनारसी विलास, जिनसहस्रनाम।
केवल पद महिमा कहौं, कहौं सिद्ध गुन गान।
भाषा संस्कृत प्राकृत, त्रिविध शब्द परमान ॥२॥
एकारथवाची सबद, अरु द्विरुक्ति जो होय।
नाम कथन के कवित में, दोष न लागै कोय ॥३॥

पुनश्च–

> **संवर रूपी शिव रमण, श्रीपति शील निकाय।**
> **महादेव मनमथ मथन, सुखमय सुख समुदाय॥**

२. सूक्तमुक्तावली

सूक्तमुक्तावली संस्कृतमें श्री सोमप्रभाचार्य-द्वारा रची गयी थी।[1] इसीका हिन्दी पद्यानुवाद बनारसीदासजीने अपने परम मित्र कुँअरपालजीको साथ लेकर किया है। इसी रचनाका अपर नाम सिन्दूरप्रकर भी है। एक सौ एक हिन्दी पद्योंमें यह रचना है। सभी मुक्तक छन्द हैं। बनारसीदासजी मुक्तकोंके क्षेत्रमें भी कितने सफल अनुवादक थे इसका परिचय हमें सूक्तमुक्तावली-द्वारा भलीभाँति प्राप्त होता है। इसमें कई पद्योंपर किसीकी भी छाप नहीं है अतः यह निर्णय करना कठिन ही है कि वे दोनों रचयिताओंके कितने-कितने पद्य हैं। इतना तो निश्चित है कि कुँअरपालजीके इसमें बहुत कम पद्य हैं। जिनपर कुँअरपालजीकी छाप है वे भी बनारसीदासजीके छापवाले पद्योंसे कम हैं। यह सुभाषित जन-सामान्यके लाभकी दृष्टिसे लिखा गया है। भाषासारल्य और स्वामित्वपूर्ण भाव-प्रकाशनकी क्षमता पदे-पदे दर्शनीय है। पद्यके मूलभावकी पूर्ण रक्षा तो कविने की ही है साथ ही उस भावको अपनी माधुर्यपूर्ण शैली-द्वारा और भी सुन्दर बना दिया है।

उदाहरणार्थ प्रस्तुत पद्य देखिए–

> **लक्ष्मीः कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकते,**
> **प्रीतिश्चुम्बति सेवते सुभगता नीरोगता लिङ्गति।**
> **श्रेयः संहतिरभ्युपैति वृणुते स्वर्गोपभोगस्थिति-**
> **र्मुक्तिर्वाञ्छति यः प्रयच्छति पुमान् पुण्यार्थमर्थं निजम्॥**

अनुवाद–

> **ताहिको सुबुद्धि वरै रमा ताकी चाह करै,**
> **चन्दन सरूप हो सुयश ताहि चरचै,**
> **सहज सुहाग पावै सुरग समीप आवै,**
> **बार-बार मुकति रयनि ताहि अरचै,**

---

१. कुँअरपाल बानारसी, मित्र जुगल इक चित्त।
तिन गिरंथ भाषा कियौ, बहु विध छंद कवित्त॥
—सूक्तमुक्तावली

ताहि कै शरीर कों अलिंगति अरोगताइ,
मंगल करै मिताई प्रीति करै परचै,
जोई नर हो सुचेत चित्त समता समेत,
धरम के हेत को सुखेत धन खरचै ॥

३. ज्ञान बावनी

यह रचना प्रसिद्ध कवि बनारसीदासजीकी नहीं है। इसके रचयिता सुकवि पीताम्बर हैं। इसका संग्रह बनारसी-विलासमें संग्रहकर्ताके प्रमादसे अथवा उक्त रचनामें बनारसीदासजीका गुण-कीर्तन होनेसे हो गया है। ज्ञान बावनीमें अनेक स्थानोंपर बनारसी शब्द आनेके कारण मूल संग्रह-कर्तासे और बादकी मुद्रित प्रतियोंके सम्पादकोंसे यह भूल होती रही है। पचासवें छन्द-द्वारा कर्ताकी बात स्पष्ट हो जाती है—

खुशी ह्वै के मन्दिर कपूर चन्द साहु बैठे,
बैठे कौरपाल सभा जुरी मन भावनी,
बनारसीदास जू के वचन की बात चली,
याकी कथा ऐसी ज्ञाता ज्ञान मन लावनी।
गुणवन्त पुरुष के गुण कीरतन कीजै,
पीताम्बर प्रीति करी सजन सुहावनी,
वही अधिकार आयौ, ऊंघते बिछौना पायौ,
हुकुम प्रसाद तें भई है ज्ञान बावनी ॥

४. वेद निर्णय पंचासिका

इसमें प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगोंको चार वेद बताकर इनके कर्ता ऋषभदेवको ही आदि ब्रह्मा बताया गया है। वर्णनमें दिगम्बर दृष्टि रही है। सम्पूर्ण रचनामें ५१ छन्द हैं।

५. शलाकापुरुषोंकी नामावली

दोहा, सोरठा आदि छन्दोंमें जैन सम्प्रदायमें प्रसिद्ध ६३ शलाकापुरुषों-की चर्चा की गयी है। ये २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रति-नारायण, ९ हलधर इस प्रकार ६३ महापुरुष होते हैं।

६. मार्गणा-विधान

इसमें २८ पद्योंमें १४ मार्गणाएँ और उनके ६२ भेदोंका वर्णन है। मार्गणा जीवके तनसम्बन्धी भावोंकी व्याख्या करती है। रचनान्तमें कविवरने कहा है–

"ये बासठ विधि जीव के तन सम्बन्धी भाव।
तज तन बुद्धि बनारसी, कीजे मोक्ष उपाव॥"

७. कर्मप्रकृति-विधान

जैन धर्मके कर्म सिद्धान्तका समुचित प्रतिपादन करनेवाली यह रचना है। कर्मप्रकृति-विधान १७५ छन्दोंमें है। यह एक लघुकाय ग्रन्थ-सा प्रतीत होता है। इसमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठों कर्मों और उनकी प्रकृतियोंकी व्याख्या अत्यन्त सुबोध विधिसे की गयी है। जैन कर्म-सिद्धान्तके ग्रन्थ गोम्मटसार कर्मकाण्डके आधारपर इसकी रचना हुई है। यह रचना संवत् १७०० के फागुनकी कविकी अन्तिम रचना है।

८. कल्याणमन्दिरस्तोत्र

आचार्य कुमुदचन्द्रके संस्कृतमें रचे गये कल्याणमन्दिर स्तोत्रका यह भावानुवाद है। चौपाई छन्दोंमें इसकी सरस-सुबोध रचना हुई है। जैन सम्प्रदायमें इसका भारी प्रचार है।

९. साधुवन्दना

साधुकी अर्थात् दिगम्बर जैन मुनिकी विशेषताओंका (२८ मूलगुणोंका) वर्णन २८ चौपाइयों और चार दोहोंमें किया गया है। इस रचनाद्वारा बनारसीदासजीका झुकाव दिगम्बर सम्प्रदायकी ओर स्पष्ट हो जाता है। कविने वस्त्रसहित भट्टारक अथवा साधुओंके प्रति श्रद्धा नहीं दिखायी है।

१०. मोक्ष पैडी

बनारसीदासजीने यह रचना पंजाबी भाषाकी विभक्तियों और क्रियाओंको लेकर की है। यह रचना २४ छन्दोंमें है और अपने ढंगकी अकेली है। कविवर पंजाबी भाषाके भी ज्ञाता थे यह बात इस रचनासे प्रकट हो जाती है।

"इक्क रुचि वंचनो, गुरु अक्खै सुनि मल्ल।
जो तुझ अन्दर चेतना, वहै तुसाड़ी अल्ल॥१॥

ए जिन वचन सुहावने, सुन चतुर छयल्ला।
अक्खै रोचक शिक्खनो, गुरु दीन दयल्ला ॥२॥"

११. करमछत्तीसी

३६ दोहोंमें जीव और अजीव द्रव्योंका वर्णन अत्यन्त निपुणतासे किया गया है। इस छत्तीसीमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अजीव पुद्गलकी पर्याय ही कर्म है और जीव द्रव्यसे भिन्न है। पुद्गल (अजीव) के संसर्गसे जीवको दशा कैसी हो जाती है—

"पुद्गल की संगति करै, पुद्गल ही सों प्रीत।
पुद्गल कों आपा गनै, यहै भरम की रीत ॥१७॥
जे जे पुद्गल की दशा, ते निज मानै हंस।
याही भरम विभाव सों, बढ़े करम को बंस ॥१८॥"

१२. ध्यानबत्तीसी

इस रचनामें कुध्यानों और सुध्यानोंका सुगम रीतिसे वर्णन किया गया है। अन्तमें कविने स्पष्ट किया है कि ध्यानरूपी अग्निसे कर्म-कालिमायुक्त कोयलासदृश जीवकी कालिमा भी तेजयुक्त हो उठती है।

"सुकल ध्यान ओषद लगै, मिटै करम कौ रोग।
कोइला छांडे कालिमा, होत अगनि संजोग ॥३२॥"

१३. अध्यात्मबत्तीसी

कविने ३२ दोहोंमें जीव-अजीवका भेद स्पष्ट कर जीवको अध्यात्मपरक होनेका सन्देश दिया है—

"चेतन पुद्गल यों मिलैं, ज्यों तिल में खलि तेल।
प्रगट एक से देखिए, यह अनादि को खेल ॥४॥
वह वाके रस में रमैं, वह वासों लपटाय।
चुम्बक करषैं लोह को, लोह लगै तिह धाय ॥
जड़ परगट चेतन गुपत, द्विविधा लखै न कोय।
यह दुविधा सोई लखै, जो सुव चक्षण होय ॥"

१४. ज्ञानपच्चीसी

इसमें अज्ञानी जीवकी कुप्रवृत्तियोंका दुष्परिणाम बताकर उसे आत्म-ज्ञानकी ओर बढ़नेका सदुपदेश दिया गया है। सदसद्के विवेकके अभावमें

जीवका उद्धार सम्भव नहीं है। कविवरने आकर्षक पद्धतिसे जीवकी विषयासक्त दशाका चित्रण कर उसके आत्मज्ञानकी उज्ज्वलताका दिग्दर्शन कराया है।

> "ज्यों काहू विषधर डसै, रुचि सों नीम चबाय।
> त्यों तुम ममता सों मढ़े, मगन विषय सुख पाय ॥६॥
> नीम रसन परसै नहीं, निर्विष तन जब होय।
> मोह घटै ममता मिटै, विषय न बांछे कोय ॥७॥
> ज्यों सुछिद्र नौका चढ़े, बूड़हि अन्ध अदेख।
> त्यों तुम भव जल में परे, बिन विवेक धर भेख ॥८॥
> जहां अखंडित गुण लगे, खेवट शुद्ध विचार।
> आतम रुचि नौका चढ़े, पावहु भव जल पार ॥९॥"

१५. शिवपच्चीसी

इसमें जीवको शिवस्वरूप अर्थात् मोक्ष-प्राप्तिके मूल स्वभाववाला बताया है। जीव अर्थात् शिवको ही शम्भु, त्रिपुरारि आदि नामोंसे अभिहित किया गया है।

१६. भवसिन्धु चतुर्दशी

इसमें संसारको पार कर मोक्षद्वीप प्राप्त करनेका सुन्दर मार्ग बताया है।

> "जैसें काहू पुरुष कों पार पहुँचने काज।
> मारग मोहि समुद्र तहँ, कारण रूप जहाज ॥१॥
> जैसे सम्यक्वन्त को गैर न कछू इलाज।
> भव समुद्र के तरन कों मन जहाज सों काज ॥२॥
> मन जहाज घट में प्रगट, भव समुद्र घट मांहि।
> मूरख मरम न जानहीं, बाहर खोजन जांहि ॥३॥"

१७. अध्यात्म फाग

यह १८ दोहोंकी एक अध्यात्मप्रधान रचना है। प्रत्येक दोहेके अन्तमें 'अध्यातम बिन क्यों पाइए हो' यह टेक डाली गयी है तथा प्रथम और तृतीय चरणके अन्तमें 'हो'का प्रयोग हुआ है।

"अध्यातम बिन क्यों पाइए हो परम पुरुष को रूप।
अघट अंग घट मिल रह्यो हो महिमा अगम अनूप ॥"
—अध्यातम बिन०

१८. सोलह तिथि

प्रतिपदासे पूर्णमासी तक १६ तिथियोंका परमार्थ दृष्टिसे वर्णन किया गया है—

"परिवा प्रथम कला घट जागी, परम प्रतीत रीति रस पागी।
प्रतिपद परम प्रीति उपजावै, वहै प्रतिपदा नाम कहावै ॥१॥"

१९. तेरह काठिया

जुआ, आलस्य, शोक भयादिक १३ को चोर बताकर कविने कहा है–

"ऐही तेरह करम ठग, लेंहि रतन त्रय छीन।
यातें संसारी दशा, कहिए तेरह तीन ॥"

काठिया शब्दके सम्बन्धमें कवि लिखते हैं–

"जो बट पारे बाट में करें उपद्रव जोर।
तिन्हें देस गुजरात में कहें काठिया चोर ॥"

२०. अध्यातम गीत

राग गौरीमें रची गयी एक अध्यात्मपरक रचना है। बुद्धिरूपी पत्नी, आत्मारूपी पतिकी महिमा अद्वितीय देखकर उसमें एकाकार होना चाहती है।

"होहुँ मगन मैं दरसन पाय, ज्यों दरिया में बूंद समाय ॥९॥
पिय कों मिलौं अपनपौ खोय, ओला गल पानी ज्यों होय ॥१०॥
मैं जग ढूँढ़ फिरी सब ठौर, पिय के पटतर रूप न और ॥११॥"

२१. पंच पद विधान

इसमें अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु–इन पंचपरमेष्ठियोंका सामान्य वर्णन है।

२२. सुमति देवीके अष्टोत्तर शतनाम

सुमति देवीके सुमति, बुद्धि, सुधी आदि १०८ नाम दिये हैं। वर्णनात्मक एवं गणनात्मक पद्धति है।

२३. शारदाष्टक

आठ भुजंगप्रयात छन्दोंमें वास्तविक शारदाकी अनेक नामोंसे स्तुति की गयी है—

"सुधा धर्म संज्ञा धनी धर्मशाला,
सुधाताप निर्नाशनी मेघमाला।
महामोह विध्वंसनी मोक्षदानी,
नमो देवि वागेश्वरी जैन वानी ॥१॥"

२४. नवदुर्गा विधान

शीतला, चण्डी आदि नौ दुर्गाओंका सुमति देवीके रूपमें नौ कवित्तोंमें वर्णन किया गया है।

२५. नाम निर्णय विधान

इस रचनामें मानवके अनेक नामोंकी अस्थिरता और अविनाशी वस्तुके अविनाशी नामकी स्थिरताका सुन्दर वर्णन किया गया है—

"जो है अविनाशी वस्तु, ताकौ अविनाशी नाम।
विनाशीक वस्तु जाकौ नाम विनाशीक है,
फूल मरै बास जीवै यहै भ्रम रूपी बात,
दोऊ मरै दोऊ जीवै यहै बात ठीक है॥'
थिर न रहै नर नाम की कथा जथा जल रेख।
एते पर मिथ्या मती ममता करै विसेख॥"

२६. नवरत्न कवित्त

इसमें नौ सुभाषित हैं उन्हें धन्वन्तरि, क्षपणक, अमर आदिके समान नवरत्न कहा है। एक सुभाषित देखिए,

"विमल चित्त कर मित्त शत्रु छल बल वश किज्जय।
प्रभु सेवा वश करिय, लोभवन्तहि धन दिज्जय।
युवति प्रेमवश करिय, साधु आदर वश आनिय।
महाराज गुण कथन, बंधु समरस सन मानिय।
गुरु नमन शीस रससों रसिक, विद्यावन्त बुधि मन हरिय।
मूरख विनोद विकथा वचन, शुभ स्वभाव जग वश करिय॥३॥"

२७. अष्टप्रकारी जिन पूजा

दश दोहोंमें जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घयुक्त अष्ट प्रकारी जिनपूजाकी चर्चा की गयी है।

२८. दशदान विधान

"जो सुवर्ण दासी भवन, गज तुरंग परधान।
कुल कलत्र तिल भूमि रथ, ये पुनीत दश दान॥"

इन लोकप्रचलित दश दानोंका आध्यात्मिक अर्थ बताया गया है।

गो दान यथा—

गो कहिए इन्द्री अभिधाना, बछरा उमंग भोग पथ पाना।
जो इसके रस मांहि न राचा, सो सबच्छ गो दानी साँचा॥१॥"

२९. दश बोल

दश दोहोंमें जिन, जिनपद धर्म आदिके विषयमे कहा गया है।

जिन दोहा यथा—

सहज वन्द्य वन्दक रहित, सहित अनन्त चतुष्ट।
जोगी जोग अतीत मुनि, सो जिन आतम सुष्ट॥"

३०. पहेली

कुमति और सुमति नामक दो व्रजवनिताओंके अवाची पतिसे सम्बन्धित पहेली है—

"कुमति सुमति दोउ व्रज वनिता, दोउ को कन्त अवाची।
वह अजान पति मरम न जाने, यह भरता सों राची॥
यह सुबुद्धि आपा पर पूरन, आपा पर पहिचानै।
लख लालन की चाल चपलता, सौत साल उर आनै॥"

३१. प्रश्नोत्तर दोहा

इसमें पांच ज्ञान-सम्बन्धी बातें प्रश्नोत्तर रूपमें समझायी गयी है, यथा—

"कौन वस्तु वपु मांहि है, कहां आवै जाय।
ज्ञान प्रकाश कहा लखै, कौन ठौर ठहराय।
चिदानन्द वपु माहिं है, भ्रम मंहि आवै जाय।
ज्ञान प्रकट आपा लखै, आप मांहि ठहराय।

३२. प्रश्नोत्तर माला

२१ पद्योंमें उद्धव हरि संवाद रूपमें यह रचना की गयी है। प्रारम्भके ९ दोहोंमें उद्धव-द्वारा कृष्णसे सम, दम, तितिक्षा आदिके सम्बन्धमें २४ प्रश्न किये गये हैं और अन्तकी दश चौपाइयोंमें नारायणने उसका उत्तर दिया है। यथा—

प्रश्न—"समता कैसी दम कहा, कहा तितिक्षा भाव।
धीरज दान जु तप कहा, कहा सुभट विवसाव॥"

उत्तर—"समता ज्ञान सुधारस पीजै, यह इन्द्रिय कौ निग्रह कीजै।
संकट सहन तितिक्षा धीरज, रसना मदन जीतिवो धीरज॥
दान अभय जहँ दंड न दीजै, तप कामना निरोध कहीजै।
अन्तर विजय सूरता सांची, सत्य ब्रह्म दरसन निरवाची॥"

३३. अवस्थाष्टक

यह रचना आठ दोहोंमें है। इसमें कहा गया है कि जीव निश्चय नयकी दृष्टिसे सब एक हैं, परन्तु व्यवहार नयसे मूढ़, विचक्षण और परम ये तीन भेद हैं, फिर इनके भी भेद किये हैं।

३४. षट्दर्शनाष्टक

"शिवमत बौद्ध रु वेद मत, नैयायिक मत दक्ष।
मीमांसक मत जैन मत, षट् दरसन परतक्ष॥

इन ६ दर्शनोंका स्वरूप कविने एक-एक दोहेमें दिया है। गागरमें सागर भरनेकी कहावत कविके इन दोहोंमें चरितार्थ हुए बिना नहीं रहती। यथा—

मीमांसक मत—देव अलख दरवेश गुरु, मानें कर्म गिरंथ।
धर्म पूर्व कृत फल उदय, यह मीमांसक पंथ॥

जैन मत—देव तीर्थंकर गुरु यती, आगम केवलि वैन।
धर्म अनन्त नयातमक, जो जानै सो जैन॥

३५. चातुर्वर्ण

पाँच दोहोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णोंका वास्तविक अर्थ स्पष्ट किया है। ब्राह्मण यथा—

जो निहचै मारग गहै, रहै ब्रह्म गुन लीन।
ब्रह्म दृष्टि सुख अनुभवै, सो ब्राह्मण परवीन॥

३६. अजितनाथके छन्द

यह रचना पाँच छन्दोंकी है। इसकी रचना कविने अपनी ससुराल खैराबादमें की थी। यह कविवरकी सम्भवतः पहली रचना है। इसमें कविने अपने गुरु भानुचन्द्रजीका भी स्मरण किया है।

३७. शान्तिनाथ जिनस्तुति

११ छन्दोंमें रची गयी यह रचना भी कविकी आरम्भिक रचना ही प्रतीत होती है। इसमें १६वें तीर्थंकर शान्तिनाथजीकी स्तुति की गयी है।

३८. नवसेना विधान

इसमें पत्ति सेना, सेनामुख आदि सेनाके नौ भेदोंकी चर्चा करते हुए प्रत्येकमें प्रत्येकके हाथी, घोड़े आदिकी संख्या बतलायी गयी है।

३९. नाटक समयसारके कवित्त

ये केवल चार छन्द हैं। संस्कृत कलशोंके अनुवाद हैं।

४०. फुटकर कविता

इसमें १० इकतीसा कवित्त, ३ सवैया, ३ छप्पय, १ वस्तु छन्द और ५ दोहे हैं। अर्धकथानकका २९वाँ कवित्त और ६२वाँ सवैय्या भी इसीमें मिला लिया गया है। इन फुटकर पद्योंमें हींग, मोम आदिका व्यापार निषेध, चौदह विद्याओंके नाम तथा कर्मकी १४८ प्रकृतियोंके नामादिक कहे गये हैं। कविता सामान्य है। प्रारम्भके दश छन्दोंमें कविकी प्रतिभा, आत्मचिन्तन और भाषागत प्रांजलता अवश्य ही प्रशंसनीय है।

आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय उदार चिन्तनके कवित्त कविके शालीनतापूर्ण व्यक्तित्वको हमारे सम्मुख उपस्थित कर देते हैं। अस्थिर संसारके निःसार विषयोंका चित्रण अत्यन्त मार्मिक है—

जामें सदा उतपात रोगन सौं छीजै गात,
कछु न उपाय छिन छिन आयु खपनौ।
कीजे बहु पाप औ नरक दुख चिन्ता व्याप,
आपदा कलाप में विलाप ताप तपनौ।
जामें परिगह कौ विषाद मिथ्या बकवाद,
विषै भोग सुख कौ सवाद जैसें सपनौ।
ऐसो है जगत वास जैसो चपला विलास,
तामें तू मगन भयौ त्याग धर्म अपनौ॥

४१. गोरखनाथके वचन

७ चौपाइयोंमें कुछ सन्तों-जैसी बातें कही गयी हैं। प्रतीत होता है कि कविवरपर गोरख-पन्थका भी कुछ प्रभाव था। कहा गया है—

जो भग देख भामिनी मानै, लिंग देख जो पुरुष प्रमानै।
जो बिन चिन्ह नपुंसक जोवा, कह गोरख तीनों घर खोवा।

४२. वैद्य आदिके भेद

इसमें ४१ पद्य हैं। इनमें वैद्य, ज्योतिषी, वैष्णव आदिके लक्षण कहे गये हैं। सभी लक्षणोंमें मौलिक चिन्तनकी झलक मिलती है। जातिवादकी व्यर्थता बताते हुए कवि कहते हैं—

एक रूप हिन्दू तुरक, दूजी दशा न कोय।
मन की दुविधा मानकर, भये एक सों दोय॥ इत्यादि

३० दोहोंमें अध्यात्मकी सुन्दर चर्चा है।

४३. परमार्थ वचनिका

पं० बनारसीदासजी पद्यरचनाकी भाँति गद्य लेखनमें भी सिद्धहस्त थे। प्रस्तुत लेख लगभग ९ पृष्ठोंका है। आपकी गद्य शैली व्यासप्रधान है। पं० राजमल्लजीकी समयसारकी बालबोधिनी टीकाके लगभग ५० वर्ष बादकी यह रचना है। कविवरकी रचनाकी भाषाका अध्ययन करते समय उद्धरणादिके साथ सविस्तार चर्चा होगी।

४४. उपादान निमित्तकी चिट्ठी

७ पृष्ठोंमें लिखी गयी यह भी एक पत्रात्मक गद्य रचना है। इसमें कार्य साधक उपादान और निमित्त कारणोंकी युक्तिपूर्वक चर्चा की गयी है।

४५. उपादान निमित्तके दोहे

आत्मोद्धारमें निमित्त कारण प्रबल है अथवा उपादान अथवा दोनों ही यह विवाद अति प्राचीन है। इसीसे सम्बन्धित ७ दोहे इस रचनामें हैं।

४६. अध्यात्म पद पंक्ति

इसमें २१ मुक्तक पद हैं। ये पद भैरव, रामकली, विलावल आदि विभिन्न रागिनियोंमें है। ये सभी पद अध्यात्मपरक हैं। इनमें बनारसी-

दासजीका आत्मचिन्तन एवं मुक्तक-रचना-कौशल अपनी उत्कृष्ट अवस्थामें देखा जा सकता है। सरसता-सरलता, स्वाभाविकता और भावगाम्भीर्यका सुन्दर समन्वय पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है। यथा—राग धनाश्री-(११)

चेतन उलटी चाल चले

जड़ संगत सों जड़ता व्यापी, निज गुन सकल टले। चेतन०

हित सों विरचि ठगनि सों राचे, मोह पिसाच छले। चे०

हँसि हँसि फंद सँवारि आप ही, मेलत आप गले। चे०

आये निकसि निगोद सिन्धु तें, फिर तिह पंथ टले। चे०। इत्यादि।

४७. परमारथ हिंडोलना

यह भी एक आध्यात्मिक पद है। इसमें बनारसीदासजीने स्वयंको काशीदास कहा है।

जो नर विचच्छन सदय लच्छन, करत ज्ञान विलास।

करजोर भगति विशेष विधि सों, नमत 'काशीदास'॥

४८. अष्टपदी मल्हार

इस पदको भी परमारथ हिंडोलनाकी भाँति स्वतन्त्र रूपसे संग्रह किया गया है। इसमें जीवकी संसार-दशाका चित्रण है।

उक्त अड़तालीस रचनाओंके अतिरिक्त कविवर बनारसीदासजीके अन्य फुटकर ५ पदोंका भी स्वतन्त्र रूपसे इसी संग्रहमें संग्रह किया गया है। इन पदोंमें-से ३ पद प्रेमीजीको तथा अन्तिम दो पद श्री कस्तूरचन्द जयपुर वालोंको विभिन्न भण्डारोंसे प्राप्त हुए हैं।

यह बनारसी-विलासमें संग्रहीत समस्त रचनाओंका सूत्रात्मक परिचय है। इस संग्रहसे हमें कविवर बनारसीदासकी कवित्वशक्ति, उदार चिन्तन एवं भाषा-विकासके अध्ययनमें भारी सहायता मिलती है। कविवरकी उदात्त धार्मिक दृष्टिके भी मधुर एवं स्पष्ट संकेत इस संग्रहसे प्राप्त होते हैं।

अद्यावधि बनारसी-विलासके मुद्रित रूपमें दो प्रकाशन हो चुके हैं। पहला १९०५ में आजसे ५३ वर्ष पूर्व पं० नाथूराम प्रेमीके सम्पादनमें प्रकाशित हुआ था और दूसरा १९५५ में जयपुरसे पं० कस्तूरचन्द कासलीवालके सम्पादकत्वमें। इन दोनों ही प्रकाशनोंके सम्बन्धमें पं० नाथूरामजी प्रेमी स्वयं लिखते हैं—"यद्यपि परिश्रम बहुत किया था, परन्तु साधनोंकी

कमीसे एक ही हस्तलिखित प्रतिका आधार मिलनेसे और पुरानी भाषाका ठीक ज्ञान न होनेसे वह बहुत ही त्रुटिपूर्ण रहा। उसके ५० वर्ष बाद सन् १९५५ में जब यह जयपुरसे प्रकाशित हुआ तो देखा कि मेरे उस पहले संस्करणको ही प्रेसमें देकर छपा लिया गया है, दूसरी प्रतियोंके सुलभ होनेपर भी उनका उपयोग नहीं किया गया और उसमें पहलेसे भी अधिक अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ भर गयी हैं। इससे बड़ा दुःख हुआ। अब भी इसका एक प्रामाणिक संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित होनेकी आवश्यकता है।"

आगराके मोतीकटरा और ताजगंजके दि० जैन मन्दिरोंमें बनारसी विलासकी ४–६ कापियाँ मैंने स्वयं देखी हैं। जो पर्याप्त स्वच्छ और शुद्ध हैं। इनके आधारपर एक परिशोधित संस्करण अवश्य ही प्रकाशित होना चाहिए।

रचना-तिथियाँ

बनारसी-विलासमें संग्रहीत रचनाओंकी रचना-तिथियोंकी जहाँतक बात है केवल जिनसहस्रनाम (१६९०), सूक्तमुक्तावली (१६९१) और कर्मप्रकृति विधान (१७००) इन रचनाओंका ही रचनाकाल दिया हुआ है, शेषका नहीं। ज्ञान बावनीका भी रचनाकाल (१६८६) दिया हुआ है परन्तु यह रचना बनारसीदासजीकी नहीं है। जिन ४४ रचनाओंका रचना-समय नहीं दिया गया है अर्धकथानकके संवत्वार अध्ययनसे उनका भी सम्भाव्य समय स्पष्ट हो जाता है।

संवत् १६७० (अ० क० पद्य ३८६–८७ के अनुसार)

१. अजितनाथके छन्द

संवत् १६८० (पद्य ५९६–९७)

२. ज्ञान पच्चीसी

३. ध्यान बत्तीसी

४. अध्यातमके गीत

५. कल्याण मन्दिर

संवत् १६८०-९२ (६२५-२८)

६. सूक्त मुक्तावली
७. अध्यातम बत्तीसी
८. मोक्ष पैड़ी
९. फाग धमाल
१०. भव सिन्धु चतुर्दशी
११. प्रास्ताविक फुटकर कविता
१२. शिव पच्चीसी
१३. सहस अठोतर नाम
१४. कर्म छत्तीसी
१५. झूलना (परमार्थ हिंडोलना)
१६. अन्तर रावन राम
१७. दो विध आँखें
१८. दो बचनिका
१९. अष्टक गीत (शारदाष्टकके)
२०. अवस्थाष्टक
२१. षट्दर्शनाष्टक
२२. गति बहुत
(अध्यात्म पद पंक्ति)

इन रचनाओंके अतिरिक्त बनारसी-विलासकी जगजीवन कृत विषय-सूचीके अनुसार और भी २३-२४ रचनाएँ हैं। इनमें-से केवल दोका ही समय ज्ञात हो सका है।

१. बावनी सवैया[1] (ज्ञान बावनी संवत् १६८६)
२. कर्म प्रकृतिविधान (संवत् १७००)

बनारसीके मूल संग्रहकर्ता पं० जगजीवनरामने बनारसीदासजीकी रचनाओंको जिस क्रमसे रखा है वह उस समय उनकी आवश्यकता और रुचि विशेषके ध्यानसे ही रखा गया प्रतीत होता है। कविवरकी रचनाओंको विषयकी दृष्टिसे व्यवस्थित करके यदि यह संग्रह किया जाता तो पाठकोंको बनारसीदासजीकी वर्धमान काव्य-प्रतिभा एवं विषय-विकासके व्यवस्थित अध्ययनका अवसर मिल जाता। मुद्रित संस्करणोंमें भी सम्पादक महोदयने इस क्रमपर विचार न करके पं० जगजीवनरामका ही अनुकरण किया है।

पाठानुसन्धान

कविवर बनारसीदासजीकी अद्यावधि मुद्रित रचनाओंमें पाठानु-

---

१. यह रचना तिथिक्रम एवं तालिका पं० नाथूराम प्रेमी-द्वारा सम्पादित अर्ध-कथानकके पृ० ६५-६६ के आधारसे दिया गया है। उक्त क्रम प्रामाणिक है।

सन्धानकी सर्वाधिक आवश्यकता बनारसी-विलासमें है। जयपुर और आगराके जैन भण्डारोंकी बनारसी-विलासकी हस्तलिखित प्रामाणिक प्रतियोंके आधारपर शीघ्र ही एक मुद्रित संस्करण बनारसी-विलासका प्रकाशित हो तभी हम कविवरकी कृतियोंका वास्तविक मर्म समझ सकेंगे एवं उनके शुद्ध काव्यसे शिक्षित वर्गको अवगत करा सकेंगे। सन् ५५ में पं० कस्तूरचन्दजीके सम्पादकत्वमें बनारसी-विलासका जो संस्करण निकला था उसपर विद्वानोंने बहुत टीका-टिप्पणी की। उसमें प्रेस सम्बन्धी भूलें, पाठोंकी भूलें तथा और भी बहुत-सी मोटी-मोटी त्रुटियाँ थीं जो विद्वानोंको भारी खटकीं। प्रौढ़ विद्वान् पं० नाथूराम प्रेमीका मत तो हम ऊपर देख ही चुके हैं, समर्थ विचारक एवं शोधक श्री अगरचन्द्र नाहटाने भी इस बनारसी-विलासकी मुद्रित प्रतिके सम्बन्धमें बड़े महत्त्वपूर्ण विचार रखे हैं। [1]'प्राचीन काव्योंकी भाषा वैसे ही दुरूह होती है, फिर उसका उद्धरण यदि सावधानीसे न छपे तो अर्थसंगति बैठाना और भी कठिन हो जाता है।

प्राचीन लिपिके कई अक्षरोंमें इतना साधारण अन्तर रहता है कि थोड़ा ध्यान न रखा जाये तो पाठ कुछका कुछ पढ़ लिया जाता है जिससे अनेक बार अर्थका अनर्थ भी हो जाता है। जैसे च्छ और त्य और च, ब और छमें इतना नगण्य-सा अन्तर रहता है कि थोड़ी-सी असावधानीसे गुड़ गोबर हो जाता है।' पाठसम्बन्धी ऐसी सभी भूलोंको संक्षेपमें नाहटाजीने सोदाहरण स्पष्ट किया है, साथ ही सम्पादकजीकी जानकारी सम्बन्धी भूलोंपर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। स्पष्ट है कि आज बनारसी-विलासके शुद्ध पाठोंसे परिपूर्ण, ठोस भूमिका और यथावश्यक टिप्पणी युक्त-एवं सुन्दर संस्करणकी आवश्यकता है।

इस कार्यके लिए मैंने आगराकी जिन प्रतियोंको प्रामाणिक समझा है उनके कुछ पाठ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

---

१. 'वीरवाणी' वर्ष ७, अंक ६, पृ० १२३-१२४।

आगराके मन्दिरोंमें प्राप्त
बनारसी-विलासकी हस्तलिखित प्रतियाँ

क्र० सं०	प्राप्ति स्थान	संकलयिता या लिपिकार	लिपि संवत्	पत्र संख्या	प्रत्येक पत्रमें पंक्तियाँ	लेखन	प्रतिकी दशा	आदि अथवा अन्तिम उद्धरण विशेष विवरण आदि
१	श्री दि० जैन मन्दिर मोती कटरा, आगरा	सुखानन्द व परसराम	१७५७ श्रावण सुदी १० रविवार	१३९	२०	स्वच्छ	जीर्णप्राय पुस्तकाकार	सत्रै सौ एकोत्तरै समै चैत सित पाख। लिपि दो व्यक्तियोंकी है।
२	,,	अज्ञात	अज्ञात	६०	२१	स्वच्छ लाल स्याही का भी पर्याप्त प्रयोग है।	खुले पत्र	प्रबल पंचइन्द्री सुलह, षट् विध जीव निकाय। जुआ आदि सात विसन, आठ करम समुदाय।
३	,,	अज्ञात	१८२८ चैत्रमासे शुक्ल पक्षे, अष्टम्यां रविवासरे।	१०९	१६	शुद्धाशुद्ध प्रत्येक अक्षर अलग-अलग है।	खुले पत्र	श्री अकबराबाद मध्ये लिखितम्। नरसिंहदास असवालस्य पठनार्थं।
४	श्री दि० जैन बड़ा मन्दिर, ताजगंज, आगरा।	अज्ञात	अज्ञात	३-३२	११	साधारण अशुद्धि अधिक है।	पुराणाकार आदि अन्त रहित है।	प्रा० अकोह अद्रोह अविग्रह अंक आदि प्रति० अपूर्ण है।
५	,,	,,	,,	५-२१	१०	स्वच्छ नहीं है।	पुराणाकार	प्रा० अथ अहिंसा अधिकार, सुकृतिकी अन्त इहिविधि देव
६[1]	,,	,,	,,	१३३	१४	ठीक है।	खान।	अदेवकी मुद्रा लाख लीजै।

[1] प्रारम्भ सूक्तियोंसे हुआ है। पूर्ण है। पाठ अत्यन्त शुद्ध है। ठीक है गुटका रूपमें है।

बनारसी-विलास

पाठानुसन्धान

मुद्रित प्रति जयपुरवाली		मोती कटरा आगरा-की हस्तलिखित प्रति नं० १४२	मो० क० आगराकी हस्तलिखित प्रति नं० १३६
	पृ० पं०		
१ गुरु को करहुँ	३ १	गुर कौं करौं	गुरकों करौं
२ बाहित	१९ १३	बोहित	बोहित
३ खंडपति	२२ १७	षंडपति	षंडपति
४ सुरनि-नैन	२३ ५	सुरनि-भौन	सुरनि-भौन
५ विशेखिये	२४ ७	विशेषए	विसेखियै
६ और कोउ न देखिये	२४ ८	अउर कोउ न देखिये	और कोउ न देखिये
७ शिरमौर	२८ १०	सिरमौर	सिरमौर
८ कुरग	३३ १६	कुरंग	कुरंग
९ कुछ	३६ १२	कुल	कुल
१० पापी	१३५ १	पानी	पानी
११ पावन के	१५२ १८	पवन के	पवन के
१२ दुरमात	१५९ २	दुरमति	दुर्मति
१३ रच	१५९ ८	रंच	रंच
१४ पुहुष	१६७ १२	पुहुप	पुहुप
१५ जाग	१८२ १०	जोग	जोग
१६ दन	१८३ १	दम	दम
१७ साय	१८४ १६	सोय	सोय
१८ बाचा	२०३ ९	बाबा	बाबा
१९ शशिहरि	२०५ ८	शशधर	ससधर

परम्परा और प्रणालियाँ

'बनारसी-विलास' में हम बनारसीदासजीको अनेक रूपोंमें देखते हैं। धर्म, नीति, अध्यात्म, भक्ति, दर्शन, कर्मसिद्धान्त, लोकसमन्वयसे

समन्वित उदात्त एवं बहुमुखी व्यक्तित्वके दर्शन होते हैं। बनारसीदास-जीकी बहुमुखी प्रतिभा, अनेक क्षेत्रीय अध्ययन एवं रुचिवैचित्र्यके साथ एक स्थिर अध्यात्म दृष्टिका एक साथ साक्षात्कार हमें इस संग्रहमें ही होता है। 'बनारसी-विलास' की प्रायः सम्पूर्ण रचनाएँ गेय और पाठ्य मुक्तकोंमें ही हैं। इन सभी रचनाओंको विषयकी दृष्टिसे मुख्यतः तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है: १ नीति प्रधान रचनाएँ, २ सैद्धान्तिक रचनाएँ, ३ आध्यात्मिक रचनाएँ।

हिन्दी साहित्यमें उक्त तीनों ही प्रकारकी रचनाओंकी अत्यन्त प्राचीन परम्परा रही है। नीतिविषयक रचनाओंकी परम्पराका निश्चित और स्थिर मूल स्रोत हमें महाकवि भर्तृहरिके संस्कृत नीतिशतकमें मिलता है। नीतिशतकके अतिरिक्त कविवर भर्तृहरिने वैराग्यशतक एवं शृंगार शतक और रचे थे। फुटकर रूपमें तो भारतीय साहित्यकी आदि अवस्थामें भी हम नीतिपरक साहित्य पा सकते हैं। समय-समय-पर प्रसंगानुकूल नीतिकी चर्चा प्रायः सभी कवियोंने की है।

हिन्दीमें हमें सर्वप्रथम हेमचन्द्रके व्याकरणमें संग्रहीत अपभ्रंशके दोहोंमें अनेक दोहे नीतिविषयक मिलते हैं। मुनि रामसिंह जैनके साहित्यमें भी नीतिविषयक पद्योंकी कमी नहीं है। कबीरदासजी, महात्मा तुलसीदासजी और रहीम कविके नीतिसम्बन्धी दोहोंसे हिन्दी संसार भलीभाँति परिचित ही है। भक्तिकालके प्रायः सभी कवियोंमें नीतिविषयक रचनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। सोलहवीं शताब्दीमें कविवर कौरपाल जैनने भी एक दोहाशतककी रचना की थी। यह सम्पूर्ण रचना नीतिसम्बन्धी दोहोंसे परिपूर्ण है। इसका एक-एक दोहा हिन्दी साहित्यका अनुपम रत्न है। उदाहरणार्थ एक दो दोहे प्रस्तुत हैं—

> चेतन सों परिचै नहीं, कहा भये व्रत धारि।
> सालि विहीनै खेत की, वृथा बनावत वारि ॥८७॥
> तौ लगि सब रस रुचत हैं, अरु सब विषय कहानि।
> जौ लगि चेतन सों नहीं, भई भली पहिचानि ॥८८॥
> पुहुपनि विषै सुवास ज्यों, तिलनि विषै ज्यों तेल।
> तिम तुम घट मंहि रमत हो, जिनु जानौ यह खेल ॥९०॥

कविवर कौरपालजी बनारसीदासजीके साथी थे। सूक्त मुक्तावलीका हिन्दी पद्यानुवाद आप दोनोंने मिलकर किया था। सम्राट् अकबरके

दरबारके राजा बीरबल और नरहरि महापात्रके नीतिपरक पद भी पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। १७वीं शतीमें बनारसीदासजीने भी अपने पूर्वाचार्यों और कवियोंकी इस परम्पराको अपनी प्रतिभासे और भी समुज्ज्वल किया। आपके नीतिसम्बन्धी दोहोंमें गहरा चिन्तन एवं आत्मानुभव कूट-कूटकर भरे हुए हैं। देखिए—

[1]शिथिल मूल दिढ़ करै, फूल चूंटे जल सींचै।
ऊरध डार नवाय, भूमिगत ऊरध खींचै।
जे मलीन मुरझांहि, टेक दे तिनहिं सुधारहि।
कूड़ा कंटक गलित पत्र, बाहिर चुन डारइ।
लघु वृद्धि करइ भेदे जुगल, बाड़ि संवारे फल भखै।
माली समान जो नृप चतुर, सो विलसै संपति अखै॥

मनुष्यका वास्तविक गुण गुण और दोषकी सीमासे ऊपर उठनेमें है—

[2]दृष्टि सुगुन अरु दोष की, दोष कहावै सोय।
गुण अरु दोष जहां नहीं, तहां गुन परगट होय॥

बनारसीदासजीके पश्चात् भैया भगवतीदास, द्यानतराय, दौलतराम आदिने भी नीतिविषयक उल्लेखनीय रचनाएँ की हैं।

कविवर बिहारीकी सतसईसे भी कई दोहे मार्मिक नीतियोंसे परिपूर्ण हैं। अठारहवीं शताब्दीके आरम्भमें 'वृन्द सतसई' (कविवर वृन्दकृत) के नीतिविषयक दोहे भी जनताके आकर्षण-केन्द्र रहे। इसी शताब्दीमें गिरिधर कविराय हुए जिनकी कुंडलियाँ आज भी बड़े चाव और सम्मानके साथ पढ़ी-पढ़ायी जाती हैं। १९वीं शताब्दीमें कविवर 'दीनदयाल गिरि'को हम इस दिशामें सफल देखते हैं। इसके पश्चात् यह परम्परा क्रमशः क्षीण होती गयी। १९वीं शती तक तो नीतिसाहित्यकी अबाध रचना होती रही।

'बनारसी-विलास'में सैद्धान्तिक रचनाओंकी भी कमी नहीं है। कविवर जैन दर्शन एवं सिद्धान्तके पारंगत एवं अनुभवी विद्वान् थे। उक्त संग्रहमें कर्म प्रकृतिविधान, मार्गणाविधान, कर्म छत्तीसी, साधु वन्दना, परमार्थवचनिका, निमित्त उपादानकी चिट्ठी आदि रचनाएँ सैद्धान्तिक रचनाओंकी कोटिमें आती हैं। इन रचनाओंमें कविने जैन दर्शन, धर्म एवं कर्म

---

१. बनारसी-विलास। नव रत्न कवित्त ५।

२. बनारसी-विलास प्रश्नोत्तरमाला-२०।

सिद्धान्त आदिका विवेचन किया है। कोई भी कवि जब सैद्धान्तिक विवेचनमें उलझ जाता है तो उसकी कवितामें तार्किकता एवं प्रयत्न-साध्यताकी मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि उसकी कविता कविता न रहकर एक पद्यबद्ध सैद्धान्तिक विवेचन मात्र रह जाता है। कबीर, सूर, तुलसी, केशव आदि कवियोंकी रचनाओंके ऐसे स्थल इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। आधुनिक युगमें 'साकेत,' 'कामायनी' और 'प्रियप्रवास' नामक महाकाव्योंमें भी ऐसे दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक स्थल हैं जहाँ कवियोंकी वास्तविक काव्यप्रतिभा अवरुद्ध हो गयी है। कविवर बनारसीदासजी भी ऐसी रचनाओंमें हमारे सम्मुख अपने प्रतिष्ठित कविके रूपमें नहीं आ सके हैं।

सैद्धान्तिक रचनाओंकी परम्परा भी हिन्दी साहित्यमें अत्यन्त विस्तृत है। सामान्यतः प्रत्येक कवि किसी निश्चित सिद्धान्त एवं लक्ष्यका प्रतिपादन अपनी रचनाओंमें करता है। अतः हिन्दीके प्रत्येक कविमें किसी-न-किसी सिद्धान्तकी झलक अवश्य ही मिलती है। हिन्दीके आदि कवि स्वयम्भूके 'पउम चरिय'में भी सैद्धान्तिक विवेचनके अनेक स्थल हैं। भक्तिकालसे तो सैद्धान्तिक विवेचनकी विस्तृत पुष्ट एवं स्पष्ट परम्परा मिलती ही है। ज्ञानाश्रयी, प्रेममार्गी, रामभक्ति एवं कृष्णभक्ति नामक पृथक्-पृथक् शाखाएँ वस्तुतः सैद्धान्तिक आधारोंपर ही हैं। प्रत्येक शाखाके कवियोंने अपने-अपने मत-सिद्धान्तका काव्यमय प्रतिपादन भी डटकर किया है। चारों ही शाखाओंके प्रमुख कवि कबीरदासजी, जायसी, तुलसीदासजी एवं सूरदासजीने बड़ी तत्परताके साथ अपने मान्य धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तोंकी चर्चा की है। कविवर केशवने भी अपनी विविध रचनाओंमें अपना धार्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। १७वीं एवं १८वीं शताब्दियोंमें बनारसीदासजी, कौरपालजी, भैया भगवती दासजी, दौलतरामजी, द्यानतरायजी आदि जैन कवियोंने भी अपने धार्मिक सिद्धान्तोंपर रचनाएँ की हैं। इस शताब्दीमें भारतेन्दुजी एवं रत्नाकरजीने भी अपने धार्मिक सिद्धान्तोंका परिचय अपनी रचनाओंमे दिया है। कविवर प्रसादजीकी 'कामायनी'में उनका शैवदर्शन, 'साकेत'में गुप्तजीकी वैष्णव दर्शनके प्रति दृढ़ आस्था तथा 'कुरुक्षेत्र' एवं 'रश्मिरथी'में दिनकरजीका 'मानववाद' उनके दार्शनिक विवेचनोंकी जीवित परम्पराके स्पष्ट एवं सबल प्रमाण हैं। अतः यह निश्चित है कि अद्यावधिक साहित्यमें सैद्धान्तिक रचनाओंकी परम्परा अविच्छिन्न रूपसे चली आ रही है।

अध्यात्म भारतीय साहित्यका आत्मा है। इस देशके जीवन क्षेत्रकी प्रत्येक गतिविधि प्रायः अध्यात्मसे प्रेरित एवं परिचालित होती है। आत्माकी सार्वभौम दृष्टिको अग्रसर करके ही इस भारतकी भूमिका सम्पूर्ण वाङ्मय निर्मित हुआ है। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्यने अध्यात्मकी जिस लोककल्याण-कारिणी अक्षय प्रभासे जन-मानसको पदे-पदे जीवन-सम्बल दिया है, उसकी स्वस्थ परम्पराका अत्यन्त उदात्त विस्तार हिन्दी साहित्यमें हुआ है। भक्तिकालके सभी कवियोंने अध्यात्म प्रधान मुक्तकोंकी सुन्दर एवं निर्मल धारा प्रवाहित की है। महात्मा कबीरकी साखी और सबदका बहुभाग नीति और अध्यात्मसे परिपूर्ण है। सबद तो प्रायः सभी अध्यात्मपूर्ण हैं। तुलसीदासजीके अनेक मुक्तक एवं दोहे अध्यात्मकी तलस्पर्शी विवेचनासे भरे हुए हैं। सूरदासजीमें भी ऐसे पदोंकी कमी नहीं है। रीतिकालीन देव, बिहारी, घनानन्द आदि कवियोंमें भी आत्मतत्त्वकी रुझान रही है, चाहे वह थोड़ी ही हो। जैन कवियोंने तो अपने साहित्य-सृजनके मूलमें ही अध्यात्मको रखा है। प्रायः सभी हिन्दी जैन कवियोंने आत्म-जागरण-प्रधान पदोंकी रचना की है। आज भी सभी लब्धप्रतिष्ठ कवि अपनी कविताका चरम लक्ष्य आत्माकी उन्नति ही मानते हैं। वास्तवमें कविता वही है जो मानवकी आत्मोन्नतिका पथ प्रशस्त रूपसे आलोकित कर सके।

इन विभिन्न प्रकारकी रचनाओंकी प्रणयन-पद्धतियाँ भी विविध रही हैं। बनारसीदासजीने भी विषयानुसार कई पद्धतियाँ स्वीकार की हैं। नीतिप्रधान रचनाओंमें बात एकदम सीधी संक्षेपप्रधान समास पद्धतिसे कह देते हैं। उनकी इस पद्धतिमें रोचकताका अभाव कदापि नहीं होने पाता। नीति एवं उपदेशमय रचनाओंमें बनारसीदासजीपर संस्कृत-कवियों-जैसी समास-पद्धतिका पूरा प्रभाव रहा है। उनका 'सूक्तमुक्तावली' प्रकरण तो प्रसिद्ध कवि सोमप्रभ (श्वेताम्बर) कृत संस्कृतकी 'सूक्तमुक्तावली' (सिन्दूर प्रकर) का अनुवाद ही है। बनारसीदासजीकी रचना-शैलीमें भाव-प्रेषणताकी अद्भुत क्षमता है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

वरु[1] दरिद्रता होउ, करत सज्जन कला,
दुराचार सों मिलै, राज सो नहि भला,

१. बनारसी-विलास, सूक्त मु०, ६६।

ज्यों शरीर कृश सहज, सु सोभा देत है,
सूजी थूलता बढ़ै, मरन को हेत है ॥

हिन्दी साहित्यमें अद्यावधि जितने भी साहित्यकारोंने नीति-प्रधान रचनाएँ की हैं प्रायः सभीमें समासप्रधान शैलीको अपनाया गया है। दोहा, पद, कुण्डलियाँ और कवित्त-सवैया इन छन्दोंको ऐसी रचनाओं-में अपनाया गया है।

आध्यात्मिक रचनाओंमें कवियोंने प्रायः पद-पद्धतिको ही अपनाया है। दोहामें आत्मतत्त्व-विवेचनकी क्षमता कम ही रहती है। महात्मा कबीर-दासजीके अद्भुत गाम्भीर्यसे परिपूर्ण पद आज भी जनताके हृदयहार बने हुए हैं।

१ काहे री नलिनी तू कुमिलानी""""आदि

....

२ सन्तो भाई आई ज्ञान की आंधी।

भ्रम की टाटी सबै उड़ानी, माया रहै न बांधी। आदि

... ...

३ हरि बिन बैल बिराने ह्वै हैं

फाटे नाक न टूटे कांधन, कोदऊ को भुस खै है। आदि

इसी प्रकार सूर और तुलसीके भी अनेक मार्मिक उद्धरण दिये जा सकते हैं। जैन कवियोंने भी अध्यात्म-प्रधान पदोंकी भारी मात्रामें रचना की है। भाव-प्रेषणता और भाषा-सारल्य इस पदोंकी अपनी अनोखी विशेषता है।

दार्शनिक रचनाओंमें कवियोंने प्रायः तार्किक पद्धतिको ही अपनाया है। जिसमें सरसता प्रायः लुप्त होती गयी है। कवि कवि न रहकर एक दार्शनिक हो गया है। क्या कबीर क्या तुलसी और क्या बनारसीदासजी ये सभी कवि जब दार्शनिक विवेचनोंमें उलझे हैं तभी इनकी शैलीका प्रवाह और प्रसाद-माधुर्य गुण कवितासे बिदा ले गये हैं। ऐसी रचनाओंमें कृत्रिमता और प्रयत्नसाध्यतासे बचा नहीं जा सकता। अतः रचना-शैली-भी स्वाभाविक नहीं रह सकती है। बनारसीदासजीकी कर्म छत्तीसी, उपादान निमित्तकी चिट्ठी आदि पद्य-गद्यमय रचना इसके प्रमाण हैं।

जैन सम्प्रदायमें कविवर बनारसीदासजीकी प्रसिद्धि उनके अध्यात्म-ग्रन्थ 'समयसार'के कारण है और जैनेतर समाजमें तथा सभी साहित्यिक वर्गोंमें उनकी आत्मकथा 'अर्धकथानक' के कारण। 'समयसार'की रचना जैन अध्यात्मकी दृष्टिसे की गयी है और 'अर्धकथानक' एक ऐसी सरल शुद्ध एवं निर्लिप्त भावसे रची गयी पद्यबद्ध आत्मकथा है जिसपर प्रत्येक वर्ग एवं धर्मके पाठककी आत्मीयता अनायास ही हो जाती है। अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीने इसका प्रणयन, किसीभी धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग अथवा जातिकी संकुचित सीमाओंसे सर्व पृथक् रहकर, निश्छल मानवताके सात्त्विक धरातलसे ही किया है। कविवरका ५५ वर्षोंका घटनाबहुल जीवन इस आत्मकथामें अत्यन्त स्वाभाविक एवं आकर्षक पद्धतिसे वर्णित है। आपने मनुष्यकी आयु ११० वर्षकी अनुमानित की थी इसीलिए स्वयंके ५५ वर्षोंका जीवनवृत्त लिखकर इस कृतिका नाम 'अर्धकथानक' रखा। यह रचना अगहन सुदी पंचमी सोमवार संवत् १६९८ को समाप्त हुई है। बनारसीदासजीका देहान्त इस रचनाके कुछ ही समय पश्चात् संवत् १७०० के अन्तमें हो गया था अतः वे अपना शेष डेढ़-दो वर्षोंका जीवनवृत्त और न लिख सके। एक सच्ची आत्मकथाकी कसौटी आत्मप्रकाशन (निश्छल रूपसे) है, आत्मगोपन नहीं। १७वीं सदीमें हमारी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था कितनी जटिल एवं बोझिल थी। अन्ध विश्वासों, बहिष्कारों और आडम्बरित क्रियाकाण्डोंके कारण समाज कैसा कराह रहा था, यात्रीदलके लिए मार्गादिकमें कैसे-कैसे संकटोंका सामना करना पड़ता था। राजधानीसे दूर छोटे-छोटे नगरों और क़स्बोंमें नवाबोंके नागरिकोंपर कैसे अमानुषिक अत्याचार होते थे। नागरिकोंको धन-जनकी रक्षाके लिए महीनों और वर्षों बाहर रहकर कितना कष्टमय जीवन-यापन करना पड़ता था। आदि बातोंपर इस आत्मकथा-द्वारा अत्यन्त प्रामाणिक चर्चा की गयी है। इतिहास भी जिन तथ्योंसे दूर ही रह गया है कविवरकी यह आत्मकथा उनपर सुन्दर प्रकाश डालती है।

बनारसीदासजीने 'अर्धकथानक' में अपनी दुर्बलताओंका निःसंकोच-भावसे खुलकर वर्णन किया है। वे अपने व्यक्तिगत जीवनमें जैसे कुछ थे उसी रूपमें पाठकोंके सम्मुख उपस्थित हो गये। अपनी भूलों, दुर्बलताओं और असफलताओंके इतने स्पष्ट विवेचनपर समाजमें कितनी कटु आलोचना

होगी, कितने तिरस्कारसे लोग देखेंगे। सामाजिक बहिष्कारका भी क्षणे-क्षणे कैसा विष वमन करेंगे। इत्यादि बातोंकी रंचमात्र चिन्ता न करके आपने अपने जीवनके प्रत्येक उत्थान-पतन, सुख-दुःख, लाभ-हानि, राग-विराग आदिका यथाघटित उल्लेख अत्यन्त निश्छल भावसे किया है। सभी प्रकारकी हीनता एवं उच्चता ग्रन्थियोंके मानव-विकास विरोधी लौह-सीखचोंको छिन्न-भिन्न कर कविवरका व्यक्तित्व नवजात शिशु-सा अनावृत अतः सर्वातिशायी हो उठा है। महात्मा गान्धीकी आत्मकथा एक उत्कृष्ट आत्मकथा है। वे उसकी भूमिकामें अत्यन्त सरलता और स्पष्टतासे लिखते हैं —[1] "पाठकोंको अपने दोषोंका परिचय मैं पूरा करनेकी आशा रखता हूँ, क्योंकि मुझे तो सत्यके वैज्ञानिक प्रयोगोंका वर्णन करना है। यह दिखानेकी कि मैं कैसा अच्छा हूँ मुझे तिलमात्र इच्छा नहीं है।" अत्यन्त अनोखी सरलतासे गान्धीजीने अपने पवित्र मनोभाव प्रारम्भमें ही व्यक्त कर दिये हैं। कविवर बनारसीदासजी अपने गुण-दोषोंका समुचित वर्णन करनेके पश्चात् बड़ी विनम्रतासे अपनी लघुता सूचित करते हुए लिखते हैं —

> "[2]एक जीव की एक दिन, दसा होत जेतीक।
> सो कहि सकै न केवली, जानै जद्यपि ठीक॥
> मन परजै धर अवधि धर, करहिं अलप चिन्तौन।
> हमसे कीट पतंग की, बात चलावे कौन॥
> तातें कहत बनारसी, जी की दसा अपार।
> कछू थूल में थूल सी, कही बहिर विवहार॥"

स्पष्ट है कि कविमें किसी प्रकारका अभिमान नहीं है। वे स्वयंको कीट-पतंगकी श्रेणीमे रखते हैं। अपने जीवन-वृत्तको भी वे स्थूल कहते हैं। आत्मामें प्रतिदिन असंख्य प्रकारकी भावोर्मियाँ उठती हैं जिनकी पूर्ण जानकारी केवल केवली भगवान्को ही रहती है परन्तु उन सब भावोंके कथन करनेमें वे भी असमर्थ रहते हैं। एक सच्चे आत्मकथा-लेखकमें जिस सन्तुलनकी आवश्यकता होती है वह बनारसीदासजीमें पूर्णतया दृष्टिगोचर होता है। कहीं भी भावुकताके कारण अतिरंजन अथवा भाव-हनन नहीं हुआ है। विनयसम्पन्नता एवं शालीनता तो आपमें पदे-पदे देखी जा सकती है।

---

१. 'सत्यके प्रयोग' भूमिका, पृ० १२, लेखक गान्धीजी।

आत्मकथा यद्यपि व्यक्तिकी जीवन-घटनाओं, प्रभावों एवं कार्य-कलापोंसे परिवेष्टित होनेके कारण शुष्क-सी लग सकती है, परन्तु योग्य लेखक घटनाओंको बिना अतिरंजित किये हुए भी अपनी सरल-निश्छल अभिव्यक्ति-द्वारा अत्यन्त रोचक बना देते हैं। आत्मकथाएँ बहुधा गद्यमें ही होती हैं। कविवर बनारसीदासजीने सरल-सरस पद्योंमें इसकी रचना करके एक अत्यन्त उज्ज्वल आदर्श उपस्थित कर दिया है। पाठक अर्ध-कथानकको पढ़कर कहीं भी भावावेश, अतिरंजना, शब्दाडम्बर, दुर्बोधता आदि नहीं पाते हैं।[1] "व्यर्थके विस्तारका तो 'अर्धकथानक'में कहीं पता ही नहीं चलता। इसमें सन्देह नहीं कि भाषा, भाव, सहृदयता और उपयोगी विवरणोंसे भरा अर्धकथानक न केवल हिन्दी साहित्यका ही वरन् भारतीय साहित्यका एक अनूठा रत्न है। बनारसीदासकी आत्मकथाका सम्बन्ध राजमहलोंसे न होकर मध्यम व्यापारी वर्गसे है जिसे पग-पगपर कठिनाइयों और राजभयसे लड़ना पड़ता था। इसमें साहसकी आवश्यकता थी और बनारसीदास और जिस वर्गमें वे पले थे उसमें यह साहस था इसीलिए उन्हें कोई कुचल न सका।" कविवर बनारसीदासजीने अद्भुत सरलता, विनय एवं दृढ़ताके साथ भारी अर्थाभाव एवं कौटुम्बिक वैषम्यमें जीवन-यापन किया। व्यापारिक असफलताओं और सन्तान-क्षयकी तो उनपर जीवन-भर असह्य चोटें पड़ती रहीं फिर भी वे अपने साहसी जीवनसे विरक्त नहीं हुए।

कविवर बनारसीदासने अर्धकथानकमें अपना जीवनवृत्त तो दिया ही है साथ ही तात्कालिक सामाजिक धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियोंके भी बड़े महत्त्वपूर्ण संकेत दिये हैं। १७वीं सदीमें युरॅपीय यात्री भी इस देशमें विभिन्न मार्गोंसे यात्री एवं व्यापारीके रूपमें आये। उन्होंने भी इस देशके रीति-रिवाज, सड़कों एवं प्राकृतिक तथा भौगोलिक विशेषताओंका वर्णन किया, परन्तु इस देशके वैविध्यको देखते हुए उनका ज्ञान सीमित था। इस देशकी प्रथाओं, वेशभूषा एवं उत्सवोंका वर्णन भी उनका वास्तविक नहीं होता था क्योंकि थोड़ा-बहुत ही मुश्किलसे वे देख पाते थे और तो दूसरोंसे सुन-सुनाकर ही समझते थे और लिख देते थे। बनारसीदासजीने अर्धकथानकमें यथावसर इन सभी बातोंका वास्तविक उल्लेख किया है। जैन तीर्थ शिखर सम्मेदजीकी यात्राका, गंगास्नानके लिए बनारस जाने-

---

१. 'अर्धकथानक', पृ० १८, डॉ० मोतीचन्द।

वाले व्यक्तियोंका, रोहतकपुरको यात्राका और अनेक बारके व्यक्तिगत एवं कौटुम्बिक भ्रमणका स्वयं अनुभूत वर्णन बनारसीदासजी ने किया है। उनके समयमें सामूहिक यात्राएँ चार-चार छह-छह महीनेकी होती थीं। यात्री घरबारसे इतने लम्बे समयके लिए वियुक्त होते समय यही कह जाते थे यदि भगवान्ने मिलाया तो फिर मिलेंगे अन्यथा बिछुड़े ही समझो। यात्राके अनेक संकट उन्हें ऐसा कहनेको विवश करते थे। ये यात्राएँ पैदल, बैलगाड़ियोंपर तथा घोड़ों और ऊँटोंपर होती थीं। यात्रा निरापद नहीं होती थी इस सम्बन्धमें कविवरकी रोहतकपुरकी सतीदेवीकी यात्राका वर्णन देखिए—

[1]"सैंतीसे संवत् की बात रुहतग गये सती की जात।
चोरन्ह लूटि लियो पथ माँहिं, सर्वस गयो रह्यो कछु नाहिं॥
रहे वस्त्र अरु दंपति देह, ज्यों त्यों करि आये निज गेह।
गये हुते मांगन कों पूत, यहु फल दीनौं सती अऊत॥"

कविवर बनारसीदासजीके पिता खरगसेनजीका पैसे-पैसेसे सपत्नीक लुट जाना तात्कालिक यात्रा-सम्बन्धी चौर-संकटका स्पष्ट प्रमाण है। जनतामें देवी-देवताओंसे सन्तान-याचनाका अन्धविश्वास कितना प्रबल था कि खरगसेन-जैसे विवेकी व्यक्तिपर भी इसका प्रभाव पड़ा। बनारसमें पार्श्वनाथके यक्षने पुजारीको प्रत्यक्ष दर्शन देकर भी एक भविष्यवाणी की थी कि इस बालकका नाम पार्श्वजन्म स्थानके नामपर (बनारसी) रख देनेसे इसके दीर्घायु होनेमें कोई चिन्ता न रहेगी। कविवरके माता-पिताने किया भी ऐसा ही और कविका नाम बनारसीदास रख दिया।

बनारसीदासजी स्वयं अनेक प्रकारके अन्धविश्वासों और प्रलोभनोंमें फँसे थे। जैन धर्मानुसार उन्हें किसी प्रकारके बाह्य प्रलोभन या अन्ध-विश्वासमें न आना चाहिए था, परन्तु आर्थिक दबाव और व्यसन-प्रियता मनुष्यको ऐसे ही कामोंकी ओर मोड़ देते हैं जिनसे उसे बिना किसी विशेष पुरुषार्थके अटूट धन प्राप्त हो सके। सदा शिवके शंखका एक वर्ष पर्यन्त कविने पूजन किया और संन्यासीके दिये हुए मन्त्रका पाखानेमें बैठकर जप भी साथ-साथ किया। जब वर्ष पूर्ण हो चुकी और संन्यासीके कथनानुसार बनारसीदासजीको प्रतिदिन तो क्या किसी भी दिन एक स्वर्ण दीनार अपने द्वारपर पड़ी न मिली, तो वे अत्यन्त निराश हुए और अन्धविश्वासकी

---

१. 'अर्धकथानक', ७८–७९।

सारहीनताका गहरा अनुभव किया।

श्री जिनेन्द्रदेव राग-द्वेषसे सर्वथा परे एवं नितान्त अपरिग्रही हैं। बनारसीदासजीने कोल (अलीगढ़की तहसील) के जैन मन्दिरमें जिन-प्रतिमासे धन-याचना की और धन-प्राप्ति होनेपर पुनः यात्राका संकल्प भी किया। 'अर्थस्य दासः जगत्'का कविवरपर एक लम्बे समय तक भारी प्रभाव रहा। वास्तवमें बनारसीदासजीका जीवन यदि व्यापारिक असफलताओं और अर्थाभावकी चोटोंसे अवरुद्ध न होता तो वे हिन्दी संसारको और भी जाने कितने अनूठे ग्रन्थ-रत्नोंसे उपकृत करते।

व्यक्तिगत दुर्व्यसनों, अनुचित प्रेम-व्यापारों एवं जीवनपर उनके कटु-प्रभावोंका बनारसीदासजीने निःसंकोच वर्णन किया है। एक भोले बालक-जैसी निश्छल विवरण-पद्धतिसे ही बनारसीदासजीने स्वतःकी विषयान्ध प्रवृत्तिका वर्णन किया है। कविवर बनारसीदासका जीवन पौराणिक पुरुषों-जैसी अतिरंजनाओं, चमत्कारों एवं अनैतिक कल्पनाओंका पुलिन्दा नहीं है, उसमें सर्वत्र एक भौतिक मानवको लौकिक परिस्थितियोंके बीच पतित-उत्थित जीवनधारा प्रवाहित हो रही है। कविवर बनारसी-दासजी कुशाग्रबुद्धि, प्रतिभासम्पन्न एवं प्रत्युत्पन्नमति थे अतः उनमें बाल्यकालसे ही व्यापारिक कुशलता एवं काव्य-रचनाके बीज अंकुरित हो उठे। जहाँ कविमें ये उदात्त भाव जगे वहाँ उनकी यौन-प्रवृत्तियाँ भी शीघ्र ही प्रस्फुटित हो उठीं। १५ वर्षकी अल्पवयमें ही वे प्रेम व्यापारमें पड़ गये। उनके इस इश्क़ने उनमें इतनी निर्लज्जता और उन्माद भर दिया कि वे माता-पिता, गुरुजन और लोक-लज्जाको सर्वथा तिलांजलि दे बैठे।

[1]"विद्या पढ़ि विद्या में रमै, सोलह से सत्तावने समै।
तजि कुलकान लोक की लाज, भयौ बनारसि आसिखबाज॥
करै आसिखी धरि मन धीर, दरद बन्द ज्यों सेख फकीर।
इक टक देखि ध्यान सो धरै, पिता आपने कौ धन हरै॥
चोरै चूनी मानिक मनी, आनै पान मिठाई घनी।
भेजै पेस कसी हित पास, आप गरीब कहावै दास॥"

बनारसीदासजीने अपनी विषयासक्तिकी तीव्रताका स्वयं ही स्पष्ट उल्लेख किया है। घरकी चोरी करके किसी प्रेयसीके लिए पान और मिठाई भेजना, सदा उसीके ध्यानमें डूबे रहना और काव्य प्रतिभाका उप-

१. 'अर्धकथानक' १७०,१७१,१७२।

योग भी आशिक़ीकी रचनाओंमें करना कविका जीवन सा बन गया था। विद्याध्ययनमें भी बनारसीदासजीका मन न लगता था। वे बहुधा पढ़ाई छोड़कर स्वैराचारको निकल पड़ते थे।

[1]"कबहूं आइ सबद उर धरै, कबहूं जाइ आसिखी करै।"

इस प्रकार लगभग दो वर्ष इनका इसी प्रकारका जीवन चलता रहा।

[2]"करि आसिखी पाठ सब पठे, संवत् सोलह सै उनसठे"

इसी विषयासक्तिकी तीव्रताके कारण बनारसीदासजी अपनी ससुराल खैराबादमें असह्य रोगसे आक्रान्त हो गये।

[3]"भयो बनारसीदास तन, कुष्ट रूप सरबंग।
हाड़-हाड़ उपजी बिथा, केस रोम भुवभंग ॥१८५॥
बिस्फोटक अगनित भये, हस्त चरन चौरंग।
कोऊ नर साला ससुर, भोजन करै न संग ॥१८६॥"

इस असाध्य रोगके विषयमें और इसके दुष्परिणामके सम्बन्धमें पं० नाथूराम प्रेमी लिखते है[4]: "अपनी ससुराल खैराबाद जाकर वे जिस रोगसे आक्रान्त हुए उसके विवरणसे स्पष्ट मालूम होता है कि वह गरमी या उपदंश था और उसीका यह परिणाम हुआ कि उनके एकके बाद एक नौ बच्चे हुए परन्तु उनमें-से एक भी नहीं बचा, सब थोड़े-थोड़े दिन ही रह-कर कालके गालमें चले गये और दो स्त्रियाँ प्रसूतिकालमें ही मर गयीं।" कविने सर्वत्र अपने जीवनकी दुर्बलताओंको निर्भीक भावसे किन्तु सरलता-पूर्वक प्रकट किया है। अपनी हीनताओंपर वे विवकेवान् होनेपर खिन्न भी बहुत हुए। अपनी नवरस रचनाके सम्बन्धमें भी बनारसीदासजीने स्वयं ही लिखा है –

[5]"पोथी एक बनाई नई, मित हजार दोहा चौपई।
तामें नव रस रचना रची, पै बिसेस बरनन आसिखी।
ऐसे कुकवि बनारसि भये, मिथ्या ग्रन्थ बनाये नये ॥"

---

१. वही १७८।
२. 'अर्धकथानक', १८१।
३. वही, १८५-१८६।
४. वही, पृ० २८।
५. वही, पृ० १७८, १७९।

आपके ग्रन्थोंमें जहाँ भी विषय-चयनादिमें त्रुटि हुई है आपने उसकी कटु आलोचना आगे चलकर स्वयं ही की है। उक्त पंक्तियोंमें आपने अपनी रचना और उसके कारण बननेवाली स्वयंकी ओछी कुरुचिपूर्ण कवित्व शक्तिका स्पष्ट उल्लेख कर आजके कवियोंके सम्मुख निश्चित रूपसे एक उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत किया है।

बनारसीदासजीने केवल अपनी जीवनकी घटनाओंके विवरण-द्वारा ही अपनी मानवीय दुर्बलताओंका अनावरण नहीं किया, अपितु अपने अवगुणोंका स्वतन्त्र रूपेण स्पष्टोल्लेख भी किया है। निश्चित रूपसे उनके मनमें अपनी उच्छृंखल यौन प्रवृत्तियों, लोभ दशा और मिथ्याभाषणपर भारी आत्म-ग्लानि थी। वे अब प्रायश्चित्तके लिए इतने विकल हो उठे थे कि अपने समाजके सम्मुख और आनेवाली पीढ़ियोंके आगे अपना स्खलित-गलित जीवन खोलकर रख दिया और हमारे राष्ट्रकवि श्रीमैथिली-शरण गुप्तकी 'कैकेयी' की भाँति मानो प्रायश्चित्तके दृढ़ स्वरमें विकल हो उठे —

"ठहरो, मत रोको मुझे कहूँ सो सुन लो।
पाओ यदि उसमें सार, उसे सब चुन लो॥
करके पहाड़-सा पाप मौन रह जाऊँ।
राई-भर भी अनुताप न करने पाऊँ॥"

और

"थूके मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके।
जो कोई जो कह सके, कहे क्यों चूके॥
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे।
हे राम दुहाई करूँ और क्या तुझसे॥"

बनारसीदासजी भी कैकेयीकी भाँति मानव-समाजसे यही निवेदन करते हैं कि मुझे कोई किसी भी दृष्टिसे देखे परन्तु मेरा मनुष्यत्व न छीने अर्थात् मैं एक साधारण मानव हूँ जिसमें भूलें, उन्माद एवं अपराध सम्भव हैं। [1]"मुझमें क्रोध, मान और माया, तो जलरेखके सदृश हैं परन्तु लक्ष्मीका लोभ विशेष मात्रामें है। घर छोड़नेका कभी मन नहीं होता। जप, तप, संयममें कोई रुचि नहीं, दान तथा देवपूजनमें भी प्रीति नहीं। थोड़े-से ही लाभमें भारी हर्षानुभव होता है और थोड़ी-सी हानि होनेपर

१. 'अर्धकथा', ६५२–६५६।

गहरी चिन्तामें डूब जाता हूँ। निन्द्य और मिथ्या भाषण तथा कल्पित चर्चा करनेमें भी लज्जित नहीं होता हूँ, एकान्त पाकर पूर्ण स्वैराचार करता हूँ एवं अकथनीय (अश्लील) बातें करता हूँ। यह बनारसी अदृष्ट एवं अश्रुत बातोंको बना-बनाकर कहता है। सभामें भी कुकथा कहता है। हास्य प्रसंग पाकर प्रसन्न होता है और मिथ्या चर्चा किये बिना सन्तोष नहीं होता। अकारण सहसा तीव्र भयसे भर जाता है।" कविवर अपनी इन हीनताओंकी चर्चाके पश्चात् कहते हैं—

"यह बनारसीजीकी बात, कही थूल जो हुती विख्यात।
और जो सूछम दसा अनंत, ताकी गति जानै भगवंत।
जे जे बातें सुमिरन भई, ते ते वचन रूप परनई॥"

अर्थात् जो बातें मुझे स्थूल बुद्धिसे स्मरण आ सकीं उनका उल्लेख कर दिया। इसी प्रकारकी छोटी-मोटी और भी अनेक बातें जीवनमें अवश्य घटी होंगी परन्तु प्रत्येकका स्मरण साधारण मनुष्यकी स्मरण-शक्तिके परे है। घट-घटकी जानना तो केवलीका ही कार्य है।

बनारसीदासजीकी 'आत्मकथा' उनके प्रायः सम्पूर्ण जीवनपर प्रकाश डालती है। द्वितीय अध्यायमें आपकी जीवनीका सविस्तार वर्णन हुआ है अतः यहाँपर पिष्टपेषण करना अनावश्यक ही है। अपने जीवनके कटु एवं मधुर दोनों ही पक्षोंको कविने प्रस्तुत किया है। अवगुणोंकी भाँति अपने सद्गुणोंका भी कविने बड़ी विनम्रतासे उल्लेख किया है। यदि बनारसीदासजी केवल अपनी त्रुटियाँ बताकर रह जाते तो उनकी आत्मकथा अपूर्ण एवं विकलांग ही कही जाती। एक सच्ची आत्मकथामें व्यक्तिके गुण-दोषों-की यथावसर निःशंक चर्चा होनी ही चाहिए। अपनी प्रमुख विशेषताओंके सम्बन्धमें बनारसीदासजी लिखते हैं—"भाषा कविता और अध्यात्म ज्ञान-में अनुपम है। क्षमावान् एवं सन्तोषी है। संस्कृत और प्राकृतका शुद्ध-वाचन करता है। विविध देश-भाषाओंका ज्ञाता है। कवित्त पढ़नेकी अनोखी कलासे परिपूर्ण है। सांसारिक प्रपंचोंसे दूर है। मिष्टभाषी तथा सभीसे प्रीति रखनेवाला है। जैन धर्मका दृढ़ विश्वासी है। सहनशील है, किसीसे कटुवचन नहीं बोलता है। चित्त स्थिर है, डावाँडोल नहीं। हृदयमें दुष्टता नहीं है। पररमणीका त्यागी है तथा और भी किसी दुर्व्यसनमें रुचि नहीं है। हृदयमें धार्मिक दृढ़ श्रद्धान है।" उक्त सम्पूर्ण विशेषताएँ कविवरके

१. 'अर्धकथानक', ६४६–६५१।

जीवनके अन्तिम समयमें ही प्रविष्ट हो सकी होंगी। वे जीवनमें दीर्घकाल तक कौटुम्बिक, शारीरिक एवं आर्थिक दबावके कारण अपने स्वभावमें निखार न ला सके। आगे चलकर संसारके इन्हीं कटु अनुभवोंने उन्हें सच्चे मनुष्यत्वकी ओर मोड़ दिया। पाठक अनुभव करेंगे कि कविने अपनी किशोरावस्था और युवावस्थामें जीवनको जिन दुर्व्यसनों, अन्ध विश्वासों और मानवीय दुर्बलताओंके चतुष्पथपर स्वच्छन्द छोड़ दिया था, आगे चलकर प्रौढ़ावस्थामें उसने अपनी उन सभी दुर्बलताओंपर आशातीत विजय प्राप्त की और आवृत अन्य अनेक आत्मगुणोंको प्रकाशित भी किया[1]। वे जैसे हैं वैसे ही अपनेको प्रकट करना चाहते हैं, कुछ भी छिपानेका प्रयत्न नहीं करते। यदि उन्हें ख्याति, लाभ, पूजाकी चाह होती तो वे बहुत सहजमें पुज जाते और उस समयकी हजारों, लाखों भेड़ोंको अपने बाड़ेमें घेर लेते। न उन्होंने स्वयं अपनी महत्ताके गीत गाये और न अपने गुणी मित्रोंसे गवानेका प्रयत्न किया। त्यागी व्रती बननेका भी कोई ढोंग नहीं किया। आगरेमे वे एक साधारण गृहस्थकी तरह अपनी पत्नीके साथ अन्त तक आनन्दसे रहे—'विद्यमान पुर आगरे सुख में रहे सजोष।'

कविवर बनारसीदासजीकी आत्मकथा सभी दृष्टियोंसे एक सच्ची आत्मकथाकी कसौटीपर खरी उतरती है। आपकी इस आत्मकथाके सम्बन्धमें आधुनिक युगके प्रसिद्ध विद्वानोंने भी अपने गहरे अनुमोदन युक्त विचार व्यक्त किये हैं। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, जिनका अधिकांश जीवन आत्मकथाओंके अध्ययन-मननमें ही व्यतीत हुआ है, लिखते हैं—[2]"आत्म-चित्रणमें दो ही प्रकारके व्यक्ति-विशेष सफलता प्राप्त कर सकते हैं, या तो बच्चोंकी तरह भोले-भाले आदमी, जो अपनी सरल निरभिमानतासे यथार्थ बातें लिख सकते हैं अथवा कोई फक्कड़ जिसे लोकलज्जासे भय नहीं।"

फक्कड़शिरोमणि कविवर बनारसीदासजीने तीन सौ वर्ष पहले आत्मचरित लिखकर हिन्दीके वर्तमान और भावी फक्कड़ोंको मानो न्योता दे दिया है। यद्यपि उन्होंने विनम्रतापूर्वक अपनेको कीट-पतंगोंकी श्रेणीमें रखा है। 'हमसे कीट पतंग की बात चलावै कौन'। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वे आत्म-चरितलेखकोंमें शिरोमणि हैं।'

---

१. 'अर्धकथानक, पृ० १३ सं० पं० नाथूराम प्रेमी।

२. 'अर्धकथानक', पृ० १३-१४, सं० पं० नाथूराम प्रेमी, लेख० पं० बनारसीदास चतुर्वेदी।

अर्धकथानककी शैली

अर्धकथानकमें सरलता, संक्षिप्तता, सरसता एवं प्रवाहमयताकी स्रोतस्विनी सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। सत्य जितने ही सीधे ढंगसे प्रस्तुत किया जायगा उतना ही मार्मिक होगा। उसपर शब्दाडम्बर, आलंकारिकता एवं अनावश्यक विस्तारका भार पड़ते ही उसकी मार्मिकता उतनी नहीं रहती। कविवर बनारसीदासजीकी वर्णनशैलीमें न पर्वतीय नदियों-जैसी घर्घराहट और उतार-चढ़ाव है और न इश्तहारों-जैसी लचर एवं निर्जीव भाषाके कठघरेमें आबद्ध शुष्कता ही है। आपकी शैलीमें पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रयत्नशीलताका बोझिलपन भी नहीं है। जो कुछ भी है वह उनके सरल, निश्छल, मितभाषी, स्पष्ट एवं उदार व्यक्तित्वको अनायास ही व्यक्त करनेवाला प्रसाद गुण है। कविवरकी काव्य-सरितामें आबाल-वृद्ध सभी प्रसन्न भावसे सन्तरण कर उसका पूर्ण रसास्वादन कर सकते हैं। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ देखिए जिनमें कविने अपने दुःखदग्ध जीवनकी हृदयान्दोलिनी अभिव्यंजना की है :—

> "कही पचावन बरस लौं, बानारसि की बात।
> तीनि बिवाही भारजा, सुता दोई सुत सात ॥६४२॥
>
> नौ बालक हूए मुए, रहे नारि नर दोइ।
> ज्यौं तरवर पतझार ह्वै, रहैं ठूंठ से होइ ॥६४३॥
>
> तत्त्व दृष्टि जो देखिए, सत्यारथ की भांति।
> ज्यौं जाकौ परिगह घटै, त्यौं ताकौं उपसांति ॥६४४॥
>
> संसारी जानै नहीं, सत्यारथ की बात।
> परिगह सौं मानै विभौ, परिगह बिन उतपात ॥६४५॥"

व्यक्तिगत दुःखका साधारणीकरण कविने अत्यन्त मार्मिकतासे किया है। बड़े विद्वान् एवं विचारक भी सन्तान-हानि एवं पत्नी-मरणकी असह्य चोटोंसे अपने विवेकको तिलांजलि दे देते हैं, एक साधारण मनुष्यकी भाँति बात-बातमें निराश एवं असहाय हो उठते हैं। बनारसीदासजीपर लगातार नौ सन्तानों और दो पत्नियोंके आकस्मिक मरणकी हृदयविदारिणी विभीषिकाका प्रकोप हुआ परन्तु उन्होंने इससे एक महान् सन्तकी भाँति जीवन-मन्त्र ही सीखा। उनमें निराशा, असहायता एवं दीनताने प्रवेश नहीं किया वरन् उनका अन्तस् अपने चरम धरातलपर आकर मुखरित हो उठा—

"ज्यों ज्यौं परिग्रह घटै, त्यों त्यों उपसाँति ।"

मानवात्मा अपरिग्रहकी दशामें ही वास्तविक विकासकी ओर अग्रसर हो सकती है यह जीवन-मन्त्र उनके रग-रगसे प्रस्फुटित होने लगा । इस प्रकार अर्धकथानकमें कविवरकी अत्यन्त पुष्ट कोटिकी भावुकताकी भी फुहार है जो उसकी आकर्षक-वृद्धिमें भारी सहायिका है । बनारसीदास-जीकी शैलीका प्रसादगुण प्राय: उनकी सभी रचनाओंमें देखा जा सकता है । कविवरकी कथनशैलीमें संक्षिप्तता और तीव्र भाव प्रेषणीयता अद्भुत कोटिकी है । असह्य दु:खको भी कविने सरल किन्तु अत्यन्त हृदयस्पर्शी शब्दों-द्वारा व्यक्त किया है । उनकी शैलीका सारल्य किसी भी दशामें उत्तेजना अथवा भावावेशसे भाराक्रान्त होकर अस्वाभाविक नहीं हुआ है । देखिए—

"इहि अवसर सुत अवतर्यौ, बानारसि के गेह ।
मन पूरन करि मर गयौ, तजि दुरलभ नर देह ॥"

सरलतामें कितना आकर्षण एवं प्रेषणीयता होती है यह कविवर बनारसीदासजीके अर्धकथानकमें पदे-पदे देखा जा सकता है ।

पाठानुसन्धान

अबतक अर्धकथानककी ५ हस्तलिखित प्रतियाँ विभिन्न स्थानोंसे प्राप्त हो सकी हैं ।

१. भोलेश्वर (बम्बई) के पंचायती मन्दिरकी प्रति जो वि० सं० १८४९ की लिखी हुई है । यह प्रति अन्य प्रतियोंकी अपेक्षा शुद्ध है ।

२. जैन मन्दिर धरमपुरा देहलीकी प्रति जो आषाढ़ बदी ७ संवत् १९०२ की लिखी हुई है ।

३. बैदवाड़ा देहलीके मन्दिरकी प्रति । लिखनेका समय नहीं दिया है, प्रति बहुत ही अशुद्ध है । इसमें कुल पद्य ६६२ ही हैं ।

४. एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ताके ग्रन्थ संग्रहकी ७१७६ नम्बरकी, बिना लेखन तिथिकी प्रति ।

५. स्याद्वाद विद्यालय बनारसकी सं० १९४८ की लिखी हुई प्रति ।

इन पाँचों प्रतियोंका उल्लेख पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने अर्धकथानक-में किया है और उसके सम्पादनमें इनके आधारपर ही कार्य किया है। इन प्रतियोंके अतिरिक्त मुझे आगराके ताजगंजके बड़े जैन मन्दिरमें अर्ध-

कथानककी दो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश एक प्रतिका केवल अन्तिम पत्र मिला है और दूसरीका केवल आरम्भिक पत्र। भारी प्रयत्न करनेपर भी इन दोनों प्रतियोंके शेष अन्य पत्र प्राप्त नहीं हो सके हैं। इन दोनों ही पत्रोंके चित्र विद्वानोंके सम्मुख प्रस्तुत हैं। मेरा विश्वास है कि इन प्रतियोंको किसी जैन भण्डारमें मिलना अवश्य चाहिए। अन्य प्रामाणिक प्रतियोंके अभावमें पाठानुसन्धान नये सिरेसे सम्भव नहीं है। प्रेमीजीने अत्यन्त विद्वत्तापूर्वक एवं सावधानीसे अपने परिवर्तित संस्करणमें अर्ध-कथानकका पुनः पाठानुसन्धान भी कर दिया है।

परम्परा और प्रणालियाँ

हिन्दीमें आत्मकथा-लेखनकी परम्परा कविवर बनारसीदासजीसे पूर्वकी नहीं है। इस दिशामें बनारसीदासजीने सर्वप्रथम प्रवेश किया और उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली। जहाँतक अन्य भारतीय या भारतमें प्रचलित अभारतीय भाषाओंमें आत्मकथा साहित्यकी बात है, बनारसीदासजीसे पूर्व हमें कहीं भी स्वस्थ आत्मकथाके दर्शन नहीं होते। दो-तीन मुसलमान सम्राटोंकी अरबी-फ़ारसीमें लिखी गयी आत्मकथाओंके अतिरिक्त वस्तुतः आत्मकथाके रूपमें लिखी गयी जीवनी हमें अन्य भाषाओंमें प्राप्त नहीं होती। यों आत्मकथा लेखनकी प्राचीनता बतानेके लिए हम खींचतान कर बौद्ध साहित्यके थेरगाथा (खुद्दक निकायका आठवाँ अध्याय) जिसमें बौद्ध भिक्षुओंके जीवनवृत्त नाममात्रके लिए वर्णित हैं, चर्चा कर सकते हैं। उक्त खुद्दक निकायके नवम अध्यायमें बौद्ध भिक्षुणियोंके पद्यबद्ध उल्लेख हैं। इन उल्लेखोंको जीवन चरित तो कदापि नहीं कहा जा सकता। इनमें वंशावली, जन्मपरिचय, शिक्षा, स्वयंके गुण-दोषोंका निश्छल उल्लेख आदि आत्मकथाके आवश्यक तत्त्वोंका प्रायः सर्वथा अभाव है। थेरगाथाके बौद्ध भिक्षुओंके उल्लेखोंको हम जीवनके कुछ स्फुट अनुभव ही कह सकते हैं 'जीवन-चरित' या 'आत्मचरित' नहीं।

संस्कृत साहित्यमें भी आत्मचरित लिखनेकी परम्पराका अभाव रहा है। हाँ, गद्यकार बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित' ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें बाणने आरम्भमें ही अपने जीवनकी कुछ घटनाओंका उल्लेख किया है। उल्लेख यद्यपि संक्षेपमें ही है परन्तु इससे भी बाणकी बाल्यावस्था, देशाटन, परिवार, ज्ञान-पिपासा एवं युवावस्थाकी सुन्दर झलक मिल जाती है।

प्राचीन संस्कृत साहित्यकी विशाल परम्परामें आत्मकथा लेखनका सर्वथा अभाव रहा है, यह सर्वविदित है। 'हर्षचरित' ही एक ऐसा गद्यमय चरित-प्रधान ग्रन्थ है जिसमें हमें एक सुप्रसिद्ध साहित्य-मनीषीके जीवनकी बहुमुखी प्रवृत्तियोंकी संक्षिप्त किन्तु गहरी झलक मिलती है। आत्म-चरितोंके इतने गहरे अभावकी बात केवल बौद्ध, जैन एवं वैष्णव-संस्कृत साहित्य तक ही सीमित नहीं रही। हिन्दी, बँगला, मराठी एवं बिहारी आदि प्रान्तीय भाषाओंमें भी यही बात है। हम इसके कारणोंपर विचार करते हैं तो एक सबसे बड़ी बात जो सामने आती है वह है भारतीय सन्तों, साहित्यिकों एवं विद्वानोंमें आत्मगोपनकी गहरी प्रवृत्ति। ये अत्यन्त महान् होनेपर भी स्वतःको अत्यन्त लघु एवं नगण्य मानते रहे। अपने पूर्ववर्ती महापुरुषोंपर विशाल काव्य ग्रन्थोंका सहजमें ही प्रणयन कर सके परन्तु स्वयंके सम्बन्धमें दो पंक्तियाँ लिखना भी पाप समझते रहे। प्रायः प्रत्येक कविने अपनी रचनाके आरम्भमें स्वयंको अत्यन्त क्षुद्र, अल्पमति एवं नगण्य कहा है। कवियोंकी इसी प्रवृत्तिका परिणाम है कि आजका जिज्ञासु पाठक उनके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानता है और जानता भी है तो कुछ अटकलोंके आधारपर, जिनपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। काश, ये कवि यह जान पाते कि जितना इनकी रचनाओंका महत्त्व होगा उतना ही उनके स्वयंके जीवन-वृत्तका भी, तो आज भारतीय साहित्यकी अभिवृद्धि कुछ और ही अनूठी होती।

मुसलमानोंने इस देशपर दीर्घकाल तक शासन किया। इनमें-से कई शासकों एवं सम्राटोंने अपने आत्मचरित (फ़ारसीमें) भी लिखे। इन आत्मचरितोंमें वास्तवमें इतिहास, आत्मकथा और तात्कालिक राजनीतिका अच्छा मेल है। ऐसे साहित्यिकोंमें अमीर ख़ुसरोका नाम सर्वप्रथम आता है। ख़ुसरो कवि, सैनिक, गायक एवं सद्विचारक थे। उनकी कविताका प्रभाव जनतापर अत्यधिक पड़ा। अपने जीवनकालमें अनेक साम्राज्य उन्होंने देखे। पाँच सुलतानोंसे तो उनका निकट सम्पर्क भी रहा।

[1]"अपने जीवनमें उन्होंने अनेक उतार-चढ़ाव देखे, सुलतानोंकी विला-सिता और रागरंग देखा तथा तत्कालीन बर्बरताओंपर आँसू बहाये। अपने

---

१. 'अर्धकथानक,' पृ० १५, सं० प्रेमी, लेख० 'एक असफल व्यापारीकी आत्म-कथा'-द्वारा डॉ० मोतीचन्द्र।

दीवानेकी दीबाचोंमें ख़ुसरोने खुलकर अपनी रामकहानी कही है और उनकी ऐतिहासिक मसनवियोंमें भी आँखों देखी अनेक घटनाओंका ज़िक्र है। ऐजाज़ ख़ुसरोमें उनके पत्रोंका संग्रह है जिनसे मध्यकालीन जीवनके अनेक छोटे-मोटे अंगोंपर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। यह सच है कि ख़ुसरोने अलगसे कोई अपना आत्मचरित नहीं लिखा, पर दीवानोंके दीबाचों और ऐतिहासिक मसनवियोंमें उसने अपनी रामकहानी इतनी छोड़ दी है कि उसके आधारपर ही मध्यकालके इस महान् पुरुषका पूरा आँखों देखा चित्र खड़ा हो जाता है।" स्पष्ट है कि ख़ुसरोने स्वतन्त्र कोई आत्मकथा नहीं लिखी। ऐतिहासिक मसनवियोंमें ही हमें उनके जीवनकी थोड़ी-बहुत झलक मिलती है।

मुसलमान सम्राटोंमें बाबर और जहाँगीरके आत्मचरित मिलते हैं। ये आत्मचरित सच्चे आत्मचरितोंकी कसौटीपर भी भारी मात्रामें खरे उतरते हैं। इनमें आत्मकथा एवं तात्कालिक संसारकी विचित्रताओंका सुन्दर चित्रण मिलता है। बाबरके हृदयमें भारतीय संस्कृति घर न कर सकी। वह सदैव मध्य एशियाके लिए लालायित रहा। वह एक आक्रामककी भाँति आया और एक परदेशीकी भाँति रहा भी। भारतवर्षके आचार-विचार एवं कलाके लिए उसके हृदयमें आदर न था। जहाँगीर शिकारी एवं घुमक्कड़ प्रकृतिका था। उसके हृदयमें शिकारकी अद्भुत लालसा रहती थी और इसमें किसीके द्वारा किसी भी प्रकारकी बाधा उपस्थित होनेपर उसका वध भी करवा देता था, शिकार बहकनेपर तो उसके क्रोधका ठिकाना भी न रहता था। इतनी क्रूरताके साथ ही दूसरी ओर उसमें प्रकृति-प्रेम, सौन्दर्यानुराग एवं अपार दयालुता भी थी। पशु-पक्षियोंके प्रति उसे भारी प्रेम था। विभिन्न प्रकारके पुष्पोंसे उसका मन अत्यधिक प्रसन्न होता था। जहाँगीरका आत्मचरित वस्तुतः एक श्रेष्ठ आत्मचरित है। इसमें हम जहाँगीरको एक सामान्य मनुष्यकी भाँति जीवनके विभिन्न उतार-चढ़ावोंमें उलझते-सुलझते हुए देखते हैं। जहाँगीरमें साहस और धैर्यकी कमी नहीं मिलती, उसने अपनी कमज़ोरियोंका निर्भीकतापूर्वक चित्रण किया है जो एक सम्राट्में कम ही सम्भव है। जहाँगीरकी आत्मकथाके सफल अनुवादकर्ता मुन्शी देवीप्रसादजी उसकी विशेषताओंके सम्बन्धमें लिखते हैं, [1] "अकबर और शाह-

---

१. 'जहाँगीरनामा' (हिन्दी अनुवाद) अनुवादक : मुन्शी देवीप्रसाद भूमिका।

जहाँके इतिहास उनके नौकरोंके लिखे हुए हैं। उनमें कुछ ख़ुशामद और अत्युक्ति भी है, पर जहाँगीरने अपना इतिहास आप लिखा है और ठीक लिखा है। लिखा भी ऐसा है कि पढ़कर आनन्द आता है; क्योंकि केवल इतिहास ही नहीं किन्तु न्यायनीति, लौकिक रीति, विद्याविनोद और नये संस्कारोंकी कितनी ही बातें इसमें आ गयी हैं। आश्चर्य है कि जो बादशाह आज तक लोगोंमें मौजी, विलासी, शराबी, शिकारी आदि कहा जाता है वह ऐसा विद्वान्, बुद्धिमान् और लिखने-पढ़नेमें सावधान हो कि उसकी लेखनीका एक-एक अक्षर ध्यान देने योग्य हो।" अपना रोज़नामचा लिखनेकी चाल जहाँगीरके वंशमें ९ पीढ़ी पहलेसे ही चली आ रही थी। अमीर तैमूर साहिब किरां जो जहाँगीरका आठवीं पीढ़ीमें दादा था, अपनी दिनचर्या जन्मसे मृत्यु पर्यन्त लिखकर सिरहाने रख छोड़ी थी। वह तुर्की भाषामें है जिसका अनुवाद फ़ारसी और उर्दूमें भी हो गया है। उसका नाम तुज़ुक तैमूरी है।

उल्लेखनीय इन आत्मचरितोंके पश्चात् हम ऐसे आत्मचरितको पाते हैं जिसमें न सम्राटोंकी शान बान है और न बाण-जैसी चाटुकारिता। इस आत्मकथामें हम अपने-जैसे ही एक साधारण गृहस्थके जीवनकी, रंग-रंगीली, रसीली, विराग-भरी, साहसमय एवं परिस्थितियोंमें सामंजस्य बैठानेवाली अधित्यकाओं-उपत्यकाओंसे अवगत होते हैं। मनुष्यकी जीवन-लीलाका पूर्णतया अनावृत रूप हमें सबसे पहली बार इस आत्मकथामें ही प्राप्त होता है। एक ऐसा व्यक्ति जो खिलाड़ी है, कामी है, काम-पूर्तिके लिए चोर है, अन्धविश्वासी है, माता-पिताकी सीखकी पूरी उपेक्षा करनेवाला है और सबसे बढ़कर अर्थके लिए सदैव चमत्कारों, अन्धविश्वासों एवं परिस्थितियोंके पादाघातोंसे जीवन-कन्दुकको अत्यन्त विचलित करनेवाला है, जिसका व्यक्तित्व अत्यन्त विकृत-सा हो गया है, हमारे सम्पर्कमें इस आत्मकथा-द्वारा प्रथम बार आता है। यह आत्मकथा है कविवर बनारसीदासकृत 'अर्द्धकथानक'। जहाँ कविमें यौवनकी उद्दाम तरंगोंके तीव्र थपेड़े हैं, व्यापारिक असफलताकी गहरी निराशा है, अन्ध-विश्वासपर आस्था है, वहाँ उसमें गहरी सूझ, त्यागवृत्ति एवं अद्भुत अध्यात्मबल भी है जिसके द्वारा उसने अपनी समस्त दुर्बलताओंपर सहजमें ही विजय प्राप्त की है।

वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय भाषाओंमें वास्तविक आत्मकथाका श्रीगणेश

कविवर बनारसीदासने ही किया। इसके पूर्व हम देख ही चुके हैं कि किसी भी भारतीय विद्वान् अथवा साहित्यकारने अपनी जीवनीका उल्लेख नहीं किया है। यदि कहीं दो-चार छींटे दिये भी हैं तो स्वतन्त्र रूपसे नहीं अपितु किसी अन्यके प्रसंगमें अपनी भी दो-एक बातें कह दी हैं। आत्मकथा लेखनकी योजना लेकर लिखा गया आत्मचरित कविवर बनारसीदासजीका ही सर्वप्रथम आता है।[1] "हिन्दीके अधिकांश पाठकोंको और शायद अनेक लेखकोंको भी इस बातका पता न होगा कि जहाँतक आत्म-चरित लिखनेकी प्रथाका सम्बन्ध है, आधुनिक भारतीय भाषाओंमें हिन्दीका नम्बर सबसे अव्वल आता है। कविवर बनारसीदास जैनका अर्धकथानक आजसे ३१७ वर्ष पूर्व सन् १६४१ में लिखा गया था। इससे अधिक पुराना आत्मचरित मराठी, बंगला, गुजराती इत्यादिमें मिलना सम्भव नहीं। स्वयं रूसोका आत्मचरित जो अपनी स्पष्टवादिताके लिए प्रसिद्ध है, इस ग्रन्थसे कितने ही वर्षों बाद लिखा गया था। 'अर्धकथानक' की सबसे बड़ी खूबी यह है कि उसमें कविवरने अपने जीवनकी अनेक साधारणसे साधारण घटनाओंकी ही चर्चा नहीं की बल्कि अपने दुश्चरित्रोंको भी खुल्लमखुल्ला स्वीकार कर लिया है, किसी तरहका दुराव-छिपाव नहीं है।"

अर्धकथानकके पश्चात् कविवर विहारीके भी कुछ आत्मचरितात्मक दोहे मिलते है। ये दोहे संवत् १७२१ के लिखे हुए है।[2] "दोहोंमें शिथिलता अधिक है अतः उनके विहारीकृत होनेमें शंका होती है कि शायद ये सतसईके लेखक द्वारा न लिखे गये हों, तथापि उनमें वर्णित घटनाएँ सर्वथा सत्य प्रतीत होती हैं।" इन दोहोंमें वृन्दावनमें कविवर विहारीने नागरीदासजीके यहाँ शाहजहाँके आगमनका वृत्तान्त लिखा है और वहींपर कविवरने शाहजहाँको अपनी कविता भी सुनायी थी। शाहजहाँ इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें आगरे आनेके लिए निमन्त्रण दे दिया।

"हम उनकी कविता करी, भये प्रसन्न बड़ भाव।
चलन कही हमसों तबहि, अर्गलपुर में आव ॥
मध्य आगरे जमुन तट, दुर्ग अगम आगार।
बसे तहाँ बहु काल पुनि, करि कविता विवहार ॥"

---

१. 'साहित्य सन्देश', जुलाई १६५०, पृ० ३१, ले० पं० बनारसीदास चतुर्वेदी।
२. वही।

जयपुरनरेशके प्रति कहा गया दोहा तो प्रसिद्ध ही है। और भी ऐसे अनेक दोहे हैं जो कविकी जीवनी और अनुभवोंका मधुर संकेत देते हैं किन्तु अप्रत्यक्ष रूपसे ही।

इसके पश्चात् एक लम्बे समय तक हमें हिन्दीमें आत्मचरितोंका अभाव मिलता है। आधुनिक कालमें पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा पं० राधाचरण गोस्वामीने आत्मचरित लिखना आरम्भ किया था परन्तु अपूर्ण ही छोड़ दिया। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीने भी अपनी संक्षिप्त जीवनी लिखी है। श्यामसुन्दरदासजीने भी 'मेरी आत्म-कहानी' लिखी है परन्तु उसमें आत्मकथा-जैसी शालीनताका प्रायः अभाव है। राहुलजी, गुलाबरायजी, हरिभाऊ उपाध्याय, वियोगी हरि, स्वामी दीनदयाल संन्यासीने भी अपने आत्मचरित लिखे हैं।

राजनीतिक पुरुषोंमें महात्मा गान्धी, बाबू राजेन्द्रप्रसादजी एवं पं० जवाहरलालजीने अपने आत्मचरित लिखे हैं जो आज भी हिन्दी जनता-में बड़ी रुचिसे पढ़े जाते हैं। महात्मा गान्धीका आत्मचरित मूल रूपमें गुजरातीमें लिखा गया है। उसका हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है। यह आत्मचरित निश्चित रूपसे एक श्रेष्ठ एवं सर्वप्रिय आत्मकथा है। हिन्दीके आधुनिक आत्मचरितोंमें बाबू राजेन्द्रप्रसादकी आत्मकथा सर्वोत्तम है। उसकी सरलता, निष्कपटता एवं सादगी उसके सर्वोत्तम गुण हैं।

कुछ भी हो आज भी हिन्दीमें आत्मकथा-साहित्य विशेष प्रगतिपर नहीं है। हमारे साहित्यकार, राजनीतिक एवं विद्वान् इस ओर रुचि नहीं दिखा रहे हैं। सम्भवतः ये अपनी मनोग्रन्थियोंपर विजय नहीं पा सके हैं जो आत्मकथाके लिए सबसे पहली शर्त है। प्रत्येक व्यक्तिका जीवन कुछ आकर्षक एवं प्रभावशाली घटनाओंसे परिपूर्ण रहता है अतः उसका आत्मचरित यदि लिखा जाये तो वह भी साहित्यका निधि बन सकता है। विलायतमें अनेक वेश्याओं, चोरों, डाकुओं एवं हत्यारोंने भी अपने आत्म-चरित लिखे हैं। विदेशी आत्मचरितोंकी एक विस्तृत परम्परा है। प्रिंस क्रोपाटकिन, गोर्की, स्टिफन ज्विग, टालस्टाय एवं एच० डब्ल्यू० नविनसनके आत्मचरित संसारके उत्तमोत्तम आत्मचरितोंमें अवश्य ही रखने लायक़ हैं। हिन्दीके विद्वानोंको भी इन आत्मचरितोंसे स्वतःके लिए भारी प्रेरणा मिलेगी।

इस प्रकार आधुनिक युगमें आत्मचरितोंकी परम्परा कुछ विशेष प्रशंसनीय तो नहीं कही जा सकती परन्तु भविष्य उज्ज्वल है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

आत्मचरितोंकी विस्तृत किन्तु विशृंखलित परम्पराके अध्ययनके साथ उनकी रचना-प्रणालियोंपर भी एक दृष्टि डालना आवश्यक है। अद्यावधिक हिन्दीकी आत्मकथाओंकी शैलियों एवं विषय-योजनापर विचार करनेपर हमें पाँच प्रकारकी आत्मकथाएँ प्राप्त होती हैं—

१. शुद्ध आत्मकथा, २. स्फुट जीवन घटनाएँ, ३. अप्रत्यक्ष रूपसे जीवनी-संकेत, ४. किसी अन्यके प्रसंगमें कुछ स्वयंका उल्लेख, और ५. जीवनी कम, राजनीति एवं अन्य बातें अधिक।

प्रथम कोटिमें कविवर बनारसीदास एवं डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीकी आत्मकथाएँ आती हैं। इनमें सर्वत्र जीवनीपर ही ध्यान रखा गया है। समाज, राजनीति एवं इतिहासकी चर्चा अति संक्षेपमें एवं गहरी आवश्यकता पड़नेपर ही की गयी। आत्मचरितका प्राधान्य सर्वत्र रहा है। सरलता और निश्चलता आद्यन्त हैं।

द्वितीय कोटिमें प्रतापनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं बाबू गुलाबराय आते हैं। प्रथम दोके तो अनेक निबन्ध ऐसे हैं जो उनकी जीवनीपर भारी प्रकाश डालते हैं और बाबू गुलाबरायकी 'मेरी असफलताएँ' नामक पुस्तक उनकी प्रभावक जीवन घटनाओंके सम्बन्धमें है। बाबूजीकी असफलताएँ आजके नवयुवकोंको अपार साहस देनेमें समर्थ हैं। इसी कोटिमें पं० बनारसीदास चतुर्वेदीके अनेक लेख आते हैं, जिनमें उन्होंने अपने जीवनके कटुमधुर अनुभवोंकी प्रभावकारी चर्चा की है। तृतीय एवं चतुर्थ कोटिमें विहारी और रहीम कविके अनेक दोहे आते हैं। उक्त दोनों ही कवियोंने अपने समयके समाज, शासन एवं साक्षर जन-समाजके सम्बन्धमें गहरे अनुभव व्यक्त किये हैं। स्वयंपर कब कैसी बीती इसका भी अप्रत्यक्ष रूपसे अनेक दोहोंमें उल्लेख किया है। विहारीका यह दोहा—

"बहकि बड़ाई आपनी, कत राचत मति भूल।
बिनु मधु मधुकर के हिए, गड़े न गुड़हर फूल॥"

अवश्य ही उनके किसी गहरे अनुभवका अप्रत्यक्ष संकेत है। किसीकी

दुष्टता भी उन्हें अवश्य ही गहरी खटकी होगी अन्यथा इतनी चुभती हुई अभिव्यंजना न होती—

"न ये बिससि यहि लखि नये, दुरजन दुसह सुभाय।
आटें परि प्रानन हरत, काटें लों लगि पाय॥"

रहीमको संसारका और जीवनके उतार-चढ़ावका गहरा अनुभव था। उनके दोहोंमें मानव जीवनकी विविध विचित्र दशाओंकी तलस्पर्शी अभिव्यंजना है। उनकी अभिव्यक्ति अनुभवजन्य हैं, यही कारण है कि आज भी वे बड़े आदर एवं आत्मीय भावसे पढ़े एवं अपनाये जाते हैं। किसी कुटिल स्वभावके व्यक्तिका चित्रण देखिए। बहुत सम्भव है कवि-स्वयंके साथ ही किसी दुष्टने ऐसी प्रवंचना की हो—

"जो रहीम ओछो बढ़े, तो अति ही इतराय।
प्यादे सों फरजी भयो, टेढ़ौ टेढ़ौ जाय॥"

पंचम कोटिमें जवाहरलालजीकी 'मेरी कहानी' आती है। इसमें स्वयं जीवनीकी अपेक्षा अन्यान्य बातोंका अधिक उल्लेख है।

प्रायः सभी आत्मकथाएँ गद्यमें ही लिखी गयी हैं। कविवर बनारसीदासजीकी ही एक ऐसी आत्मकथा है जो पद्यबद्ध है। आत्मकथा लेखक यदि कवि भी है तो निश्चित रूपसे उसकी जीवनी अत्यन्त आकर्षक होगी। गद्यमें कम आकर्षण है यह बात नहीं है सफल लेखक गद्यमें भी गहरा आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं, परन्तु पद्यमें लालित्य एवं माधुर्य निराली कोटिके होते हैं। जीवनीके करुण, विषम एवं सरस स्थलोंको कवि सत्यकी पूर्ण रक्षाके साथ अपेक्षित विस्तारमें ही मोहक ढंगसे व्यक्त कर देते हैं।

मोह-विवेकयुद्ध

'बनारसीनाममाला', 'बनारसी विलास', 'समयसार' एवं 'अर्धकथानक'-के अतिरिक्त 'बनारसी' नामवाली और भी कुछ रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। इन रचनाओंके विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है। कुछ विद्वान् उन्हें प्रसिद्ध कवि बनारसीदास कृत मानते हैं और अन्य विचारक इस मतका विरोध करते हैं। 'मोह-विवेकयुद्ध' कुछ स्फुट पद और 'मांझा' (१३ पद्योंकी एक रचना) ये तीन रचनाएँ विवादास्पद हैं।

मोहविवेक नामक रचना ११० दोहा चौपाइयोंमें वर्णित एक छोटा-सा संवादमय काव्य है। यह एक लघु खण्ड-काव्य भी कहा जा सकता है। इसमें मोह नायक और विवेक प्रतिनायक हैं। दोनोंमें विवाद हो जाता है। अपनी-अपनी काम, क्रोध, लोभादि तथा सरलता, दया, क्षमा एवं प्रेमादिकी सेनाएँ लेकर दोनोंमें संग्राम होता है और अन्तमें विवेक विजयी होता है।

इस कृतिके प्रारम्भमें कहा गया है—

"वपु में वरणि बनारसी, विवेक मोह की सेन।
ताहि सुनत श्रोता सबै, मन में मानहिं चैन ॥१॥
पूरब भये सुकवि मल्ल, लालदास, गोपाल।
मोह विवेक किये सु तिन्ह, वाणी वचन रसाल ॥२॥
तिन तीनहु ग्रन्थनि महा, सुलप सुलप संधि देख।
सार भूत संक्षेप अब, साधि लेत हौं सेष ॥३॥"

अर्थात् मेरे पूर्ववर्ती कवि मल्ल, लालदास और गोपाल-द्वारा पृथक्-पृथक् रचे गये मोह-विवेकयुद्धके आधारपर उनका सार लेकर इस ग्रन्थकी संक्षेपमें रचना करता हूँ। उक्त तीनों ही कवियोंकी रचनाओंकी एक विस्तृत परम्परा जो ऋग्वेदसे ही आरम्भ होती है समझनी होगी। तभी हम इस 'मोह-विवेकयुद्ध' के कर्ताका निर्णय भी समुचित रूपसे कर सकेंगे।

गम्भीर भावोंको सरल एवं जन-ग्राह्य बनानेके लिए उन्हें रूपकमें रूपान्तरित करनेकी परम्परा ऋग्वेदसे लेकर अद्यावधिक साहित्यमें किसी-न-किसी रूपमें प्रचलित रही है। यद्यपि हृद्गत अमूर्त भावोंको मूर्त पात्रोंके रूपमें प्रस्तुत करना, उनमें एक दृश्यकाव्यकी योजना भरना और संवादोंकी श्रुतिमधुर झड़ी लगा देना बहुत ही कठिन है, परन्तु प्रौढ़ प्रतिभा और अनोखी संयोजन-पटुतासे हमारे वरेण्य कवियोंने यह भी अत्यन्त सफलतापूर्वक कर ही दिखाया है। ऋग्वेदमें देवासुरसंग्राम, पुरुरवाका आख्यान, श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें पुरजनोपाख्यान अपनी रूपक रचनाके लिए प्रसिद्ध ही हैं। जैन ग्रन्थोंमें कविवर सिद्धर्षिकी 'उपमितिभवप्रपंचकथा' विश्व साहित्यकी अनुपम निधि है। आदिसे अन्त-तक इस ग्रन्थमें रूपकका अत्यन्त असाधारण ढंगसे निर्वाह किया गया है।

हिन्दीमें इन संवाद-रूपकोंका प्रचलन श्री कृष्णमिश्र (भट्ट)-द्वारा संस्कृतमें रचे गये प्रबोधचन्द्रोदय नाटकके अनुकरणसे प्रारम्भ हुआ। इसकी रचना बारहवीं शताब्दीमें हुई। हिन्दीमें कविवर मल्लने सर्वप्रथम (१६वीं शतीमें) इसका भावानुवाद प्रस्तुत किया। ज्ञान सूर्योदय नाटक भी इसी समयका कुछ इसी प्रकारका प्रसिद्ध नाटक है। मल्लकविने अनुवादका नाम प्रबोधचन्द्रोदय—मोह-विवेकयुद्ध रखा। यह अनुवाद इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि इसके पश्चात् कविवर लालदास और गोपालदासने भी इसीके आधारपर मोह-विवेकयुद्ध नामक रचनाएँ कीं। आगे चलकर प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदासने भी उक्त तीनों कवियों (मल्ल, लालदास और गोपाल) की रचनाओंके आधारपर मोह-विवेकयुद्धकी रचना की। जहाँतक इन रूपकोंकी कथावस्तुकी बात है, वह इन सभीमें एक-सी है, उसके संयोजनमें अवश्य ही कहीं-कहीं नाममात्रका स्थानान्तरण हो गया है।

विवेक नायक और मोह प्रतिनायक है। प्रतिनायक अपनी पूरी सैन्य-शक्ति लगाकर विवेकको परास्त करना चाहता है परन्तु विवेक भी अपनी असाधारण शान्ति और अहिंसामय सैन्य-शक्तिसे सम्पन्न है, अतः मोहके प्रत्येक आक्रमणको असफल कर देता है। प्रारम्भमें मोह और विवेक दो नृपतियोंके रूपमें मिलते हैं। मोह विवेकको अपनी अधीनता स्वीकार कराना चाहता है। विवेक मोहको अपना सेवक कहता है। बात बढ़ जाती है और दोनों नृपति अपनी-अपनी सेनाएँ लड़ाते हैं और अन्तमें मोह परास्त होकर विवेककी अधीनता स्वीकार कर लेता है। काम, क्रोध, माया, ममता आदि मोहकी शक्तियाँ क्रमशः निष्काम, दया, सरलता और उदारता आदिकी शक्तियोंसे परास्त होती हैं।

जहाँतक इन कृतियोंकी मौलिकताका प्रश्न है इनमें इसका एक लम्बी सीमा तक अभाव है। मल्लने तो अनुवाद मात्र किया है जो मूल कृति (संस्कृत) के सम्मुख उच्छिष्ट-सा लगता है। यह अनुवाद ऐसा ही है जैसा कि राजा लक्ष्मणसिंहका 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का। जिन्हें शाकुन्तलका यह अनुवाद पढ़नेका अवसर मिला है, और जो मूलकृति भी पढ़ चुके हैं, वे जानते हैं कि इससे उन्हें कितनी निराशा होती है फिर भी कथानक उत्तम होनेसे कुछ आकर्षण है ही। उक्त मोहविवेक मूल रचनाकी तुलनामें ही छोटा पड़ता है वैसे तो एक श्रेष्ठ रचना ही कही जायगी। उक्त रचनाकी हस्तलिखित प्रति देखनेका सौभाग्य मुझे जयपुरके

दि० जैन शोध संस्थानमें मिला था। लालदास कृत मोह-विवेकयुद्ध मल्ल कवि कृतका ही संक्षिप्त रूप है–भावानुवाद मात्र है। इसमें १३५ चौपाइयाँ कुछ दोहों सहित हैं। इसमें नाटक-जैसी अंक आदिकी पद्धति नहीं है। संवादोंका क्रम आदिसे अन्त तक रखा गया है। लालदासकी रचना १७वीं शतीके प्रथम चरणकी प्रतीत होती है। मुझे इसकी संवत् १६६७ की एक हस्तलिखित प्रति फ़रवरी १९५८ में श्रद्धेय अगरचन्द नाहटाके विशाल ग्रन्थालयमें देखनेको मिली थी। इस कृतिकी अन्तिम पंक्तियाँ ये हैं –

"सहज सिंहासन बैठि विवेक, सुर नर मुनि कीनौ अभिषेक।
विमल बाजे लगत नीसान, सबकों पावै सुख कौ दान॥
धर्म उदै मन निर्मल आज, सब सुख लिए विवेक को राज।
लालदास परकास रस, सफल भयौ सब काज।
विस्नु भक्ति आनन्द बढ्यौ, अति विवेक के राज॥
तब लगि जोगी जगत गुरु, जब लग रहे उदास।
तब जोगी आशा लग्यौ, जग गुरु जोगी दास॥"

काशी नागरी प्रचारिणीकी सं० १९८० की खोज रिपोर्टमें दो लालदास नामक कवियोंका उल्लेख है। एकके सम्बन्धमें लिखा है, 'अयोध्या-निवासी थे, पहले बरेलीमें रहते थे। संवत् १७२३ के लगभग वर्तमान थे। इनके विषयमें कुछ और ज्ञात नहीं।' दूसरे लालदासके सम्बन्धमें लिखा है कि आगरानिवासी बादशाह अकबरके समकालीन, संवत् १६४३ के लगभग वर्तमान, जातिके वैश्य, स्वामी अवधदासके पुत्र थे। विचारास्पद मोह-विवेक (बनारसीकृत) में कविने अपने पूर्ववर्ती जिन लालदासका उल्लेख किया है वे आगरानिवासी लालदास ही हो सकते हैं। इनसे ही कविको अपनी रचनाके लिए प्रेरणा मिली होगी। अयोध्या और बरेली आगरेसे पर्याप्त दूर भी हैं।

तीसरा मोह-विवेकयुद्ध कविवर गोपालकृत है। इसे भी दादू महाविद्यालय जयपुरमें मुझे देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसकी लिखाई पर्याप्त स्वच्छ है। छन्दसंख्या १३१ है। अन्तिम पंक्तियाँ ये हैं —

"गुरु दादू परसाद थे, मोह विवेक सुनाई।
वक्ता श्रोता भगति फल, जन गुपाल गुन गाई॥

इति श्री मोहविवेकसंवादे संग्राम भगति योगि नाम प्रताप सम्पूर्ण समाप्तं । ग्रन्थसंख्या ६६६ ।"

इस कृतिका लिपि-संवत् नहीं दिया गया है, सम्भवतः १८वीं सदीमें इसकी लिपि की गयी होगी। गोपाल कवि भी बनारसीदासजीके पूर्ववर्ती या समकालीन थे। दादू सम्प्रदायके संक्षिप्त परिचयमें (पृ० ७६में) श्री मंगलदासजी स्वामीने गोपाल कविकी मोह-विवेक रचनाका उल्लेख किया है और संवत् १६५०से १७३०के अन्तर्गत जयपुरके आस-पास उनकी स्थिति-का उल्लेख किया है। इस कविकी रचना भी प्रबोधचन्द्रोदयके आधारपर ही है—उसीका संक्षिप्त भावानुवाद है। वही वर्णन, वे ही दृष्टान्त, उपमाएँ, वे ही संवाद और कथन-शैली भी प्रायः वही है।

चौथा मोह-विवेकयुद्ध प्रसिद्ध जैनकवि बनारसीदासके नामसे विख्यात है। यह वीर पुस्तक भण्डार जयपुरसे मुद्रित रूपमें प्रकाशित भी हो चुका है। इसमें ११० चौपाइयाँ-दोहे हैं। वीरवाणीके वर्ष ६ के अंक २३-२४ में श्री अगरचन्द नाहटाने भी इसे पूरा प्रकाशित कर दिया था। जयपुरके बड़े मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें इसकी पाँच प्रतियाँ हैं, तीन गुटकोंमें और दो स्वतन्त्र। गत वर्ष जयपुरमें उक्त प्रतियोंमें-से एक प्रति मुझे ऐसी भी मिली जिसमें ११९ छन्द हैं। इस कृतिका लिपि संवत् नहीं दिया गया है, सम्भवतः १८वीं शतीकी होगी।

जैन विद्वानोंमें इस मोह-विवेकयुद्धके सम्बन्धमें पर्याप्त मतभेद है। कुछ इसे बनारसीदास (प्रसिद्ध जैन कवि) कृत और कुछ विद्वान् बनारसी नामके किसी अन्य साधारण कवि-कृत मानते हैं। पं० नाथूराम प्रेमी और श्री अगरचन्द नाहटा ये दो विद्वान् इस सम्बन्धमें उल्लेखनीय हैं। प्रेमीजी उक्त मोह-विवेकको प्रसिद्ध कवि बनारसीदासकृत नहीं मानते जब कि नाहटाजी उसे बनारसीदासकृत ही मानते हैं। उक्त दोनों विद्वानोंने इस सम्बन्धमें अपने-अपने तर्क भी प्रस्तुत किये हैं। प्रेमीजीकी मान्यता है कि "बनारसीदासजीकी अन्य रचनाएँ सभी दृष्टियोंसे पुष्ट हैं जब कि मोह-विवेकयुद्धमें भाषा, विषय और शैलीका भारी शैथिल्य दृष्टिगोचर होता है। अतः यह रचना प्रसिद्ध कवि बनारसीदासकी कदापि नहीं हो सकती। हाँ, इसी नामके किसी अन्य बनारसीकी भले ही हो। बनारसीदासजीकी प्रारम्भिक रचनाके रूपमें भी वे इसे स्वीकार नहीं करते हैं। कविवर बनारसीदासजीकी रचनाओंके साथ इसकी कोई तुलना

नहीं हो सकती। न तो इसकी भाषा ही ठीक है और न छन्द ही। इसे उनकी प्रारम्भिक रचना मानना भी उनके साथ अन्याय करना है।" फिर बनारसीदासजीकी अन्य रचनाओंमें दृष्टान्त, उपमाएँ तथा पौराणिक उल्लेख प्रायः जैन पुराणोंसे ही आये हैं जब कि मोह-विवेकमें जितने भी पौराणिक उदाहरण आये हैं वे जैन शास्त्रों-पुराणोंमें कहीं नहीं आते। काम कहता है —

"महादेव मोहनी नचायो, घर में ही ब्रह्मा भरमायौ।
सुरपति ताकी गुरु की नारी, और काम को सकै संहारी ॥
सिंगी रिषि सेवन महिमारे, मोतें कौन कौन नहिं हारे।
माया मोह तजे घर बार, मोतें भाग जाँहि बन वास ॥
कन्दमूल जे भछन कराहीं, तिनिहूँ को मैं छाड़ौ नाहीं।
इक जागत इक सोवत मारूँ, जोगी जती तपी संहारूँ ॥"

महादेव और मोहनी, ब्रह्मा और उनकी कन्या, इन्द्र और उनकी गुरु-पत्नी, शृंगी ऋषि और कन्द मूल फलादिका भक्षण करनेवाले जोगी जती, तपी इत्यादिकी चर्चा जैन पुराणोंमें कहीं नहीं आती। ऐसे ही लोभादिक (६६-६९) के अनेक प्रसंग हैं जिनका विवरण जैन आम्नाय-से रंचमात्र मेल नहीं खाता। अतः निश्चित है कि यह रचना प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदासकृत नहीं है।

इस कृतिके बनारसीदासकृत होनेमें श्री अगरचन्द कुछ युक्तियाँ देते हैं; यथा—

"श्री जिन भक्ति सुदृढ जहाँ, सदैव मुनिवर संग।
कहै क्रोध तहाँ मैं नहीं, लग्यो सु आतम रंग ॥५८॥
अविभचारिणी जिन भगति, आतम अंग सहाय।
कहै काम ऐसी जहाँ, मेरी तहाँ न बसाय ॥५६॥"

इन पंक्तियोंमें जैनत्वकी स्पष्ट छाप है साथ ही अन्तमें 'बर्णन करत बनारसी समकित नाम सुहाय'से भी जैन कवि बनारसीदास ही ध्वनित होते हैं। इसी सम्बन्धमें एक बात और कही जाती है कि बनारसीदासकृत मोह-विवेकयुद्धकी सभी प्रतियाँ जैन भण्डारमें ही मिली हैं अतः इसके रचयिता जैन कवि बनारसीदास ही हो सकते हैं। इसी प्रकारकी कुछ और भी युक्तियाँ हैं जिनका अब कोई महत्त्व नहीं रह गया है।

अभी कुछ दिन पूर्व तक न जाने क्यों संस्कारवश या श्रद्धावश कुछ धुँधली-सी ऐसी ही धारणा बँध चली थी कि उक्त रचना बनारसीदासजीकी ही होनी चाहिए। इस प्रकार सम्भवतः एक रचनाको बनारसीदासकृत और बनाकर मैंने उनके प्रति विशेष श्रद्धाका परिचय देना चाहा था। परन्तु ऐसा करनेसे मेरा विवेक और मेरी आत्मा सदैव हिचकते रहे। मैं इसी प्रयत्नमें रहा कि जबतक कोई पुष्ट प्रमाण न मिल जाये मुझे अपना मत निश्चित नहीं करना है।

जब भी मैं रचना पढ़ता तो मेरी उक्त आस्था उसके कलेवर, रचना-शैली एवं भाषा-शैथिल्यको देखकर डिग जाती और यही सोचता था कि यह रचना बनारसीदास-जैसे प्रौढ़ प्रतिभा-सम्पन्न कविकी कदापि नहीं हो सकती।

गत वर्ष जब मैंने जयपुरके दादू महाविद्यालयमें गोपाल कविकृत मोह-विवेककी हस्तलिखित प्रति देखी और उससे बनारसीदासकृत मोह-विवेकको मिलाया तो मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा। इन दोनों कृतियों-में १०-२० दोहा-चौपाइयोंको छोड़कर आद्यन्त अक्षरशः साम्य है। दोहों-में जहाँ गोपाल कविकी छाप है वहाँ बनारसीकी कर दी गयी है और सब ज्योंका त्यों रख दिया गया है। यदि कहीं किसी वैष्णव देवतादि-का नाम आया है तो उसे बदलकर जैन देवताका या जिन शब्दका प्रयोग किया गया है। देखिए—

जन गोपाल—

"अविभचारिणी भक्ति जहाँ, गुरु गोविन्द सहाय।
जन गोपाल फल को नहीं, तहँ पै कछु न बसाय॥"

बनारसी—

"अविभचारिणी जिन भगति, आतप अंग सहाय।
कहै काम ऐसी जहाँ, मेरी तहँ न बसाय।"

जन गोपाल—

"हलाहलु खाहै मरै, जल मैं बूड़ै जीव।
प्रमदा देखत ही मरै, जन गोपाल बिन पीव॥ ४७॥"

बनारसी—

"विष मुख माहीं मेल्है मरई, जल में बूड़ै पावक जरई।
हथ्यार लगै व्यापै विष ब्याला, दृष्टि देखतें मारै बाला।"

जन गोपाल—

"राम भगति स्वाति जहाँ, शीतल साधु अंग।"

बनारसी—

"श्री जिन भक्ति सुदृढ़ जहाँ, सदैव मुनिवर संग।"

जन गोपाल—

"स्वामी सेवक सिख गुरू, संत मंत सब दाव।
हंसा चिकारि जब दगी, जन गोपाल उपाव ॥७३॥"

बनारसी—

"स्वामी सेवक सिख गुरू, तंत मंत मम काज।
लागी लोभ सारी दुनी, तिनके धरम न लाज ॥७२॥"

इस प्रकारके दोहे जिनमें कहीं-कहीं रंचमात्रका भाषामें अथवा अर्थमें अन्तर है मुश्किलसे पूरी कृतिमें ४–६ ही हैं। कुछ दोहे 'बनारसी' नामवाली कृतिमें स्वतन्त्र भी हैं यथा—९, १०, ११, १८, ३०, ३२, ३९, ४३-४७, ५१, ५४, ८४, ९६। कुछ चौपाइयाँ गोपालकृतमें-से 'बनारसी' नामक कृतिमें नहीं ली गयी हैं। शेष सम्पूर्ण कृतिमें पूर्णतया (अक्षरशः) साम्य है। स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती गोपाल कविकी इस कृतिमें पूरी नक़ल की गयी है।

इस प्रकार इन दोनों कृतियोंका मिलान करनेके पश्चात् यह तो निश्चित है ही कि यह कृति मौलिक नहीं है। इसमें भावोंकी ही नहीं अपितु भाषा, शैली आदि सभीकी पूरी नक़ल है।

जयपुरके दादू मन्दिरसे जब मैं दोनों कृतियोंकी तुलना करके लौट रहा था तो मेरा मन, मेरी तर्कशक्ति और हृदय न जाने कितने आवेग, आवेश, चिन्तन और घृणामें डूबने लगे। मुझे अन्तमें अनेक दृष्टियोंसे विचार करनेपर यह स्पष्ट लगा कि बनारसीदास-जैसे अध्यात्म सन्त एवं प्रौढ़ प्रतिभा-सम्पन्न कवि इस निन्द्य कर्मके सम्बन्धमें सोच भी न सके होंगे। निश्चित रूपसे किसी मूर्ख जैनने 'बनारसी' के नामकी छाप

लगाकर और दो-चार स्थानोंपर जैनपरक परिवर्तन करके गोपाल कविकी नक़ल मात्र की है और इस प्रकार बनारसीदासजीके प्रति अपनी भक्ति प्रकट करनेका ढोंग किया है।

अतः अब निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि उक्त 'मोह-विवेक-युद्ध' के रचयिता प्रसिद्ध कवि बनारसीदासजी नहीं हैं।

मांझा

पं० कस्तूरचन्द कासलीवालने, दीवान बधीचन्दके शास्त्र भण्डारके गुटकेमें मिली १३ पद्योंकी 'मांझा' नामक रचना वीरवाणीके वर्ष ८ अंक १० में प्रकाशित करा दी थी। इस रचनामें बनारसीदासजीकी छाप है। रचना अध्यात्म-प्रधान है। जिनभक्तिकी चर्चा बड़े सुन्दर ढंगसे की गयी है। आत्मोद्धारका मार्ग सरल भाषा एवं मधुर शैली-द्वारा समझाया गया है। कहीं-कहीं भाषामें कुछ शिथिलता एवं छन्दोभंग भी मिलता है परन्तु ये दोनों बातें लिपिकोंकी असावधानीके कारण सम्भव हो सकी होंगी।

प्रस्तुत पदकी मार्मिकता देखिए--

"झूठी माया क्या लपटाया, वा कर झूठा माणा।
कच्चा कोटि मवासा कब तक, इक दिन परभव जाणा॥
जो जम आवे पकर ले जावे, चलै न जोर धिगाणा।
दास बनारसी डूबै आखै, जम बस रंक नराणा॥"

तथा—"राणा रंक अमर किर नाहीं, सब कोई चालन हारा।
भरी सराइ परभातै खाली, जो जग चलसी सारा॥" इत्यादि

भाषा पंजाबी मिश्रित है। बनारसीदासकी 'मोक्षपैड़ी' नामक रचनासे स्पष्ट है कि वे पंजाबी भाषामें भी कविता करनेमें समर्थ थे।

उक्त रचना कविवर बनारसीदासजीकी ही है।

जयपुरमें हस्तलिखित प्रतियोंकी खोज करते समय मुझे श्री कस्तूर-चन्दजीके सहयोगसे बनारसीदासजीका एक नवीन पद और प्राप्त हुआ था। पद इस प्रकार है—

पद राग कल्याण--

"हाँ रे दरवाजे तेरा खोल,
आए हम दरसण देरा खोल॥

पूजा करूँगो मैं धूप धरूँगो,
फूल चढ़ाऊँ बहु मोल ॥
....
केसर चंदन घोल ॥ हाँ० ॥१॥
वामानंदन पास जिनेसर,
तुम पर जाऊँ मैं घोल ॥ हाँ० ॥२॥
तू मेरा ठाकुर मैं तेरा चाकर,
एक बार हंस बोल ॥ हाँ० ॥३॥
कहत बणारसी मैं तेरा बंदा,
मुखड़ा की छवि जोर ॥ हाँ० ॥४॥

बनारसीदासजीकी रचनाओंकी भाषा

अध्यात्म सन्त कविवर बनारसीदासजीकी सम्पूर्ण रचनाओंको दृष्टिमें रखकर सहसा नहीं कहा जा सकता कि इनमें अमुक भाषाका प्रयोग हुआ है। कविवरका जीवन एक ओर एक पर्यटक एवं व्यापारीका रहा है तो दूसरी ओर उनमें विद्वानोंका सम्पर्क और विद्या-व्यसन भी खूब रहा है। फलतः उनकी रचनाओंमें एक ओर सामान्य बोलचालकी भाषा और दूसरी ओर साहित्यिक भाषाके स्पष्ट दर्शन होते हैं। आत्मकथा अर्धकथानकमें सरल एवं प्रवाहयुक्त दैनन्दिनी भाषा-द्वारा ही कविने अपने घटना-बहुल जीवनका दिग्दर्शन कराया है। अर्धकथानकके अतिरिक्त सभी रचनाओंमें साहित्यिकता (सालंकारता, शब्दचमत्कार, शब्दगठन, विविध छन्दोंमें रचना-कौशल एवं शैलीकी अभिरामता आदि) की स्पष्ट झलक है। स्वाभाविकताकी रक्षा दोनों ही प्रकारकी रचनाओंमें कविने की है।

बनारसीदासजीकी जन्मभूमि जौनपुर थी अतः भोजपुरी बोलीका उनपर पूरा प्रभाव था ही। उनके जीवनके लगभग २५ वर्ष आगरामें व्यतीत हुए अतः वहाँकी स्थानीय व्रजभाषा एवं मुग़ल शासकोंकी उर्दू-मिश्रित खड़ी-बोलीका भी उनपर पूर्ण प्रभाव पड़ चुका था। खैराबादकी उनकी पत्नी थी और उनका वहाँ आना-जाना भी कई बार हुआ है अतः अवधीकी झलक भी उनकी कृतियोंमें कहीं-कहीं प्राप्त होती है। संस्कृत और प्राकृतका भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। इन सब भाषाओंके अतिरिक्त उनपर जिस भाषाका विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है वह है उस समयके यवन शासकोंकी सामान्य जनतासे बोलचालकी उर्दू-फ़ारसी-मिश्रित एक बाज़ारू बोली जो आगे चलकर खड़ी बोलीके रूपमें विख्यात हो गयी। बनारसीदासजीके पिता, प्रपिता आदिका यवन शासकोंसे घनिष्ठ सम्पर्क रहा था और कविवरका भी अपने समयके नवाबों और अन्य उच्च पदाधिकारियोंसे मैत्री-सम्बन्ध था अतः उनकी भाषाका इनपर अवश्य ही प्रभाव पड़ा था। इन भाषाओंके अतिरिक्त पंजाबी और राजस्थानी भाषा-

ओंमें भी उन्होंने रचनाएँ की हैं। इस प्रकार विविध देश-भाषाओंका प्रयोग कविकी रचनाओंमें हुआ है।

भोजपुरी यद्यपि लगभग दो करोड़ जनताकी बोली है तथापि आज तक यह ब्रज एवं अवधीकी भाँति साहित्यिक भाषा नहीं हो सकी। इसमें साहित्यिक रचनाओंका अभाव है। जिन साहित्यकारोंकी यह मातृभाषा रही है उनने भी अपनी रचनाएँ अवधी या ब्रजमें या फिर तात्कालिक बोलचालकी सामान्य भाषामें की है। [1]"भोजपुरी बोली बनारस, मिर्जापुर, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, शाहाबाद, चम्पारन, सारन तथा छोटा नागपुर तक फैल पड़ी है। भोजपुरीमें साहित्य कुछ भी नहीं है। संस्कृतका केन्द्र होनेके अतिरिक्त काशी हिन्दी साहित्यका भी प्राचीन केन्द्र रहा है, किन्तु भोजपुरी बोलीसे घिरे रहनेपर भी इस बोलीका प्रयोग साहित्यमें कभी नहीं किया गया। काशीमें रहते हुए भी कविगण प्राचीन कालमें ब्रज तथा अवधीमें और आधुनिक कालमें साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दीमें लिखते रहे हैं।" बनारसीदासजीने भी अपनी रचनाएँ भोजपुरीमें नहीं की हैं। कविवरने स्वयं ही अर्धकथानकमें कहा है—

"मध्य देश की बोली बोल।
गर्भित बात कहौं हिय खोल॥"

मध्यदेशकी बोलीसे कविका आशय तात्कालिक जनभाषासे है। अपना जीवनवृत्त स्वाभाविक ढंगसे नित्य-प्रतिकी बोलीमें ही कहा जा सकता है। इसी बोलीका प्रयोग बनारसीदासजीने अपनी अन्य रचनाओंमें उच्च साहित्यिक स्तरसे किया है। आपकी रचनाओंमें खड़ी बोली हिन्दीके आदि रूपके दर्शन होते हैं। अब हम उनकी एक-एक रचनाकी भाषापर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे—

नाममाला

पं० बनारसीदासजीकी उपलब्ध सभी रचनाओंमें नाममाला सबसे पूर्वकी रचना है। यह रचना संवत् १६७० की है। इस समय कविकी अवस्था लगभग २७ वर्षकी थी। नाटक समयसार इस रचनाके २३ वर्ष बादकी रचना है, जिसमें गम्भीरता, प्रौढ़ता तथा विशदता अत्यन्त निखरे रूपमें परिलक्षित होती है।

---

१. 'हिन्दी भाषाका इतिहास', पृ० ७६ : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा।

जहाँतक कविवरकी इस रचनाकी भाषाकी बात है, यह एक शब्द-कोष है जिसमें कविको किसी प्रकारके भाषा-सौष्ठव अथवा पाण्डित्य-प्रदर्शनका अवसर नहीं होता है। एक कोषमें तो वस्तु अथवा व्यक्तिके प्रचलित तथा प्राचीन कोषोंमें आगत पर्यायवाची शब्दोंकी गणना बिना किसी ननु-नचके ज्योंकी त्यों करनी पड़ती है। बनारसीदासजीने इस कोषकी भाषाके सम्बन्धमें स्वयं ही कहा है—

"सबद[1] सिन्धु मन्थान करि, प्रगट सु अर्थ विचार।
भाषा करै बनारसी, निज मति गति अनुसार ॥२॥
भाषा प्राकृत संसकृत, त्रिबिध सु सबद समेत।
जानि बखानि सु जानि तह, ऐ पद पूरन हेत ॥३॥"

अर्थात् शब्द-सिन्धुका मन्थन करके, प्रकट अर्थको ग्रहण करके भाषा (हिन्दी), प्राकृत, संस्कृत तीनों भाषाओंके शब्दोंका इस कोषमें समावेश करके कविने यह हिन्दी-कोष बनाया था। इसमें जानि, बखानि, सुजान, तह आदि शब्द पादपूर्तिके लिए प्रयुक्त हुए हैं।

कविवरने यह कोष वास्तवमें हिन्दी पाठकोंकी दृष्टिसे ही रचा था अतः १७वीं शतीमें हिन्दीमें प्रचलित शब्दोंका और उनके विकसित रूपोंका ज्ञान आज इस कृतिके आधारसे थोड़ा-बहुत किया जा सकता है।[2] "ग्रन्थकी रचना बड़ी ही सुगम, रसीली और सहज अर्थावबोधक है। यह कोष हिन्दी भाषाके अभ्यासियोंके लिए बड़े ही कामकी चीज है। अभीतक मेरे देखनेमें हिन्दी भाषाका ऐसा पद्यबद्ध दूसरा कोई भी कोष नहीं आया।" नाममालाके कुछ उद्धरणों-द्वारा हम उसकी भाषाके सम्बन्धमें विचार कर सकेंगे। कविने सरस्वतीके नाम दिये हैं—

"सरस्वति भगवति भारती, हंस वाहिनी वानि।
वाक बादनी सारदा, मति विकासिनी जानि ॥"

बुद्धिके नाम—

"बुद्धि मनीषा सेमुषी, धी मेधा मति ज्ञान ॥१२०॥"

शीघ्रके नाम—

"क्षिप्र वेग सहसा तुरत, झटिति आशु लघु जान।"

विभिन्न नामोंके उक्त तीन दोहे बनारसीदासजीको सरल, सुबोध एवं

१. 'बनारसी नाममाला', छन्द २–३।
२. वही, पृ० १०, भूमिका : पं० जुगलकिशोर मुख्तार।

बोलचालकी भाषाका स्पष्ट परिचय दे रहे हैं। भाषाके प्रचलित विविध रूप एक कोषमें सम्भव नहीं हो सकते। इस कोषमें भी प्रायः संस्कृतके कोषोंमें आगत शब्दोंको ही लिया गया है।

बनारसी नाममालामें ऐसे भी अनेक शब्द हैं जो प्राकृत अपभ्रंश भाषाके हैं अथवा इन भाषाओंके विकसित (सामान्य जन-प्रयुक्त) रूप हैं। कुछ शब्द आज-कल-जैसी ठेठ हिन्दीके हैं तथा कुछ शब्द प्रान्तिक भी हैं। उदाहरणार्थ कुछ शब्द देखिए——

प्रचलित	संस्कृत	दोहा
अकथ	थ्य	११६
अगनित	णित	५९
अगिनि	अग्नि	४७
अजान	अज्ञान	८७
जोनि	यो	१५४
ओथर	अस्थिर	१२१
अदभुत	अद्भुत	११२
अस्लील	श्ली	११९
असनि	श	९०
उत्तंग	उत्तुंग	१४६
ऊरध	ऊर्ध्व	३७
उरवसि	उर्वशी	३०
उवझाय	उपाध्याय	८४
कटाख	क्ष	९९
कंस बिधुंसन	ध्वं	१३
चित्त	त्त	९१
त्रिपथ गमनि	गामिनी	६३
त्रिय	स्त्री	७७
थुति	स्तुति	११५
दन्द	द्वन्द्व	१६५
धनंतरि	धन्वं	६०
निठुर	ष्ठु	११९
निसमनि	निशामणि	४१

प्रचलित	संस्कृत	दोहा
नेह	स्नेह	११४
नैन	नयन	९६
पक्खि	पक्षी	१५९
पतनी	पत्नी	७७
पत्त	पत्र	१४८
पंकति	पंक्ति	१६४
पंसु	पांशु	६७
पंचसरहत्थ	शरहस्त	११०
प्रभान	न्	७४
मनमत्थ	मन्मथ	११०
मरजाद	मर्यादा	५३
रकत	रक्त	

उल्लिखित इन शब्दोंकी आकृति ब्रजभाषाके निकटकी-सी प्रतीत होती है। ब्रजभाषाकी विशेषताएँ उक्त शब्दोंमें प्राप्त भी होती हैं। कविका समय भी आगरा (ब्रजप्रान्त) में ही पर्याप्त मात्रामें व्यतीत हुआ है अतः निश्चित रूपसे वे इस भाषाको आत्मसात् कर सके थे।

नाममालाके उक्त शब्दोंके आधारपर हम बनारसीदासजीकी भाषा-सम्बन्धी जिन विशेषताओंको देखते हैं वे इस प्रकार हैं—

१. णकारके स्थानपर सर्वत्र नकारका प्रयोग किया गया है, जैसे अगनित (५९), अंतःकरन (९१) आदि।

२. संयुक्त वर्णोंमें जो अर्धवर्ण होता है उसको पूर्ण करके ही प्रयोगमें लाया गया है। यथा—रकत, पतनी (७७), पंकति (१६४) आदि।

३. अर्ध रकारको पूर्ण रकारके रूपमें तथा श एवं ष को सकारके रूपमें प्रयोगमें लाया गया है। यथा—उरबसि (उर्वशी) तथा अस्लील (श्ली) ११९ आदि।

४. उच्चारण-सौकर्यकी दृष्टिसे कहीं-कहीं एकसे दो संयुक्त व्यंजनोंमें-से एकका लोप ही कर दिया गया है तो कहीं एक नये व्यंजनको और मिला दिया गया है। यथा—चित (चित्त ९१), मनमत्थ (मन्मथ ११०)।

५. य को ज, बको उ और सकारका लोप भी देखा जाता है, यथा—

अजान (अज्ञान), कंसविधुंसन (ध्वं १३), थुति (स्तुति ११५), निठुर (ष्ठु ११९) ।

६. निसमनि (निशामणि) ४१, पंसु (पांशु ६७), कटाख (कटाक्ष ९९), इन तीन शब्दोंके प्रयोगसे स्पष्ट है कि मुख-सुखकी दृष्टिसे शब्दोंको यथावसर ह्रस्व-दीर्घ किया गया है, आवश्यकता पड़नेपर संयुक्त वर्णोंका सर्वथा लोप करके एक नये ही व्यंजनका प्रयोग किया गया है। कटाक्षका क्ष क—ष के योगसे बनता है, परन्तु इन दोनों व्यंजनोंके स्थानपर ख कर दिया गया है।

७. स्थ, स्था, स्तु, स्थूके स्थानपर क्रमशः थ, था, थु, थू के प्रयोग हुए हैं। यथा–

१. थविर नर	९२	स्थविर नर
२. थावर	१६८	स्थावर
३. थुति	११५	स्तुति
४. थूल	१४६	स्थूल

इन संस्कृत शब्दोंके प्रचलित तात्कालिक भाषागत रूपोंके अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्द भी कवि-द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, जो वास्तवमें देशभाषाके ही शब्द कहे जायँगे। यथा—

		संस्कृत रूप
१. अडोल	१६८	अदोल
२. अंब	१४९	आम्र
३. आठ	१६७	अष्ट
४. आढ़	१०९	
५. ऊँट	१५३	उष्ट्र
६. कान	९७	कर्ण
७. चकवा	१६२	चक्रवाक
८. जयवन्त	५	
९. जेवर	१०९	
१०. झंड	१४०	(ध्वज) अर्थ
११. ह्राड	१०९	(बिच्छू) अर्थ
१२. डर	१४२	
१३. तन भाल	१२९	(आभूषण) अर्थ
१४. तपा	८३	(तपस्वी)

१५. तलार	१३५	
१६. तीन	१६६	त्रीण
१७. नरम	११९	
१८. नंदलाल	१५	
१९. नाव	६२	
२०. पलक	९६	
२१. पावस	१०६	
२२. पुर रखवाल	१३५	रक्षपाल
२३. पूतलो	९९	
२४. पेड़	१४८	
२५. फंघ	७२	
२६. बिच्छक	१०९	(आभरण) अर्थ
२७. भौंह	९६	
२८. मंगत	१४४	(भिक्षुक) अर्थ
२९. लाल	१२३	
३०. सेज	१३१	(शैय्या)
३१. सेठ	६२	श्रेष्ठि

इसी प्रकारके और भी अनेक शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं जो कविवरके समय देशभाषामें आत्मसात् हो चुके थे। उक्त शब्दोंमें-से कुछके तो मूल रूपोंका भी पता लगना कठिन है क्योंकि वे फ़ारसी भाषाके हैं, यथा ज़ेवर, पेड़ आदि। अधिकांश शब्दोंके मूल रूप संस्कृतमें ही हैं। कुछ शब्द अपने मूल रूपसे इतने पृथक् हो गये हैं कि सहसा उनके आदि रूपका पता नहीं लगता, यथा आठ, ऊँट, सेठ, सेज, पूतली, तीन आदि।

पूतली, पलक तथा मंगत और झंड आदि शब्दोंमें प्रान्तिक भाव दृष्टिगोचर होता है। इन्हें हम प्रान्तिक शब्द कह सकते हैं। पूतलीके लिए आज पुतली और मंगतके लिए मंगते तथा मांगने (बुन्देली) शब्द भी प्रचलित हैं। विभिन्न प्रान्तोंमें एक ही शब्दके उच्चारणकी पद्धतियाँ भी स्वतन्त्र होती हैं।

इस प्रकार बनारसीदासजीकी नाममालासे हमें उनके समयमें प्रचलित शब्दोंकी विविध रूपोंकी जानकारी प्राप्त होती है जो किसी भी भाषाशास्त्रीके ठोस अध्ययनका भी विषय बन सकती है।

समयसार

नाटक समयसार कविवर बनारसीदासजीकी अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। इसे आपने अत्यन्त परिपक्व अवस्थामें रचा था। भाषा, विषय और शैली सभी दृष्टियोंसे यह कृति अनुपम है। भाषाका निखरा हुआ साहित्यिक रूप बनारसीदासजीकी इस रचनामें दृष्टिगोचर होता है। इस कृतिमें भी कविने अपने समयमें प्रचलित सभी भाषाओंके (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, अवधी एवं खड़ी बोलीके) शब्दोंको अपनाया है। प्रमुखता संस्कृतनिष्ठ हिन्दी शब्दोंकी रही है। नाटक समयसारमें भावपक्ष कितना अनुपम एवं शाश्वत है इसकी चर्चा तो तृतीय अध्यायमें हो ही चुकी है। कलापक्ष और विशेष रूपसे भाषा-सम्बन्धी वैशिष्ट्यकी ही यहाँ चर्चा होगी।

बनारसीदासजीकी सभी रचनाएँ 'मध्यदेशकी बोली बोल, गर्भित बात कहौ हिय खोल।' का आधार एक लम्बी सीमा तक लिये हुई हैं। ब्रजमिश्रित तत्कालीन खड़ी बोली हिन्दीका उठता हुआ रूप समयसार नाटकमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कविवरकी सभी रचनाओंमें सामान्यतया भाषा एक-सी ही चली है, हाँ, समयसार नाटकमें उसमें साहित्यिक प्रौढ़ता, भाव-गाम्भीर्य और पुष्टत्वकी प्रचुरता अवश्य ही प्रचुर मात्रामें दृष्टिगोचर होती है। कविवरकी इस रचनामें राजस्थानी, गुजराती और पंजाबी भाषाओंके शब्दोंका भी प्रयोग हुआ है[१]। अरबी-फारसीके शब्दोंका तो कविवरकी सभी रचनाओंमें खूब ही प्रयोग हुआ है। बदफैल (४१), हौस (१९), तमासगीर (१५), बखत (१९), निसानी (७५), इत्यादि सैकड़ों शब्दोंका प्रयोग हुआ है।

नाममालामें जो शब्दोंकी रचना और कविका भाषाविषयक अध्ययन हो चुका है, उसी क्रमका निर्वाह इस रचनामें भी हुआ है, परन्तु यह एक विशाल कृति है अतः कविके भाषासम्बन्धी दृष्टिकोणको और भी विस्तार-से समझा जा सकता है। इस विशाल कृतिमें कविने कैसे शब्दोंका प्रयोग

---

१. भौंडी (बुरी) ३८ बन्धद्वार।
टाबरो (बालक) १२ मंगलाचरण। मारवाड़ी
रलै (मिलै) २७ क० कर्मक्रियाद्वार। ,,
चंग (प्रसन्न) १२ बन्धद्वार। पंजाबी
नाखी (घोड़री) ४ क० कर्मक्रियाद्वार। गुजराती।

किया है इसके अध्ययन हेतु कुछ शब्द हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

प्रयुक्त शब्द	संस्कृत	छन्द संख्या
१. खांडो	खड्ग	७ अजीवद्वार
२. पातुर	पात्र	३५ ,,
३. बमै	वमन (क्रि०)	५
४. धीठ	धृष्ट	११ क० क० क्रियाद्वार
५. फास	स्पर्श	१२ ,,
६. मुद्धता	मुग्धता (मूर्खता)	७ आस्रव अधि०
७. रत्त	रक्त	३० उत्थानिका
८. तत्त	तत्त्व	,,
९. विरत	विरक्त	३१ ,,
१०. परिनौन	परिणमन	६१ मोक्षद्वार
११. मौन	मनन	६१ ,,

इसी प्रकारके अनेक शब्दोंका प्रयोग नाटक समयसारमें किया गया है। इन शब्दोंके मूल रूप संस्कृतमें हैं और भाषामें विकसित होते-होते आज वे ऐसे हो गये हैं। कुछ शब्दोंके तो वर्तमान रूपके आधारपर मूल रूपका पता लगाना बड़ा ही कठिन हो जाता है।

ऐसे भी अनेक शब्द हैं जो प्रादेशिक ही हैं। संस्कृत अथवा प्राकृतमें जिनका उद्भव या मूल रूप नहीं है। इन शब्दोंको हम देशभाषाके शब्द भी कह सकते हैं। ऐसे कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं—

१. फखत (आरा)	अजीवद्वार १४	
२. सिखरनि (श्रीखण्ड)	क० क० क्रियाद्वार	१३
३. जुग (सनक)	,,	१३
४. बरतन्त (वर्तमान रहनेसे)	,,	३६
५. जोट (समूह)	३८ बन्धद्वार	
६. पोट (गठरी)	,,	
७. भोंडी (बुरी)	,,	
८. खेह (मिट्टी)	३९ ,,	
९. कमैरो (कुमाऊ)	४२ ,,	
१०. भलक (प्रभा)	३ मंगलाचरण	
११. साता (शान्ति)		

१२. पोरसा (उर्वर)	
१३. धुकै (देखे)	४० मोक्षद्वार
१४. औंधि (उलटी)	१३ सर्व वि० द्वार
१५. अकरी (ऐंठ जावे)	३९ ,,
१६. आर (अंकुश)	४२ बन्धद्वार
१७. कौंचनि (चाबुकोंसे)	,, ,,
१८. फूहें (बूंदें)	४३ ,,
१९. थूहे (ढेर)	,, ,,
२०. गूझत (उलझाता)	४७ ,,

बनारसीदासजीको अपने भावप्रकाशनमें किसी भी भाषाका जो शब्द उपयुक्त लगा उन्होंने खुलकर उसका प्रयोग किया है। भावप्रकाशनमें भाषाके सरल प्रवाहका अत्यधिक ध्यान रखा गया है। कहीं भी भाषाकी कठिनताके कारण भाव-दुरूहता नहीं आने पायी है। गम्भीरतम दार्शनिक विचारोंकी भी इतनी सरल भाषामें अभिव्यंजना हुई है कि पाठकको उन्हें हृदयंगम करनेमें कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता।

शैली बहुधा व्यासप्रधान ही रही है। विषयको उपमाओं-द्वारा, दृष्टान्तों-द्वारा और संवादों-द्वारा समझानेकी अत्यन्त हृदयहारी व्यवस्था रखी गयी है। सत्यसे पराङ्मुख आत्मा किस प्रकार असत्यमें उलझ रहा है। इसी भावको अभिव्यंजना इस उदारता और स्पष्टतासे की गयी है कि पाठक अनायास ही कविके अभिप्रेत अर्थको पा लेता है—

> "[1]माटी भूमि सैल की सौ संपदा बखाने निज,
> कर्म में अमृत जानै, ज्ञान में जहर है।
> अपनौ न रूप गहै, और ही सौं आपौ कहै,
> साता तो समाधि जाके असाता कहर है।
> कोप कौ कृपान लिए, मान मद पान किए,
> माया की मरोर हिए, लोभ की लहर है।
> याही भाँति चेतन न चेतन की संगति सों,
> सांच सौं विमुख भयौ, झूठ में बहर है।"

सोना चाँदी जो पहाड़ोंकी मिट्टी है, अज्ञानवश उसे अपनी सम्पत्ति कहता है—अचेतनके सम्पर्कके कारण यह शाश्वत आत्मा असत्यमें ही

---

१. 'नाटक समयसार', मोक्षद्वार २८।

उलझ रहा है। वास्तविक आत्मस्वरूपसे दूर ही रहता है। सच्ची सर्वसिद्धि (आत्मसिद्धि)की कितनी सरल—ललित व्याख्या की है—गागरमें सागर ही भर दिया है—

> "एक देखिए, जानिए, रमि रहिए इक ठौर।
> समल विमल न विचारिए, यहै सिद्धि नहिं और।"

यह कविवरकी समास-प्रधान शैलीका एक सुन्दर उदाहरण है।

व्याकरणकी दृष्टिसे भाषागत सौष्ठव तो सर्वत्र है ही, शब्द-चयन-गठन और अलंकारोंका उत्कर्ष भी समयसारमें कम नहीं है। मंगलाचरणका इकतीस वर्णका मनहर छन्द दर्शनीय है—

> "करम भरम जग-तिमिर हरन खग,
> उरग-लखन-पग सिव मग दरसी।
> निरखत नयन, भविक जल बरखत,
> हरखत अमित भविक जन सरसी॥
> मदन-कदन-जित, परम धरम हित,
> सुमिरत भगति, भगति सब डरसी।
> सजल जलद तन, मुकुट सपत फन,
> कमठ-दलन जिन नमत बनरसी॥"

केवल पादान्त अक्षर ही गुरु हैं शेष सब लघु हैं। बनारसीदासजीकी भाषामें कहीं भी शैथिल्य दृष्टिगोचर नहीं होता, वह सर्वत्र भावानुकूल ही आयी है। बनारसीदासजी छन्द, शब्द, अक्षर और अर्थ सभीकी अनुकूलताके पूर्ण समर्थक रहे हैं, किसीका भी ढीलापन वे स्वीकार न करते थे। सुकविकी परिभाषा करते हुए बनारसीदासजी लिखते हैं—

> "छंद सबद अच्छर अरथ, कहें सिद्धान्त प्रमान।
> जो यह विधि रचना रचै, सो है सुकवि सुजान॥"

लक्षण-ग्रन्थोंकी मान्यतापर चलनेवालेको ही वे योग्य कवि मानते हैं।

बनारसीदासजीकी भाषाका सरल-ललित प्रवाह एवं उसकी प्रांजलता पदे-पदे दर्शनीय है। कितनी प्रयासरहित शब्दावली उनकी नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभासे स्वतः निर्गत होती है, विज्ञ पाठक निम्नस्थ पद्यमें स्वयं ही अनुभव कर सकते हैं। चार पुरुषार्थोंपर ज्ञानी और अज्ञानीके मनोभावोंका कितना मार्मिक एवं स्पष्ट चित्रण किया गया है—

"[1]कुक कौं आचार ताहि मूरख धरम कहै,
पंडित धरम कहै वस्तु के सुभाउ कौं।
खेह कौ खजानौ ताहि अग्यानी अरथ कहै,
ग्यानी कहै अरथ दरब-दरसाउ कौं।
दंपति कौ भोग ताहि दुरबुद्धि काम कहै,
सुधी काम कहै अभिलाष चित्त चाउ कौं,
इन्द्रलोक थान कौं अजान लोक कहैं मोख,
सुधी मोख कहै एक बन्ध के अभाउ कौं।"

इसी प्रकार भाषागत सरल-मधुर प्रवाहके अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। सम्पूर्ण रचनामें भाषाको गठन, शब्दचयनकी निपुणता तथा आवश्यक अलंकारोंकी योजना अपार सौन्दर्यकी सृष्टि करती है। भाषा और भावोंका इतना अनुपम सामंजस्य हिन्दी साहित्यकी कम ही रचनाओंमें प्राप्त होता है।

मोह-विवेकयुद्ध

गत अध्यायोंमें ही 'मोह-विवेकयुद्ध'की प्रामाणिकता और उसके बनारसीदास-कृत होनेपर अनेक दृष्टियोंसे विचार करके हम इस निर्णयपर पहुँच चुके हैं कि निश्चित रूपसे यह रचना उक्त कवि-द्वारा रचित नहीं है। फिर भी यहाँ उसकी भाषापर भी विचार इसलिए आवश्यक समझा गया है कि अभीतक इसे बनारसीदासजीकी रचनाओंमें ही गिना गया है और कुछ विद्वान् अभी भी इसे बनारसी-कृत ही मानते हैं।

यह एक खण्ड काव्यात्मक रचना है। इसमें कविवरकी अन्य रचनाओं-जैसी भाषा, शैली और विषयगत पुष्टता नहीं मिलती। भाषाका भारी शैथिल्य है। भावोंको आगे बढ़ानेमें भी भाषा कार्यकर सिद्ध नहीं होती। छन्दों-अलंकारोंके आरोह-अवरोहके दर्शन भी कविकी अन्य कृतियोंकी भाँति इसमें नहीं होते। इसमें संवाद है। भाव-पात्र सत्य जगत्‌के-से पात्र लगते हैं। भाषा एकदम सामान्य बोलचालकी है। इसकी भाषाको व्रज, खड़ी बोली और ढूंढारी (जयपुरी) का मिश्रित रूप ही कहा जा सकता है। राजस्थानीके अनेक शब्दोंका प्रयोग हुआ है।

बात अत्यन्त संक्षेपमें सीधी भाषा-द्वारा कही गयी है। कामकी शक्तिका वर्णन देखिए—

---

१. 'नाटक समय सार', बन्ध द्वार १४।

"मैं कीयौ रावण कुल नास, और जीव सब मेरे बास ।
सींगी रिषि सेवन महि मारे, मोतें कौन-कौन नहिं हारे ।।२८।।
माया मोह तजें घर बास, मोतें भागि जांहि बनवास ।
कंद मूल फल भक्षिण कराहीं, तिनिहूं कों मैं छाड़ौं नाहीं ।।२९।।
इक जागत इक सोवत मारूं, जोगी, जती, तपी, संहारूं ।
ऐसे बैन बखानै काम, जुवती जन जाकौ विसराम ।।३०।।"

इस रचनामें शब्दोंकी तोड़-मरोड़ भी पर्याप्त हुई है । शब्दोंके प्रयोग भी कुछ ऐसे ढंगसे हुए हैं कि उन्हें कविकी अन्य रचनाओंमें नहीं पाया जा सकता । कुछ शब्द ये हैं—

देश-भाषा	संस्कृत	छन्द नाम
१. अध्रम	अधर्म	१८
२. अपजस	अपयश	१९
३. संखेप	संक्षेप	१९
४. निरफल	निष्फल	३८
५. ओंचाटन	उच्चाटन	३८
६. अनरत	अनृत	७५
७. अरिवल	आयुबल	८३
८. सोग	शोक	९५

राजस्थानीके कुछ शब्दोंका प्रयोग हुआ है । इन शब्दोंमें राजस्थानी प्रभाव स्पष्ट है—

१. मारूं	३०
२. संधारूं	३०
३. राणो	१९
४. भक्षिण	२९
५. मेल्है	४६
६. हथ्यार	४७
७. मया	४८
८. आपण	५६
९. पजारूं	५७
१०. गज्जै	५९
११. अज्जै	५९

अर्धकथानक

पं० बनारसीदासजीका भाषा-सम्बन्धी विशुद्धतम रूप (निसर्ग-निःसृत) उनकी आत्म-कथा (अर्धकथानक) में प्राप्त होता है। निज जीवन-का ५५ वर्षका विवरण अत्यन्त सरल स्वाभाविक देशभाषामें कविने प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थकी भाषाके सम्बन्धमें बनारसीदासजी स्वयं ही लिखते हैं—

[1]"मध्यदेश की बोली बोल, गर्भित बात कहों हिय खोल।"

[2]"बोलीका मतलब उस समयकी बोलचालकी भाषा है, साहित्यिक भाषा नहीं। बनारसीदास उच्च श्रेणीके कवि थे। उनकी अन्य रचनाएँ प्रायः साहित्यिक भाषामें नहीं हैं, परन्तु उन्होंने इस आत्मकथाको बिना आडम्बरकी सीधी-सादी भाषामें लिखा है जिसे सर्वसाधारण सुगमतासे समझ सकें। इस रचनामें हमें इस बातका आभास मिलता है कि उस समय बोलचालकी भाषा किस ढंगकी थी और जिसे आजकल खड़ी बोली कहा जाता है उसका प्रारम्भिक रूप क्या था।" डॉ० माताप्रसाद गुप्त स्व-सम्पादित अर्धकथानककी भूमिकामें बनारसीदासजीके 'मध्यदेश'की सीमाओं और उक्त ग्रन्थकी भाषाके सम्बन्धमे लिखते हैं—[3]"भाषाकी दृष्टिसे भी कृतिका महत्त्व कम नहीं है। रचनाके प्रारम्भमें ही लेखक उसकी भाषाके सम्बन्धमें कहता है कि वह 'मध्यदेशकी बोली बोलकर अपनी कथा कहेगा। यद्यपि मध्यदेशकी सीमाएँ बदलती रही हैं पर प्रायः सदैव ही खड़ी बोली और ब्रजभाषा प्रान्तोंको मध्यदेशके अन्तर्गत माना जाता रहा है, और प्रकट है कि 'अर्धकथा'की भाषामें ब्रजभाषाके साथ खड़ी बोलीका किंचित् सम्मिश्रण है। इसलिए लेखकका भाषा-विषयक कथन सर्वथा संगत जान पड़ता है। यहींतक नहीं कदाचित् इसमें हमें उस जन-भाषाका प्रयोग मिलता है जो उस समय आगरेमे व्यवहृत होती थी। आगरा दिल्लीके साथ ही उस समय मुग़ल शासकोंकी राजधानी थी, इसलिए उस स्थानकी बोलीमें इस प्रकारका सम्मिश्रण स्वाभाविक था। उस समयकी साहित्यकी भाषाओंके नमूने भरे पड़े हैं किन्तु सामान्य व्यव-हारकी भाषाओंके नमूने कम मिलेगें। प्रस्तुत कृति इसी प्रकारका अपवाद

---

१. 'अर्धकथानक' ७।

२. 'अर्धकथानक' 'प्रेमी' भूमिका, पृ० २३।

३. 'अर्धकथानक', प्रयाग विश्व-विद्यालय हिन्दी परिषद्-द्वारा प्रकाशित।

ज्ञात होती है ।''''कविताकी दृष्टिसे भी अर्धकथाका ऊँचा स्थान है।''
प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० हीरालाल जैन इस कृतिकी भाषाके सम्बन्धमें
लिखते हैं—

[1]''अर्धकथानकका जितना महत्त्व उसके साहित्यिक गुणों और ऐतिहासिक वृत्तान्तके कारण है उतना ही और सम्भवत: उससे भी अधिक भाषाके कारण है। सत्रहवीं शताब्दी और उससे पूर्वके हिन्दी साहित्यका भाषा और व्याकरणकी दृष्टिसे अभीतक पूर्णतः वर्गीकरण नहीं किया जा सका है और इसलिए किसी एक नवीन ग्रन्थके विषयमें यह कहना कठिन है कि हिन्दीकी सुज्ञात उपभाषाओंमें-से उस ग्रन्थकी भाषा कौन-सी है।'' जहाँतक मध्यदेशकी सीमाका प्रश्न है उक्त डॉ० सा० ने अनेक प्रमाणोंसे इसे भी स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं—'प्राचीन संस्कृत साहित्यमें मध्यदेशकी चतुःसीमा इस प्रकार बतायी जाती है—उत्तरमें हिमालय, दक्षिणमें विन्ध्याचल, पूर्वमें प्रयाग और पश्चिममें विनशन अर्थात् पंजाबके सरहिन्द ज़िलेका वह मरुस्थल जहाँ सरस्वती नदीका लोप हुआ है। चीनी यात्री फ़ाहियानने सं० ४५७ मताउल (मथुरा) से दक्षिणके देशको मध्यदेश कहा है और अलबेरुनीने (सं० १०८७) कन्नौजके चारों ओरके प्रदेशको मध्यदेश माना है। बनारसीदासजीका क्रीडाक्षेत्र प्रायः आगरासे जौनपुर तक यू० पी०का प्रदेश रहा है। अतएव इसे ही उनके द्वारा सूचित मध्यदेश माना जा सकता है।' उक्त विद्वानोंके मतके आधारपर यह निष्कर्ष सहज ही में निकाला जा सकता है कि व्रज और खड़ी बोली हिन्दी बोलनेवाले क्षेत्रको ही बनारसीदासजीने 'मध्यदेश' शब्दसे सम्बोधित किया है। कविवरका अधिकाधिक मात्रामें आवागमन जौनपुरसे आगरा तक ही रहा है अतः मुख्यरूपसे उनकी दृष्टि इसी क्षेत्रकी प्रचलित जन-भाषापर रही है। मुसलमानी शासनके कारण कविके समयमें आगरामें व्रजभाषामें खड़ी बोली (हिन्दी) का सम्मिश्रण किस द्रुतगतिसे हो रहा था यह भी आपके अर्धकथानकमें सहज ही देखा जा सकता है। 'अर्धकथा' कविकी लगभग अन्तिम अवस्थाकी रचना है। यह रचना कविके दीर्घ-कालीन आगरा निवासके अनन्तर ही निबद्ध की गयी थी। इस समय तक वे आगराकी जनभाषाको निश्चित रूपसे पूर्णतया आत्मसात् कर चुके थे। यद्यपि इस रचनामें उर्दू, फ़ारसी और संस्कृतके शब्दोंका भी प्रयोग

१. 'अर्धकथानक' 'प्रेमी', पृ० १५ : ले० अर्धकथानककी भाषा।

हुआ है, परन्तु मुख्यतया उस समयकी प्रचलित जनभाषा ही प्रयुक्त हुई है।

व्याकरणकी दृष्टिसे अर्धकथानककी ये विशेषताएँ ज्ञात होती हैं।

स्वर

अर्धकथानकमें विसर्ग और ऌके अतिरिक्त देवनागरीके समस्त स्वर मिलते हैं। 'ऋ' कहीं-कहीं सुरक्षित पाया जाता है, जैसे—मृषा (३७), नोकृत (२६४), गृह (३०), वृद्धा (१०६), मृतक (११३), कृपा (१२१), कहीं-कहीं 'ऋ' की जगह अन्य स्वरादेश पाया जाता है, जैसे—दिष्टि (१२९), किरिपा (४५०), उतकिष्टि (६६४)।

व्यंजन

देवनागरीके समस्त व्यंजनोंका प्रयोग हुआ है। 'नाममाला' एवं 'समयसार' के भाषासम्बन्धी अध्ययनमें व्यंजनोंकी प्रयोग पद्धतिपर पर्याप्त विचार किया जा चुका है। वे ही सब प्रवृत्तियाँ 'अर्धकथानक' में भी प्राप्त होती हैं। उच्चारण-सौकर्यकी दृष्टिसे कहीं स्वर बढ़ाया गया है तो कहीं किसी अक्षरका लोप ही कर दिया गया है। कहीं अर्धव्यंजन पूर्ण हो गया है, कहीं 'य' के स्थानपर 'इ' आदेश हो गया है। उदाहरणार्थ कुछ ये हैं —

अर्थकथानक	मूल रूप	छन्द
सुपास	सुपार्श्व	२
सिवपुरी	शिवपुरी	२
नांउ	नाम	२७
वितपन्न	व्युत्पन्न	४६
उहाँ	वहाँ	५८
संजोग	संयोग	५९
दर्व	द्रव्य	५९
पुन	पुण्य	६२
विरतन्त	वृत्तान्त	६३
मीत	मित्र	८९
बनज	वाणिज्य	४३४

इन उदाहरणोंसे कविवरके व्यंजनोंकी प्रयोग-पद्धतिका पता लगता है। संस्कृतके शब्द उस समयकी जनभाषामें खूब आ चुके थे और जनता

अपनी रुचि और सौकर्यकी दृष्टिसे उनमें अनायास ही परिवर्तन करती चली आ रही थी।

कारक

कर्त्ता और कर्मके प्रयोगोंमें कोई विकृति नहीं मिलती। जो आजकी हिन्दीमें चलन है वही उस समय भी था। कर्तामें ने या नें का प्रयोग मिलता है। कर्ममें 'कौं' का प्रयोग मिलता है, यथा—पढ़न कौं, (४६) खरगसैन कौं (५५), सबकौं (५१)।

करण

करण कारकमें 'सौं' प्रत्यय पाया जाता है—

"पूजा कीनी भगति सौं (४६६)",
"विधि सौं पूजे पारसनाथ (८६)",
"निज माता सौं मन्त्र करि (५२)" आदि।

सम्प्रदान

इस कारकका प्रयोग अत्यल्प मात्रामें हुआ है। इस कारकमें सौं, कौं, कां का प्रयोग मिलता है, यथा—

"सुख सौं रहहि न व्यापै काल (४५)",
"खरगसेन कौं रानै दिये परगने च्यारि (५५)",
"सुख समाधि सौं दिन गये (१४३)"

अपादान

इस कारकमें सों और सुं प्रत्यय प्राप्त होते हैं, यथा—

"कहं तूं जाहि कहां सों भाई (५१८)",
"आये लोग संघ सों नठे (३३९)",
"तिस दिन सों बानारसी करै धरम की चाह (२७१)"

सम्बन्ध कारक

इसमें का, के, की और कौ इन प्रत्ययोंका प्रयोग हुआ है। यह कारक तो पदे-पदे प्राप्त होता है। यथा—

दास की (२), तिन के, जा कौ, बस्तपाल के, जेठ् के (१२)

अधिकरण

इस कारकमें में और माँहि प्रत्ययोंका प्रयोग हुआ है, जैसे–

गंगामाँहि आइ धसी (२), जगत में (२), सुखेत में (८), बिहाली में (६)।

भूतकालिक क्रियाके विविध रूप

अन्य पुरुष

सुनी, चले (५२), दई, जाने, गए (५३), मिल्यो, कह्यो, कही, धरी (५४)।

भविष्यत्काल

होइगी (६), मांगहिगा (४८१), हंसहिंगे, सुनहिंगे (६७४), समुझेंगे (६७३)।

वर्तमानकालिक क्रिया

उत्तम पुरुष

बन्दौं (१), कहौं (४), ५, ६, ७, ११, २८।

आज्ञार्थक क्रियाओंके रूप

उ अथवा हु जोड़कर बनाये गये हैं, जैसे–

कथा सुनु (३८), सुनहु (७)।

संस्कृतके क्त्वा प्रत्यय-द्वारा जो पूर्वकालिक रूप (भुक्त्वा, पठित्वा) बनते हैं उन्हें कविने 'इ' और कहीं-कहीं ऐ लगाकर बनाया है। जैसे,

धरि, मानि, आनि, जानि, आइ (१), दै नाउं कौं दान (१६१)।

इन व्याकरण-सम्बन्धी विशेषताओंके अतिरिक्त 'अर्धकथानक' के कुछ शब्द और भी अवलोकनीय हैं। इनमें म, य और व को उ में परिवर्तित किया गया है, और कहीं-कहीं प्रथम व्यंजनपर एक बिन्दुका प्रयोग कर दिया गया है। यथा–

गांऊं	(२४)	ग्राम
नांऊ	(२६)	नाम
आउ	(६६४)	आयु
जीउ	(६६८)	जीव
सुकीउ	(६६८)	स्वकीय
सुठाउं	(२१)	सुस्थान

सु और सो अक्षर कई स्थानोंपर पादपूर्तिके लिए आये हैं, जैसे–

सो सब दीनो बहिन कों (७२), चले सु (८६), सो सब, सो मोपै (६०), सो दीजै (९१)।

सर्वनाम

जिन, तिसको, मैं, हम, ए, मेरे आदि पाये जाते हैं।

अर्धकथानककी भाषा-सम्बन्धी इन विशेषताओंको दृष्टिमें रखकर यह सहज ही देखा जा सकता है कि इसकी भाषा व्रज है या अवधी अथवा कोई और ही।

व्रजभाषाका संक्षिप्त व्याकरण[1]–

कारक—कर्ता नें, नैं

कर्म-सम्प्रदान–कुं, कूं, कौं, कैं, कें।

करण-अपादान – सौं, सूं, तें, ते।

सम्बन्ध – को, तिर्यक् (पुल्लिंग) के, स्त्रीलिंग की।

अधिकरण – में, मैं, पै, लौं।

विशेषण प्रायः खड़ी बोलीकी भाँति ही होते हैं, किन्तु दीर्घ पुल्लिग, अकारान्त शब्द यहाँ औकारान्त हो जाते हैं। इनके तिर्यक् रूप, एकवचनके रूप ऐ अथवा ए और पुल्लिग बहुवचनके रूप ए, ऐ या ऐं प्रत्ययान्त होते हैं।

क्रिया रूप –

वर्तमान – मैं हूँ। भूत – मैं था, हतो

१. 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' : डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० १२३ और 'व्रजभाषा व्याकरण' : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—इन ग्रन्थोंसे सहायता ली गयी।

एकवचन	बहुवचन	एकव० पु०	स्त्रीलि०
१. हौं	हैं	हो, हो।	ही
२. है	है	बहुव० पु०	स्त्री०
३. है	हैं	हे, हैं	हीं

संभाव्य वर्तमान

एकवचन	बहुवचन
१. मारौं, मारूँ	मारैं, मारहिं
२. मारै, मारहि	मारो, मारहु
३. मारै, मारहि	मारैं, मारहिं

भविष्यत् (मैं मारूँगा)।

एकवचन	बहुवचन
१. मारिहौं, मारैहौं मारूंगो, मारौंगो	मारिहैं, मारैहैं मारैंगो
२. मारिहै, मारैहै, मारैगो	मारिहो, मारैहौं मारौगे
३. मारिहै, मारैहै, मारैगो	

आज्ञार्थक क्रिया—मार, मारहि, मारि।

अतीत क्रियाबोधक विशेषण (पास्ट पार्टीसिपल) भयौ, दियौ,

भविष्यत्—देहौं, पैऊंगो आदि।

संज्ञा तथा विशेषण—ओ या औ प्रत्ययसे बनते हैं—

कारो, पारो, घोड़ौ आदि।

न लगाकर संज्ञाका बहुवचन बनाया जाता है, जैसे राजन, हाथिन, घोड़न।

सर्वनाम—

	मैं	तू	वह	यह	कौन	कौन प्र०
कर्ता	मैं, हौं	तू, तैं	वह, वो	यह, यिह	जो, जौन	को, कौन
कर्म–सम्प्र०	मोंहि, मो	ताहि, तुहि	वहि, वाय	यहि, इसे	जाहि, जाय	काहि, किसे
सम्बन्ध	मेरो	तेरो	तिनि, तिन	,,	जासु	—
कर्म–सम्प्र०	हमें	तुम्हें	उन्हें	इन्हें	जिन्हें	किन्हें

ब्रजभाषाकी इन विशेषताओंका समावेश अर्धकथानकमें पर्याप्त मात्रामें हुआ है। उक्त कारक रचनाकी बहुत-कुछ विशेषताएँ इस कृतिमें प्राप्त होती हैं। क्रिया रूपोंका भी बाहुल्य पदे-पदे प्राप्त होता है। भये, बसै, पायौ, कहौं (९-१०) आदि। विशेषणोंमें 'औ' प्रत्ययान्त रूप भी कहीं-कहीं प्राप्त होते हैं। यथा–

१. आयौ मुगल उतावलौ, सुनि मूका कौ काल (२२)

२. ताके पुत्र भयौ तीसरौ····(४४१)

सर्वनाम भी सो तिनि खानि (११४), सब (११७), मैं (१२९), आदि पर्याप्त मात्रामें ब्रजभाषाके ही प्राप्त हुए हैं। अनेक छन्द ऐसे प्राप्त होते हैं जो शुद्ध रूपसे ब्रजके ही कहे जा सकते हैं–यथा उदाहरणार्थ देखिए–

"नगर जौनपुर में बसै, मदन सिंह श्रीमाल।
जैनी गोत चिनालिया, बाजै हीरा लाल ॥३९॥
मदन जौहरी कौ सदनु, ढूंढ़त बूझत लोग।
खरगसेन माता सहित, आये करम संजोग ॥४०॥
छज मल्ल नाना सैन कौ, ताकौ अग्रज एह।
दीनौ आदर अधिक तिन, कीनौ अधिक सनेह ॥४१॥"

यद्यपि ब्रजभाषाकी प्रकृति कविके सम्पूर्ण काव्यमें रमी हुई है, फिर भी अवधीके कुछ अंश, उर्दू-फ़ारसीके शब्दोंका यथावसर भारी प्रयोग, तथा उठती हुई खड़ी बोली (हिन्दी)का आधिक्य दृष्टिगोचर होता ही है अतः अर्धकथानककी भाषाको पूर्णतः ब्रजभाषा नहीं कहा जा सकता।

अवधी और भोजपुरीके विशेष लक्षण लगभग एक-से ही हैं।

संज्ञामे तीन रूप प्राप्त होते हैं—

१. ह्रस्व	दीर्घ	अनावश्यक
घोड़	घोड़वा	घोड़ौना (घोड़उना)

२. संज्ञामें बहुवचनके अन्तमे 'न'का प्रयोग होता है, यथा—घोड़न। कर्ममें का और सम्बन्धमें केर और अधिकरणमें 'मा'प्रत्ययोंका प्रयोग होता है।

३. सर्वनामके सम्बन्धमे कारकमे मोर, तोर, हमार, तुमार आदि।

४. क्रियाएँ–देखब, करब आदि।

इन सभी लक्षणोंका तो अर्धकथानकमें प्रायः अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। अतः इस कृतिकी भाषा अवधी अथवा भोजपुरी तो कही ही नहीं जा सकती।

उर्दू-फ़ारसीके शब्द

अर्धकथानकमें उर्दू-फ़ारसीके शब्द पर्याप्त मात्रामें प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु जहाँ मुसलमान शासकोंसे सम्बन्धित कोई प्रसंग आ गया है वहीं इन शब्दोंका आधिक्य है। अन्यत्र तो अत्यल्प मात्रामें हैं। कविने शब्द अवश्य ही उर्दू-फ़ारसीके लिये हैं परन्तु उन्हें अपनी जनभाषाकी प्रकृतिमें दीक्षित करके ही। ऐसे कुछ शब्द ये हैं—

गरीब, फुरमान, मुसकिल, सरहद, फारकती, सीरियत, बेहया, दीवान, फरजन्द, यार, कोतवाल, गुजारी, हाकिम, मुकाम, माफ, स्याबास, बादा आदि।

खड़ी बोली (हिन्दी)—अर्धकथानकमें प्रयुक्त सभी भाषाओंमें खड़ी बोली (हिन्दी)का अंकुरित रूप हमें सर्वाधिक प्राप्त होता है। क्रियाओंमें, कारकोंमें और छन्दरचना तथा वाक्यरचनामें भी हम खड़ी बोलीकी दुधमुँही अवस्थाका साक्षात्कार करते हैं। उदाहरणार्थ कुछ पद्य देखिए—

"मालव देस परम सुखधाम, नरवर नाम नगर अभिराम।
तहां मुगल पाई जागीर, साहि हिमाऊं कौ वरबीर ॥१५॥
मूलदास सौं बहुत कृपाल, करै उचापति सौं पै माल।
संवत सोलह सै जब जान, आठ बरस अधिकै परवान ॥१६॥
सावन सित पंचमि रविवार, मूलदास घर सत अवतार।
भयौ हरख खरचे बहु दाम, खरगसेन दीनौ यहु नाम ॥१७॥"

तथा—

"सुख समाधि सौं दिन गये, करत सुकेलि विलास।
चीठी आई बाप की, चले इलाहाबास ॥१४३॥
चले प्रयाग बनारसी, रहे फतेहपुर लोग।
पिता पुत्र दोऊ मिले, आनंदित विध जोग ॥१४४॥"

अर्धकथानककी पद्य-रचना कितनी अधिक मात्रामें खड़ी बोली (हिन्दी) परक हुई है उक्त पद्योंसे स्पष्ट है। कुछ और भी उदाहरण देखिए—

१. भाड़ा किया फिरोजाबाद।४१०।
२. बोला एक पुरुष तुम कौन।४१७।
३. आगे और न भाड़ा किया।४११।
४. पहर डेढ़ जब रजनी गयी।४१२।
५. तीनों जने चले तत्काल।४१३।

६. वह था चोरन्ह का चौधरी ।४१८।
७. भावी अमिट हमारा मता, इसमें क्या गुनाह क्या खता ।५३८।
८. अंगा चंगा आदमी सज्जन और विचित्र ।५६४।

उल्लिखित उद्धरणोंमें और आजकल बोली जानेवाली खड़ी बोली (हिन्दी) में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलता, वरन् एक गहरे साम्यके ही दर्शन होते हैं। शब्दोंकी ही बात नहीं है अपितु वाक्य-रचना और पद-रचना भी पूर्णतया खड़ी बोलीमें की गयी है। खड़ी बोलीके शब्द तो सम्पूर्ण कृतिमें पदे-पदे आये हैं। कृतिको सरल ललित एवं हृदयग्राही बनानेवाली लोकोक्तियाँ, मुहावरे और सूक्तियाँ भी 'अर्धकथानक'में पर्याप्त मात्रामें प्राप्त होती हैं। इनसे भाषामें कितनी गतिमत्ता और सजीवता आ जाती है विज्ञ पाठक जानते ही हैं—

१. सुख-दुःख दोऊ फिरती छांह ।४४।
२. हारे हमाल की पोट-सी डारि कैं ।६२।
३. जो दुःख देखै सो सुख लहै, सुख भुजै सोई दुःख सहै ।१२८।
४. जैसी मति तैसी गति होइ ।१३८।
५. अब आइ अब आइ धार ।१५७।
६. रही न कुसल न भागे खेम, पकरी सांप छछूंदर जेम ।१५८।
७. बहुत पढ़ैं बामन अरु भाट, बनिक् पुत्र तौ बैठे हाट ।
८. बहुत पढ़ैं सो मांगे भीख, मानहु पूत बड़े की सीख ।२००।
९. काहू कह्यौ न मानै कोई, जैसी मति तैसी गति होई ।२०२।
१०. साहिब सेवक एक से ।२३७।
११. नदी नांव संजोग ज्यों बिछुरि मिलै नहि कोई ।२४३।
१२. घर की नांव रही सी लगै । २७० ।
१३. कहैं दोष कोउ न तजै, तजै अवस्था पाई ।
जैसे बालक की दसा, तरुन भयै मिटि जाई ॥ २७२ ॥
१४. जैसा कातै तैसा बुनै, जैसा बोवै तैसा लुनै । ३०६ ।
१५. निकसी घोंघ सागर मथा, भई हींग वाले की कथा ॥३६५ ॥
१६. करी समक्कत गई अकाथ, कौड़ी एक न लागी हाथ । ३६४ ।
१७. सुख दुःख कौ दाता भगवन्त ॥ ३७३ ॥
१८. समै पाइकै दुःख भयौ, समै पाइ सुख होय ।
होनहार सो ह्वै रहै, पाप पुन्न फल दोइ ॥ ३७४ ॥

१९. भाई सों क्या भिन्नता, कपटी सों क्या नेह। ४०४।
२०. छिन महिं अगिनि छिनक जलपात,
त्यों यह हरष शोक की बात। ४४३।
२१. चूक्यौ झगरा भयौ अनंद, ज्यों सुछन्द खग छूटत फंद।४५७।
२२. मुख मीठी बातें करै, चित्त कपटी नर नीच। ५०८।
२३. जो हम कर्म पुरातन कियौ, सो सब आइ उदै रस पियौ।५३८।
२४. लोभ मूल सब पाप कौ, दुःख कौ मूल सनेह।
मूल अजीरन व्याधि कौ, मरन मूल यहु देह। ५५१।
२५. भई बनारसि की दसा, जथा ऊँट कौ पाद। ५९५।
२६. निन्दा थुति जैसी जिस होइ, तैसी तासु कहैं सब कोइ।
पुरजन बिना कहैं नहिं रहैं, जैसी देखें तैसी कहैं। ६०९।
२७. सुनी कहहिं देखी कहहिं, कलपित कहैं बनाइ।
दुराराध ए जगतजन, इन्ह सों कछु न बसाइ। ६१०।
२८. ज्यों ज्यों परिगह घटै, त्यों ताकौ उपसांति। ६४४।

भाषासम्बन्धी इन सभी विशेषताओंके आधारपर हम कह सकते हैं कि इस रचनाकी भाषा तात्कालिक जनभाषा (ब्रजप्रदेशकी) ब्रजभाषासे प्रभावित उठती हुई खड़ी बोली हिन्दी ही है। यह खड़ी बोली भी उस समय मुगल शासकों-द्वारा प्रचलित हो रही थी अतः धीरे-धीरे जनभाषाका रूप ले रही थी। यदि हम विशेष बोलियोंकी विशेषताएँ इस ग्रन्थकी भाषामें ढूँढ़ें तो हमें उनका अभाव ही दृष्टिगोचर होगा। न यहाँ राजस्थानकी मूर्धन्य ध्वनियोंका प्राधान्य है, न के स्थानपर 'ण' भी नहीं है, न बुन्देलीका ड़ के स्थानपर 'र' और मध्य व्यंजन 'ह' का लोप पाया जाता है।

'अर्धकथानक'में उर्दू-फ़ारसीके शब्द काफ़ी तादादमें आये हैं और अनेक मुहावरे तो आधुनिक खड़ी बोलीके ही कहे जा सकते हैं। इसपर-से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बनारसीदासजीने अर्धकथानककी भाषामें ब्रजभाषाकी भूमिका लेकर उसपर मुग़ल-कालमें बढ़ते हुए प्रभाव-वाली खड़ी बोलीकी पुट दी है और इसे ही उन्होंने मध्यदेशकी बोली कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि यह मिश्रित भाषा उस समय मध्यदेशमें काफ़ी प्रचलित हो चुकी थी। इस प्रकार अर्धकथानक भाषाकी दृष्टिसे खड़ी बोलीके आदिम कालका एक अच्छा उदाहरण है।[1]

१. 'अर्धकथानक' सम्पा० 'प्रेमी', पृ० १६, भूमिका डॉ० हीरालाल।

बनारसी-विलास

बनारसी-विलास कविवर बनारसीदासजीकी समय-समयपर की गयी प्राय: जीवन-भरकी सम्पूर्ण लघु-रचनाओंका संग्रह है। यह संग्रह कविवर-की मृत्युके कुछ ही समय बाद चैत्र सुदी २ वि० सं० १७०१ को आगरा-निवासी दीवान जगजीवनने किया था। यह संग्रह कविवरके विविध प्रकारीण काव्य-कौशलको प्रस्तुत करता है। भाषाकी सरलातिसरल, साहित्यिक एवं आलंकारिक विविध विधाएँ सहज ही में दृष्टिगोचर होती हैं। विषय-वैविध्य तो है ही शैली भी प्राय: व्यास-प्रधान है, कहीं-कहीं गहरी सामासिकता भी दृष्टिगोचर होती है। इस संग्रहमें हम कविवरका उत्तर भारतकी सभी प्रमुख भाषाओंका अद्भुत ज्ञान देखते हैं। पूर्वी (भोजपुरी और अवधी) व्रज, उर्दू-फ़ारसी, राजस्थानी (विशेषत: ढूँढारी) और खड़ी बोली हिन्दीके तात्कालिक रूपोंका सुन्दर और सुगठित परिचय हमें आपकी इस कृतिमें प्राप्त होता है। सामान्यतया उक्त सभी भाषाओंमें जो रचनाएँ कविने की हैं वे इस संग्रहमें निबद्ध हैं। इस संग्रहकी सभी रचनाओंकी प्रमुख भाषा जिसका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है, कुछ खड़ी बोली मिश्रित ही है। भाषा सर्वत्र व्याकरणसम्मत एवं विषयानुकूल है। विषय-को सदैव रोचक, ग्राह्य एवं आकर्षक बनानेमें भाषा सर्वत्र सहायिका रही है। बनारसी विलासमें कविकी कई प्रकारकी रचनाओंका संग्रह है, जैसे--

१. अनूदित रचनाएँ, २. सैद्धान्तिक रचनाएँ, ३. आध्यात्मिक रचनाएँ, और ४. सुभाषित एवं मुक्तक रचनाएँ।

इन चारों ही प्रकारकी रचनाओंमें हमें बनारसीदासजीका भाषागत वैशिष्टय समझने-देखनेका पूर्ण अवसर मिलता है। सर्वप्रथम हम उनकी अनूदित रचनाओंको ही लेंगे। कविने अपने पूर्ववर्ती संस्कृतके कुछ विख्यात विद्वानोंके अनेक मुक्तकोंका हिन्दीमें पद्यानुवाद किया है। इस पद्यानुवादमें मूल भावोंकी पूर्ण रक्षाके साथ-साथ कविने अनुपम शब्दावली एवं मोहक शैली-द्वारा उन्हें और भी आकर्षक बना दिया है। शब्द-चयन, पद-रचना और अनायास अलंकारोंकी योजना आदि बातें अत्यन्त मोहक हैं। उदाहरण रूपमें कुछ अनूदित पद्य ये हैं--

मत्तगयन्द—

"ताहि न बाघ भुजंगम को भय, पानिन बोरै न पावक जालै।
ताके समीप रहैं सुर किन्नर, सो शुभरीत करै अघ टालै॥
तासु विवेक बढ़ै घट अन्तर, सो सुर के शिव के सुख मालै।
ताकि सुकीरति होय तिहूँ जग, जो नर शील अखण्डित पालै॥३०॥"

प्रस्तुत हिन्दी पद्यकी संस्कृतके निम्नस्थ[1] शार्दूलविक्रीडितसे तुलना करनेपर हमें स्पष्ट परिलक्षित होता है कि अनुवाद मूलसे भी अधिक आकर्षक हुआ है। संस्कृत पद्यमें व्याघ्र, व्याल, जल और अनल आदिका सामान्य विवेचन है। हिन्दी पद्यमें चार ही पंक्तियोंमें उसी भावको किस कुशलतासे रखा गया है, पाठक स्वयं ही अनुभव कर सकते हैं। आवश्यकता पड़नेपर कविवर नये शब्दोंका निर्माण भी कर लेते हैं, यथा प्रथम पंक्तिका अन्तिम शब्द 'जालै'। उक्त पद्यके भव्य भावका एक महापण्डित और एक साधारण व्यक्ति दोनों ही अपनी-अपनी योग्यतानुसार रसास्वादन कर सकते हैं। असाधारण भावोंको सरल साहित्यिक भाषामें निबद्ध करनेमें बनारसीदासजी सिद्धहस्त हैं। भावोंकी पूर्ण सुरक्षाके साथ भाषा-सारल्य दिखानेमें बनारसीदासजी अनूठे हैं। पूर्वाचार्यके स्वर्णतुल्य भावोंमें सुगन्धिकी मार्मिक योजना देखिए—

[2]"देव लोक ताकौ घर आँगन, राज रिद्ध सेवैं तसु पाय।
ताके तन सौभाग आदि गुन, केलि विलास करै नित आय।
सो नर तुरत तरै भव सागर, निर्मल होय मोक्ष पद पाय।
द्रव्य भाव विधि सहित 'बनारसि' जो जिनवर पूजै मन लाय॥"

---

१. व्याघ्रव्यालजलानलादिविपदस्तेषां व्रजन्ति क्षयं
कल्याणानि समुल्लसन्ति विबुधाः सान्निध्यमध्यासते।
कीर्तिस्फूर्तिमियर्ति यात्युपचयं धर्मः प्रणश्यत्यघं
स्वर्निर्वाणसुखानि संनिदधते ये शीलमाबिभ्रते॥ ३६॥
—बनारसीविलास।

२. स्वर्गस्तस्य गृहाङ्गणं सहचरी साम्राज्यलक्ष्मीः शुभा
सौभाग्यादि-गुणावलिर्विलसति स्वैरं वपुर्वेश्मनि।
संसारः सुतरः शिवं करतलक्रोडे लुठत्यञ्जसा
यः श्रद्धाभरभाजनं जिनपतेः पूजां विधत्ते जनः॥१०॥
—बनारसीविलास

सैद्धान्तिक रचनाओंमें जैन सिद्धान्तसे सम्बन्धित रचनाएँ हैं। इनमें अनूदित भी हैं और मौलिक भी। इनमें साहित्यिककलाका प्रायः अभाव ही मिलता है। वर्णनात्मक पद्धतिसे जैन सिद्धान्तका विवेचन पद्य-द्वारा करना कविका उद्देश्य रहा है। भाषाकी दृष्टिसे इन रचनाओंका भारी महत्त्व है। वर्णनप्रधान रचनाओंमें भी कविकी भाषा अत्यन्त सुगठित एवं विषयानुकूल रही है। विवरण-प्रधान रचनाएँ प्रायः शुष्क होती हैं परन्तु बनारसीदासजी उनमें भी अलंकारादिकी योजना कर उनको यथासाध्य सरस एवं सुपाठ्य बना सके हैं। जिनसहस्रनाममें सर्वत्र अनुप्रासकी छटा अवलोकनीय है—

"लघु रूपी लालच हरन, लोभ विदारन वीर।
धारावाही धौतमल, धेय धराधर धीर ॥२१॥
चिन्तामणि चिन्मय परम नेम, परिणामी चेतन परम छेम।
चिन्मूरति चेताचिद्विलास, चूणामणि चिन्मय चन्द्रमास ॥२२॥
चारित्र धाम चित् चमत्कार, चरनातम रूपी चिदाकार।
निर्वाचक निर्मम निराधार, निरजोग निरंजन निराकार ॥२३॥"

चतुर्दश मार्गणाओंका वर्णन करते हुए कविवर जीवकी विविध दशाओंका चित्रण अत्यन्त मृदुभाषामें करते हैं—

"कबहूँ क्रोध अगनि लहलहै, कबहूँ अष्ट महामद गहै।
कबहूँ मायामयी सरूप, कबहूँ मगन लोभ रस कूप ॥१०॥
चार कषाण चतुर्विध भेष, धरजिय नाटक करै विशेष।
कहूँ चक्षु दर्शन सों लखै, कहुँ अचक्षु दर्शन सों चखें॥

जैन दर्शनका कर्मसिद्धान्त अपनी विपुलता और गम्भीरताके लिए विश्वविख्यात है। आठों कर्मोंकी चर्चा कर्मकाण्डादि ग्रन्थोंमें बड़े विस्तारसे की गयी है। बनारसीदासजीका भाषापर अद्भुत अधिकार था, वे बड़ेसे बड़े गम्भीर भावको एक लघु पंक्तिमें अत्यन्त स्पष्टता और पूर्णताके साथ व्यक्त कर सकते थे। प्रस्तुत पंक्तियोंमें यही बात दर्शनीय है। जैन दर्शनमें ज्ञानावरणादिक आठ कर्म माने गये हैं जिनका उन्मूलन करके ही जीव संसार-सागरको पार कर पाता है, उन्हींका वर्णन देखिए। प्रथम चरणमें कर्मका नाम और द्वितीय चरणमें उसकी सुलझी हुई संक्षिप्त परिभाषा है—

[1]"प्रथम कर्म ज्ञानावरणीय, जिन सब जीव अज्ञानी कीय।
द्वितिय दर्शनावरण 'पहार', जाकी ओट अलख करतार ॥४॥
तीजा कर्म वेदनी जान, तासौं निराबाध गुणहान।
चौथा महामोह जिन भनै, जो समकित अरु चारित हनै ॥५॥
पंचम आवकरम परधान, हनै शुद्ध अवगाह प्रमान।
छट्टा नामकर्म विरतन्त, करहि जीव को मूरतिवन्त ॥६॥
गोत्र कर्म सातमौ बखान, जासौं ऊँच नीच कुलमान।
अष्टम अन्तराय विख्यात, करै अनन्त सकति को घात ॥७॥
ऐही आठों करमभल, इनमें गर्भित जीव।
इनहिं त्याग निर्मल भयौ, सो शिव रूप सरीव ॥८॥"

आध्यात्मिक रचनाओंमें कविकी प्रतिभा एवं प्रयासरहित भाषाशैली अत्यन्त निखरी हुई अवस्थामें है। पदोंमें जितनी मार्मिक भावाभिव्यंजना है उतनी ही भाषागत प्रांजलता भी है। असन्तुष्ट एवं परिथकित मानव मन अपने दुःखका कारण सांसारिक वस्तुओंका अभाव ही समझता है, उसे अत्यन्त सरलतासे कवि बोधित करते हैं—

[2]"रे मन कर सदा सन्तोष।
जातैं मिटत सब दुःख दोष। रे मन०
बढ़त परिग्रह मोह बाढ़त, अधिक तृषना होति।
बहुत ईंधन जरत जसैं, अगति ऊँची जोति। रे मन० इत्यादि।"

अथ च—

"दुविधा कब जैहै या मन की
कब जिन नाथ निरंजन सुमिरौं, तज सेवा जन-जन की।
कब रुचि सौं पीवे दृग चातक, बूँद अखय पद घन की। इत्यादि।"

बनारसीदासजीकी अध्यात्म-प्रधान रचनाओंमे पूर्वी भाषा (अवधी) में रचित पद भी हैं। ये पद भी कविके अद्भुत भावगुम्फन एवं तदनुकूल भाषा-गठनके परिचायक हैं। देखिए,

[3]"बालम तुहुं तन चितवन गागरि फूटि।
अंचरा गौ फहराय, सरम गै छूटि।" बालम०

---

१. 'कर्मप्रकृति विधान', 'बनारसीविलास' पृ० १०७।
२. 'बनारसीविलास' ३१।
३. यही।

हूं सिक रहूं जे सजनी घोर
घर करके उन जानै चहुंदिसि चोर। बालम०
पिउ सुधि आवत वन में पैसिउ पेलि।
छाड़उ राज डगरिया भयउ अकेलि ॥३॥"

पंजाबी भाषा

बनारसी-विलासमें 'मोक्षपैडी' नामक पंजाबी भाषाकी एक सुन्दर रचना है। कविका इस भाषापर भी कितना भारी अधिकार था यह इस रचनासे ही विदित होता है। कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

[1]"इक्क समय रुचिवंतनो, गुरु अक्खै सुन मल्ल।
जो तुझ अन्दर चेतना, वहै तुसाड़ी अल्ल ॥१॥
ए जिन वचन सुहावने, सुन चतुर छयल्ला।
अक्खै रोचक शिक्खनो, गुरु दीन दयल्ला ॥
इस बुझे बुध लहलहै, नहि रहै मयल्ला।
इसका मरम ना जानई, सो द्विपद वयल्ला ॥ ॥"

बनारसी-विलासमें कविकी विभिन्न भाषाओंके प्रभावोंसे विभिन्न अवसरोंपर रची गयी रचनाएँ हैं अतः निश्चित रूपसे यह कहना कठिन है कि अमुक भाषामें सम्पूर्ण बनारसी-विलास रचा गया है। हाँ, सम्पूर्ण संग्रहके अध्ययनके आधारपर यह कहा जा सकता है कि इसमें सरल प्रवाहयुक्त एवं साहित्यिक व्रजभाषाका, जो कहीं-कहीं जयपुरी, ढूँढारी और खड़ी बोलीसे प्रभावित है, प्रयोग हुआ है। कहीं भी शब्दों अथवा पदोंमें शैथिल्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

कविवर बनारसीदासजीकी भाषाके सम्बन्धमें एक दृष्टि और प्राप्त होती है। डॉ० लुई पी० टैसीटरीके विविध पत्रोंका उल्लेख करते हुए श्रीभँवरलाल नाहटा उक्त डॉ० के ही एक पत्रके कुछ अंश उद्धृत करते हुए लिखते हैं—[2]"जहाँतक बनारसीदासजीकी भाषाका सम्बन्ध है मैं सोचता हूँ कि उनकी रचनाओंके छपे हुए संस्करणोंकी भाषा – उनके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी भाषासे हूबहू नहीं मिलती, बल्कि उसको साहित्यिक व्रज एवं

१. 'बनारसी-विलास', पृ १३२।
२. 'संयुक्त राजस्थान' नवम्बर १९५६।
स्वर्गीय श्री एल० पी० टैसीटरीके शास्त्र विशारद जैनाचार्य विजयधर्मसूरिजीके नाम दिये गये पत्र।

आधुनिक हिन्दीके समकक्ष ला खड़ा करनेके उद्देश्यसे उसमें जहाँ-तहाँ परिवर्तन कर दिये हैं। फ्लोरेण्टाइन हस्तलिपिसे जिसका मैं अध्ययन कर चुका हूँ, यह प्रकट होता है कि बनारसीदास राजस्थानी विशेषताओंसे प्रभावित ब्रजभाषामें लिखा करते थे। यह तथ्य बनारसी जीवन-चरित्रकी इस सूचनासे कि बनारसीदास जन्मसे राजपूत जैन थे और भी दृढ़ हो जाता है। मुझे इसमें कोई संशय नहीं है कि बनारसीदासके कार्योंकी यदि अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त हो जायें तो वे फ्लोरेन्सवाली प्रतिके अनुरूप ही होंगी।" उल्लिखित उद्धरण जिस लेखका है वह सन् १९१३ में लिखा गया था। १९१३ के पश्चात् बनारसीदासजीकी रचनाओंपर कितना काम हो चुका है, उनकी रचनाओंकी कितनी हस्तलिखित प्रामाणिक प्रतियाँ प्राप्त हो चुकी है और उनके आधारपर कविकी भाषाके सम्बन्धमें विद्वानोंने क्या निर्णय किया है, इत्यादि बातें विचारनेपर उक्त लेख विशेष महत्त्वका नहीं रह जाता। राजस्थानी भाषाकी मूर्धन्य ध्वनियाँ, णकारकी बहुलता, सम्बन्ध कारकमें 'र', 'री' अथवा 'रो' का प्रयोग आदि बातोंका बनारसीदासजीकी भाषामें सर्वथा अभाव मिलता है। हाँ, ढूँढारीके कुछ यद्वा-तद्वा प्रयोग अवश्य मिलते हैं।

गद्य

कविवर बनारसीदासजीकी प्रतिभा केवल पद्यमें ही कार्यकर सिद्ध हुई यह बात नहीं है, उन्होंने गद्यमें भी कुछ श्रेष्ठ निबन्ध लिखे हैं। हिन्दी भाषाके विकासकी दृष्टिसे इन निबन्धोंके ऐतिहासिक महत्त्वके साथ साहित्यिक महत्त्व भी हैं। अत्यन्त सुलझी हुई, व्याख्याप्रधान भाषाका कविने सर्वत्र प्रयोग किया है। विषयको स्पष्ट करनेके लिए जितनी सुबोध भाषा और शैली आवश्यक होती है कविने उसीका प्रयोग किया है।

[1]उदाहरणार्थ देखिए –

"मिथ्यादृष्टि जीव अपनौ सुरूप नाहीं जानतौ तातें परस्वरूप विषैं मगन होय करि कार्य मानतु है ता कार्य करतौ छतौ अशुद्ध व्यवहारी कहिए। सम्यग्दृष्टि अपनौ स्वरूप परोक्ष प्रमान करि अनुभवतु है। पर सत्ता पर स्वरूप सों अपनों कार्य नाहीं मानतौ सन्तौ जोग-द्वारा करि अपने स्वरूप-को ध्यान विचार रूप क्रिया करतु है। ता कार्य करतौ मिश्र व्यवहारी कहिए, केवलज्ञानी यथाख्यात चारित्रके बलकरि शुद्धात्म स्वरूपको रमन-

---

१. 'परमार्थवचनिका', 'बनारसीविलास', पृ० २०६।

शील है तातैं शुद्ध व्यवहारी कहिए, जोगारूढ़ अवस्था विद्यमान है तातैं व्यवहारी नाम कहिए।" इस गद्यमें ब्रज और राजस्थानी ढूँढारीकी स्पष्ट झलक है। ढूँढारीमें जैन साहित्यके बड़े-बड़े पुराणोंका पद्यानुवाद भी हुआ है। बनारसीदासजीको गद्यकी प्रेरणा पाण्डे राजमल्लके समयसारसे मिली है और बनारसीदासके परवर्ती जैन गद्यकारोंने बनारसीदाससे इस दिशामें अवश्य ही प्रेरणा ली। वाक्य-रचना और क्रिया तथा विभक्तियोंके प्रयोग-में भारी समता मिलती है।

बनारसीदासजीका दूसरा निबन्ध है, 'उपादान निमित्तकी चिट्ठी'। जीवके किसी भी कार्यमें उपादान (जीव स्वयं) और निमित्त (बाह्य सहायक कारण) ये दो ही सहायक होते हैं यह बताया गया है। इसमें भी वही विवेचना प्रधान शैली तथा प्रचलित सरलातिसरल शब्दोंका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। "इहां कोउ उटंकना करतु है कि तुम कह्यो जु ज्ञानको जाण पणौं अरु चारित्रकी विशुद्धता दुहुँ स्यों निर्जरा है सु ज्ञानके जीव पनों सो निर्जरा यह हम मानीं। चारित्रकी विशुद्धता सों निर्जरा कैसें यह हम नाहीं समझी।' भावोंकी अभिव्यंजनाके साथ उन्हें गति देनेमें भी बनारसीदासजीकी भाषा सहायिका रही है। कविकी गद्यमें भी हम किसी प्रकारकी शिथिलता अथवा व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धि नहीं पाते। हिन्दी गद्यका प्रारम्भिक इतिहास और उसका क्रमिक विकास अवश्य ही बनारसी-दासजीसे पाथेय प्राप्त कर आगे बढ़ा है। कविके परवर्ती गद्यकारोंने निश्चित रूपसे आपके गद्यसे भारी मार्ग-निर्देशन प्राप्त किया है।

बनारसीदासजीमें धार्मिक, आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्व

प्रत्येक धर्मकी आचार (चारित्र-पोषक साधना पक्ष) और विचार (दर्शन पक्ष) ये दो शाखाएँ होती हैं। इन दोनों ही शाखाओंमें जबतक सन्तुलन रहता है तभीतक धर्मकी धारा अविच्छिन्न रूपसे चलती है। उसमें चारित्रकी दृढ़ताके कारण शिथिलाचार नहीं आ पाता और दर्शनकी परिपक्वताको आडम्बर नहीं बनने देती। जैन धर्ममें आचार और विचारके सन्तुलनका भारी ध्यान रखा गया है। पं० बनारसीदासजीके सम्पूर्ण साहित्यमें धर्मकी भी एक बलवती एवं वेगवती धारा प्रवाहित हुई है। आपने मनुष्यके आत्म-कल्याणके लिए आवश्यक आचार पालनके साथ विचार (दर्शन)का बड़ी विद्वत्ताके साथ प्रतिपादन किया है। अध्यात्ममें तो आपने अपने समयसार-द्वारा एक युगान्तर ही उपस्थित कर दिया है। आद्य आचार्य कुन्दकुन्दको जैन-जनता विस्मृत-सा करने लगी थी, आत्मतत्त्वकी भी चर्चा दिनोंदिन कम होती जा रही थी। धर्ममें क्रिया-काण्डकी अति और दूसरी ओर शिथिलाचारकी वृद्धि हो रही थी। अति आचार अत्याचार बन चुका था। यवनशासनके कारण यह उथल-पुथल आये दिन होती रहती थी। कविवर बनारसीदासजीने अपने जीवनके बहु-भागमें सभी धर्मोंके विविध दृश्य देखे, स्वयं पूर्ण तत्परतासे स्वाध्याय किया तब अन्तमें वे इसी निर्णयपर पहुँचे कि यदि मनुष्य स्वयं दृढ़ हो तो आवश्यक थोड़े-से कारणोंकी सहायतासे ही आत्म-कल्याण कर सकता है। उसे सांसारिक विवादोंमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं है।

मानवके आत्म-विकासमें मूल कारण उसकी आत्मशक्ति ही है। बाह्यके निमित्त उपचारसे ही कारण बन जाते हैं वस्तुतः वे हैं नहीं। मानव-विकासमें कार्य करनेवाली इन्हीं दो शक्तियोंके नाम उपादान और निमित्त कारण रखे गये हैं। अध्यात्म सन्त कविवर बनारसीदासजीका झुकाव प्रमुख रूपसे उपादान (आत्मशक्ति) की ओर अर्थात् अध्यात्म

पक्षको ओर है। निमित्त कारणको वे बहुत ही साधारण महत्त्व देकर छोड़ देते हैं। उक्त विचारकी पुष्टिके लिए कविवरकी निम्नस्थ पंक्तियाँ मननीय हैं—

निमित्त उपादानके दोहे—

"[1]गुरु उपदेश निमित्त बिन, उपादान बल हीन।
ज्यों नर दूजे पाँव बिन, चलवे को आधीन ॥१॥
हौं जानै था एक ही, उपादान सो काज।
थकै सहाई पौन बिन, पानी मांहि जहाज ॥२॥"

दोनों दोहोंका उत्तर—

"ज्ञान नैन किरया चरन, दोऊ शिवमग धार।
उपादान निहचै जहाँ, तहँ निमित्त व्योहार ॥३॥
उपादान निज गुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय।
भेद ज्ञान परवान विधि, बिरला बूझे कोय ॥४॥
उपादान बल जहँ तहाँ, नहिं निमित्त कौ दाव।
एक चक्र सों रथ चलै, रवि कौ यहै स्वभाव ॥५॥
सधै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन।
ज्यों जहाज परवाह में, तिरै सहज बिन पौन ॥६॥
उपादान विधि निरवचन, है निमित्त उपदेश।
बसै जु जैसे देश में, करै सु तैसे भेस ॥७॥"

इन प्रश्नोत्तरात्मक दोहोंसे हमारे सम्मुख कविवर बनारसीदासजीका धार्मिक दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। वे क्रियाकी चर्चा व्यावहारिक रूपसे ही करते हैं निश्चय नयसे आत्मतत्त्वकी परख अर्थात् ज्ञान ही उन्हें मान्य है और यही मान्यता जैन आचार्योंकी भी है। आत्मानुभूतिके दिव्य लोकमें इतना अमित सौन्दर्य और आकर्षण है कि फिर मनुष्यको सांसारिक क्रियाओं और आचारकी बात करने या सोचनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती।

बनारसीदासजीकी रचनाओंमें आचारपरक एवं अध्यात्मपरक स्थल निम्नलिखित हैं—

---

१. 'बनारसी विलास', पृ० २२१, सं० श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल।

१. बनारसी-विलास

१. मार्गण	२. कर्मप्रकृति विधान
३. ध्यान बत्तीसी	४. पंच पदविधान
५. अष्टप्रकार जिनपूजा	६. दशदान
७. दश बोल	८. परमार्थ वचनिका
९. निमित्त उपादानकी चिट्ठी	१०. कल्याण मन्दिरस्तोत्र
११. जिनसहस्रनाम	१२. धर्माधिकार
१३. पूजाधिकार	१४. जिनमताधिकार
१५. संघ अधिकार	१६. दानाधिकार
१७. शीलाधिकार	१८. मोक्ष पैडी
१९. कर्म-छत्तीसी	२०. साधु-वन्दन

२. मोह-विवेकयुद्ध

कविवरकी यह ११० छन्दोंकी स्वतन्त्र रचना है। यह अध्यात्म-प्रधान रचना है।

३. समयसार नाटक

कविवरका यह सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ भी धर्मके अध्यात्म अंगसे परिपूर्ण है।

४. नाममाला

इस छोटे-से शब्दकोषमें कविने अपनी धार्मिक रुचिका परिचय प्रारम्भमें मंगलाचरण-द्वारा तथा तीर्थंकरों और सिद्धोंके नामों-द्वारा दे दिया है।

५. अर्धकथानक

बनारसीदासजीकी इस पद्यबद्ध आत्मकथामें भी हम उनका मानवीय दुर्बलताओंपर विजय पाता हुआ एक उज्ज्वल धार्मिक व्यक्तित्व पाते हैं। ग्रन्थका मंगलाचरण, बनारसमें पार्श्वनाथजीकी यात्रा तथा स्वयं-द्वारा किये गये सामायिक प्रतिक्रमण, उपवास एवं व्रतादिक धार्मिक क्रियाओंका कविने स्वयमेव उल्लेख दिया है।

इस प्रकार बनारसीदासजीकी प्रत्येक रचनामें हमें उनके धार्मिक व्यक्तित्वके दर्शन होते हैं। [1]"बनारसीदासजी जैन शास्त्रोंके पारदर्शी विद्वान्

१. 'बनारसी-विलास', पृ० ३६, सम्पा० पं० कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम० ए०।

थे। उनका गम्भीर अध्ययन था। बनारसी-विलासमें संग्रहीत जैन सिद्धान्त विषयसे सम्बन्धित रचनाओंमें जैन धर्मके गहन तत्त्वोंका परिचय दिया गया है। वह उनके जैन सिद्धान्तविषयक गम्भीर ज्ञानका स्पष्ट प्रमाण है। सिद्धान्तकी गहन चर्चाओंके उदाहरण देकर समझाना उन्हें अच्छी तरह आता था।"

धर्मकी वास्तविकताके लिए ज्ञान और चारित्रकी युगपत् अनिवार्यताके सम्बन्धमें कविवर अत्यन्त स्पष्ट लिखते हैं—[1]"और सुनि जहाँ मोक्ष मार्ग साध्यौ तहाँ कह्यौ कि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' और यों भी कह्यौ कि 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' ताको विचार-चतुर्थ गुणस्थानक स्यूं लेकर चतुर्दशम गुण-स्थानक पर्यन्त मोक्षमार्ग कह्यौ ताकौ ब्योरौ। सम्यक् रूप ज्ञानधारा चारित्र रूप विशुद्ध धारा दोऊ धारा मोक्ष मार्गकौ चली सु ज्ञान सौं ज्ञानकी शुद्धता और क्रिया सों क्रियाकी शुद्धता।" केवल-ज्ञान अथवा केवलक्रियासे आत्मकल्याण नहीं हो सकता। दोनोंका समन्वय आवश्यक है। आत्मशक्तिको जागृत करनेके लिए आचारकी अर्थात् निमित्तोंकी प्रबल आवश्यकता होती है। संसारके साधारणतया कार्योंसे लेकर मोक्षमार्गके प्रशस्त कार्यों तक निमित्त कारण कार्य करते हैं। जैन न्यायके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रमेयकमलमार्तण्ड'में अनेक स्थानोंपर कार्योत्पत्तिमें कारणको अनिवार्यताका प्रतिपादन किया है। कारणोंके व्यंजक कारण, अवलम्ब कारण, उपादान कारण, सहकारी कारण आदि उसी महाग्रन्थमें स्पष्ट किये गये हैं। [2]"स्वसामग्रीतः सकलभावानामुत्पत्यभ्युगमात्, उत्पादककारणकलापात् कार्यमुत्पद्यते।" एक स्तुतिमें पं० दौलतरामजीने भी आत्मकल्याणमें साधक कारणको स्वयं भगवान्-रूप कारणकी चर्चा की है।

"यह लखि निज दुःख गद हरण काज।
तुम ही निमित्त कारण इलाज॥"

स्पष्ट है आत्मा स्वयं कार्य करता है, फिर भी उसे कारणोंकी भी अपेक्षा होती है। ये कारण ही धर्मका आचार पक्ष अथवा चरित्र पक्ष हैं।

अब हम बनारसीदासजीकी रचनाओंमें-से कुछ आचार पक्षके उद्धरण प्रस्तुत करेंगे जिससे उनकी धर्ममें चारित्रके प्रति क्या आस्था थी वह

---

१. उपादान निमित्तकी चिट्ठी। 'बनारसी-विलास', पृ० २२०।
२. 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', पृ० ३०।

स्पष्ट हो सकेगी। देव, शास्त्र और गुरुके सम्बन्धमें कविवरकी आस्था अत्यन्त उच्च कोटिकी है। संसारकी समस्त निधियाँ और ऐश्वर्य उसके चरणोंमें लुण्ठित होते रहते हैं जो द्रव्य और भावसे देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति करता है। भवसागरका सन्तरण भी वह अत्यल्प कालमें कर लेता है। देवपूजनके सम्बन्धमें कविवरका यह ललित पद्य देखिए—

"देव[1] लोक ताको घर आंगन, राज रिद्ध सेवैं तसु पांय।
ताके तन सौ भाग आदि गुन, केलि विलास करै नित आय॥
सो नर तुरत तरै भव सागर, निर्मल होय मोक्ष पद पाय।
द्रव्य भाव विधि सहित बनारसि, जो जिनवर पूजे मन लाय॥"

भक्ति-भरित यह कविता किस सहृदय भक्तके मानसको भक्तिभावसे उद्वेलित न कर देगी।

गुरुके प्रति, हमारे स्वर्णयुग भक्तिकालके सभी कवियोंकी आस्था देवतुल्य ही रही है। आत्मोद्धारका एक मात्र दर्शन गुरु ही है। बनारसीदासजी भी गुरुके प्रति अपनी अपरिमेय श्रद्धा प्रकट करते हैं—

"मिथ्यात[2] दलन सिद्धान्त साधक, मुकति मारग जानिए।
करनी अकरनी सुगति दुर्गति, पुन्य पाप बखानिए।
संसार सागर तरण तारण, गुरु जहाज विसेखिए।
जग मांह गुरु सम कहैं बनारसि, औ न दूजौ पेखिए॥"

संसार-सागरको पार करनेके लिए गुरु एक मात्र जहाज है। करनी और अकरनीकी चेतना हमें उन्हीं सद्गुरु-द्वारा प्राप्त होती है। बिना गुरुके हमारा मनुष्यत्व जागृत नहीं हो सकता।

जैन शास्त्रोंका मन्थन कर कविवर बड़ी कुशल अभिव्यंजना करते हैं—

"शुभ[3] धर्म विकासै, पाप विनासै, कुपथ उथापन हार।
मिथ्यामत खंडे, कुनय विहंडे, मंडे दया अपार॥
तृष्णा मद मारै, राग बिडारै, यह निज आगम सार।
जो पूजें ध्यावें पढ़ें पढ़ावें, सो जग माँहि उदार॥"

मिथ्या धारणाओंको त्याग कर उज्ज्वल क्षमा भावकी स्थापना करना,

---

१. 'बनारसी-विलास', पृ० २२।

२. वही।

३. वही।

तृष्णा और रागभावपर विजय प्राप्त करना और साहसके साथ अन्याय मार्गका उन्मूलन करना यही जिनवाणीका सार है। कविवर बनारसीदासजीकी काव्य-भाषा और शैली इतनी अनुकूल पड़ती है कि गम्भीरसे गम्भीर भाव सहजमें ही हृदयगत हो जाते हैं।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच अणुव्रतोंकी भी बनारसीदासजीने अत्यन्त मार्मिक व्यंजना की है। अहिंसा आदि व्रतोंकी चर्चा कविवरसे पूर्व इस देशमें कई सहस्राब्दियोंसे परिव्याप्त होनेपर भी विवेचनकी मौलिकता कविवरको एक अनोखा ही महत्त्व प्रदान करती है। पाठक कविकी भूरि-भूरि प्रशंसा वशंवदकी भाँति करने लगता है। अहिंसाके सम्बन्धमें काव्य-प्रतिभा अत्यन्त मोहक हो उठी है—

अहिंसा—

"सुकृत[1] की खान, इन्द्रपुरी की निसैनी जान,
पाप रज खंडन को पौन रासि पेखिए,
भव दुःख पावक बुझाएबे को मेघमाला,
कमला मिलाएबे को दूती ज्यों विशेखिए।
मुकति वधू सों प्रीति, पालबें कों आली सम,
कुगति कि बार दिढ़ आगल सी देखिए।
ऐसी दया कीजे चित, तिहूँ लोक प्राणी हित,
और करतूत काहू लेखे में न लेखिए॥"

कविताका भाव हस्तामलकवत् स्पष्ट है। किस अद्भुत सरलतासे बनारसीदासजीने अहिंसाका माहात्म्य प्रकट किया है।

परिग्रह अर्थात् भोगविलासकी भौतिक सामग्री एवं मानसिक तृष्णा ही मनुष्यकी सुख-शान्तिका नाश कर रही है। विद्वान् गुणवान् एवं चरित्रवान् व्यक्ति भी इस परिग्रह-पिशाचके चक्रमें आकर अपना मनुष्यत्व ही खो बैठता है। एक क्षुद्र संसारीकी भाँति वह भी शारीरिक और मानसिक वेदनाओंमें जीवन व्यतीत करता है। इसी परिग्रहकी भयंकरताका अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन कविने किया है—

"कलह[2] गयंद उपजाएबे को बिन्ध्य गिरि,
कोप गीध के अघायबे को समशान है,

---

१. 'बनारसी-बिलास', पृ० ३७।

२. वही, पृ० ३८।

संकट भुजंग के निवास करिबे को बिल,
बैर भाव चौर को महानिशा समान है।
कोमल सुगुन घन खंडबे को महापौन,
पुन्य वन दाहिबे को दावानल दान है।
नीत नय नीरज नसायबे को हिम राशि,
ऐसो परिग्रह राग दुःख को निधान है।"

उक्त पद्यमें भाव-प्रकाशन-पटुता कितनी अद्भुत है इसे सहज ही में सहृदय जन अनुभव कर सकते हैं। यह सांसारिक मोह-ममता हमारी क्षमा, कोमलता, मिलनसारिता, धर्माचरणकी प्रवृत्ति आदि सभी उदात्त भावनाओंको नष्ट कर हमें कष्टों और क्षुद्रताओंके अन्ध कूपमें भव-भवान्तरों तक घेरे रहती हैं।

वास्तवमें हमारी स्वयंकी ही मनोवृत्तियाँ हमें संसारमे परमुखापेक्षी एवं एक नगण्य मनुष्यके रूपमें उपस्थित कर देती हैं। हम संसारके वातावरणको दोष देते हैं—ठीक है, परन्तु वास्तवमें यदि हमारा झुकाव अन्तर्मुखी हो तो इन विषय-भोगोंकी कोई सामर्थ्य नहीं जो हमें अपनी ओर आकृष्ट कर सके। हमारी इन्द्रिय-लोलुपता जब अस्थिर चंचल मनकी लोभ-भरी दृष्टिसे मिल बैठती है तब मनुष्य जितना पतित हो सकता है हो जाता है। हम लोभके वशीभूत होकर संसारका कौन-सा निकृष्ट कार्य नहीं करते हैं। पं० बनारसीदासजी इसी पापशिरोमणि लोभके सम्बन्धमे लिखते हैं—

"सहे[1] घोर संकट समुद्र की तरंगनि में,
कपै चित्त भीत पंथ, गाहै बीच बन में,
ठाने कृषि कर्म जामें शर्म को न लेश कहुं,
संकलेश रूप होय, जूझ मरे रन में।
तजै निज धाम को विराम परदेश धावै,
सेवै प्रभु कृपण मलीन रहै मन में,
डोलै धन कारज, अकारज मनुज मूढ़,
ऐसो करतूति करै, लोभ की लगन में॥"

मनुष्यका व्यक्तित्व ही जब लोभपरक हो जाता है तो प्रत्येक कार्यमें वह अपना स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण अवश्य ही रखता है। उससे फिर किसी उदार

१. वही।

भावकी अथवा निःस्वार्थ सेवाकी आशा करना आकाश-कुसुम-जैसी कल्पना हो जाती है।

बनारसीदासजीकी भावानुभूति जितनी सबल है, अभिव्यक्ति भी उतनी ही प्रभावशालिनी है। विषयी पुरुषोंकी मनोवृत्तिका वे किस व्यंग्य-विनोदके साथ चित्रण करते हैं—पढ़ते ही पाठकके मनपर उनकी एक अमिट छाप बैठे बिना नहीं रहती।

"[1]धर्म तरु भंजन को महामत्त कुंजर से,
आपदा भंडार के भरन को करोरी है,
सत्य शील रोकबे को, पौढ़ परदार जैसे,
दुर्गति के मारग चलायबे को धोरी हैं।
कुमति के अधिकारी कुनै पंथ के बिहारी,
भद्र भाव ईंधन जरायबे कों होरी हैं,
मृषा के सहाई दुर भावना के भाई ऐसे,
विषयाभिलाषी जीव अघ के अघोरी हैं॥"

धर्ममें आचार (व्रत, उपवास, पूजन, तप आदि) का महत्त्व है अवश्य, परन्तु इस आचारमें हमारी अन्तरंग निष्ठा होनी चाहिए। इस आधारका सम्बन्ध सीधा हमारे हृदयसे होना चाहिए। यह आधार यदि भावना-रहित है अर्थात् शुद्ध हृदयसे नहीं पाला जा रहा है तो निश्चित रूपसे कर्ताको यह कार्य क्लेश मात्र है, इसका उसे कोई फल प्राप्त नहीं होगा। आत्म-कल्याणकी ओर भी ऐसा चारित्र उसे अग्रसर न कर सकेगा। धर्मका सच्चा सम्बन्ध आत्मा और हृदयसे है। कविवर बनारसीदासजी धर्ममें भावनाका अद्वितीय मूल्यांकन करते हैं—

"गहि[2] पुनीत आचार जिनागम जोवना,
कर तप संयम दान भूमिका सोवना,
ए करनी सब निफल होय बिन भावना,
ज्यों तुष बोए हाथ कछू नहिं आवना।"

उसीका देवपूजन सफल है, उसीकी गुरुचरणोंमें सच्ची भक्ति है, वनवासी वही है, गुणीजनों-द्वारा यशोगान भी उसीका होता है, सच्ची

१. 'बनारसी-विलास', पृ० ५४।
२. वही, पृ० ५४।

तपस्या और इन्द्रिय दमन भी उसीके हैं, विद्याकी पूर्णता भी उस अनोखे-की है और समस्त अपराध भी उसीके नष्ट हैं जो वैराग्य-धनसे सम्पन्न है। धर्ममें वैराग्य अर्थात् अनासक्तिका अद्वितीय स्थान है। अनासक्ति-के अभावमें चिन्तनमें निर्मलता आना कठिन ही नहीं असम्भव है। संसारसे पृथक् अर्थात् अनासक्त होकर ही हमारे जीवनमें सादगी, पवित्र चिन्तन एवं तपमें तल्लीनता सम्भव है।

बनारसीदासजी इस विषय-वासनासे विरक्ति-अनासक्तिके सम्बन्धमें कहते हैं :—

"[1]कीनी तिन सुदेव की पूजा, तिन गुरु चरण कमल चित लायौ,
सो बनवास बस्यौ निसिवासर, तिन गुनवन्त पुरुष यश गायौ,
तिन तप कियौ कियौ इन्द्री दम, सो पूरन विद्या पढ़ आयौ,
सब अपराध गये ताकौं तजि, जिन बैराग्य रूप धन पायौ ॥"

इसी वैराग्य-भावनाको कविवरने और भी आकर्षक पद्धतिसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सच्चा धर्म और मोक्षप्राप्तिका अनुपम साधन स्वयंकी अनासक्तियुक्त शुद्ध अवस्था है। जिसके हृदयमें यह विरक्ति भाव प्रवेश कर लेता है उसे भोग-सामग्रीमें सर्पकी भयंकरता, राज समाजमें राजपुंज-जैसी निर्मोही वृत्ति, परिवारमें बन्धन मात्र, विषयोंमें विष इत्यादि प्रकारसे उसे इन पर-पदार्थोंमें कोई आनन्दानुभव नहीं होता। आत्मानन्दके सम्मुख ये सभी सुख उसे सूर्यके आगे टिमटिमाते हुए दीपक-से लगते हैं। कविवरकी इसी विषयपर कविता देखिए—

"[2]जाकौं भोग भाव दीसैं, कारे नाग के से फन,
राजा कौ समाज दीखै, जैसौ रज कोष है,
जाकौ परवार कौ बढाव घेरा बन्ध सूझै,
विषै सुख मौंज कौं विचारै, विषपोष है।
लसै यां विभूति ज्यौं, भसमि को विभूति कहैं,
बनिता विलास मैं देखै दृढ दोष है,
ऐसौ जान त्यागै यह महिमा विराग ताकी,
ताही को बैराग सही ताके ढिग मोख है ॥"

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीने धर्ममें

१. वही, पृ० ६५।
२. वही,

आचार पक्षका महत्त्व बड़े आदरसे स्वीकार किया है। आत्मानुभवपूर्वक आचारको ही वे मान्यता देते हैं। आडम्बरप्रधान, बोझिल एवं अर्थहीन रूढ़िगत आचारोंको जिनकी हृदयकी पवित्रतासे कोई लगाव नहीं है, साथ ही जो अति व्ययसाध्य एवं श्रमसाध्य भी हैं, कविवर बड़ी दृढ़तासे भर्त्सना करते हैं। बनारसीदासजी कोरे अध्यात्मी नहीं हैं, आत्म-निर्मलताके लिए उसकी मुक्तिके लिए वे चारित्रकी अनिवार्यतापर जोर देते हैं—

"देव पुंजहिं, देव पुंजहिं, रचहिं गुरु सेव,
परमागम रुचि धरहिं, तजहिं दुष्ट संगति तत्क्षण,
गुणि संगति आदरहिं, करहिं त्याग दुर्भक्ष्य भक्षण,
देहिं सुपात्रहि दान नित, जपें पंच नवकार,
ये करनी जे आचरहिं, ते पावें भव पार॥"[1]

आध्यात्मिक तत्त्व

अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीने धर्ममें चारित्र और दर्शनकी मान्यता आत्मानुभूतिपूर्वक स्वीकार की है। हम कविवरके सम्पूर्ण साहित्यका अध्ययन करनेपर इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि वे आद्यन्त अध्यात्मप्रेमी हैं। वास्तवमें आत्मधर्म क्या है इस सम्बन्धमें हम आधुनिक अध्यात्म सन्त श्री कानजी स्वामीकी कुछ अनुभव एवं स्वाध्याय-पूत पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं—"राग[2] विकार है इसलिए वह आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्माका स्वभाव राग-रहित है, यह कहनेपर लोग रागकी परिभाषा यह मानते हैं कि 'स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी, मान-प्रतिष्ठा इत्यादिका प्रेम राग है और इसलिए स्त्री, कुटुम्ब इत्यादिका राग छोड़कर देव, गुरु, धर्मके प्रति राग करके उसे राग मान लेते हैं किन्तु ऐसा नहीं है। जैसे स्त्री, कुटुम्ब, रुपया-पैसा इत्यादिका प्रेम राग है वैसे ही देव, गुरु, धर्मके प्रति जो प्रेम है वह भी राग है और इसलिए वह आत्माका स्वरूप नहीं है, उस रागसे भी धर्म (आत्मधर्म) नहीं होता। स्त्री, कुटुम्ब, रुपया-पैसा इत्यादिके प्रति रागका जो अशुभ भाव है, तथा देव, गुरु, धर्मकी भक्ति-पूजाके रागका शुभ भाव है, वे दोनों राग भाव ही हैं, और इन भावोंको भी छोड़कर "मैं आत्मा हूँ, ज्ञान स्वरूप हूँ," इस प्रकारका विचार करनेमें भी गुण-गुणीके भेदका विकल्प है, अतः वह भी राग ही है। ज्ञान, गुण आत्मासे पृथक्

१. 'बनारसी विलास', पृ० ६७।
२. आत्मधर्म-वर्ष तीसरा, प्रथम अंक, मोटा आंकड़िया, काठियावाड़।

नहीं होता तथा उसे भिन्न विचार करनेपर राग हो जाता है। इस प्रकार स्त्री, पुत्र, रुपया-पैसा इत्यादिका अशुभराग और देव, गुरु, धर्म-सम्बन्धी शुभराग तथा अपने आत्माके सम्बन्धमें विकल्पका शुभराग इत्यादि सब राग ही हैं। इसलिए बन्धका कारण हैं। शुभाशुभ राग आत्माका लक्षण नहीं है। शुभाशुभ रागको छोड़कर शेष जो मात्र ज्ञान रह जाता है वही आत्मा-का लक्षण है और वही आत्माका धर्म है।" पं० बनारसीदासजीने इसी आत्म-तत्त्वकी व्याख्या अनेक सुन्दर दृष्टान्तों और युक्तियों-द्वारा विस्तारसे की है। अध्यात्म-जैसे गम्भीर विषयका इतना सरल एवं हृदयस्पर्शी विवे-चन बनारसीदास-जैसे प्रतिभा-सम्पन्न एवं ज्ञानी व्यक्तिसे ही सम्भव था। आत्मानुभवके सूर्यतुल्य प्रकाशमें रागादिक पर पदार्थ इस आत्माको कदापि शंकित एवं स्वमार्गसे स्खलित नहीं कर सकते।

[1]"जैसे रवि मण्डल के उदै महि मण्डल में,
आतप अटल तप पटल विलातु है,
तैसें परमातमा कौ अनुभौ रहत जौलौं,
तौलौं कहूँ दुबिधा, कहूँ पच्छपात है।
नय कौ न लेस परवान कौन परवेस,
निच्छेप के बंस कौ विधुंस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहाँ बाधक हैं,
बाकी राग द्वेष की दशा की कौन बात है।"

अर्थात् जिस प्रकार सूर्योदयमें पृथ्वीपर धूप फैल जाती है और अन्धकारका लोप हो जाता है उसी प्रकार जबतक शुद्ध आत्माका अनुभव रहता है तबतक किसी भी प्रकारकी द्विविधा, शंका तथा नय आदिका पक्ष नहीं रहता। आत्मचिन्तनकी शुद्धि अवस्थामें नय आदिका लेश भी नहीं है। नय तो वस्तुका साधन है और अनुभव सिद्ध वस्तुका होता है, अतः इस आत्मानुभवकी दशामे नयकी कोई अपेक्षा ही नहीं रहती। इसी प्रकार ऐसे आत्मानुभवकी वेलामें प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंको भी आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि प्रमाण असिद्ध वस्तुको सिद्ध करता है, जो वस्तु स्वयं सिद्ध है उसे प्रमाण क्या सिद्ध करेगा। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप भी अकिंचित्कर हो जाते हैं। इस शुद्धात्मा परमात्माके नय, प्रमाण और निक्षेपादि जो भी साधक हैं वे सभी इस परमात्मके अनुभवमें

---

१. नाटक समयसार, जीवद्वार, छन्द १०, रच० पं० बनारसीदास।

बाधक होते हैं। जबतक इन उक्त कारणोंकी उपस्थिति रहती है तबतक आत्मानुभवमें बाधा ही होती है, शुद्ध स्वरूपसे परिचय हो ही नहीं पाता। वास्तवमें शुद्ध आत्मानुभव सूर्यकी वह उज्ज्वल चमक है जो समस्त कारणोंके अन्धकारको समुन्मूलित कर देता है।

आत्मामें अनन्त सुख, अनन्त वीर्य और अनन्त ज्ञान भरा हुआ है फिर भी यह आत्मा सुखकी खोज अपनेसे बाहर संसारके पदार्थोंमें करता है, जो बाहरके पदार्थ गुण, स्वभाव और क्रिया इससे भिन्न हैं, इसे किसी भी प्रकारका सुख नहीं दे सकते और न किसी प्रकारका दुःख ही दे सकते हैं फिर भी यह जीव आत्मविस्मृतिके कारण उनमें सुख-दुःखकी कल्पना किये हुए है। अपनी स्वतन्त्रताके लिए भी पर कारणोंपर विश्वास करता है जिनसे यह कदापि स्वतन्त्र नहीं हो सकता। हे आत्मन्! [1]"आत्म-स्वातन्त्र्यके लिए तुम्हें किसी भी उद्धारककी ओर सतृष्ण दृष्टिसे देखनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम स्वयं अपने आपके मित्र हो। अपनेको छोड़कर बाहर किसे मित्र खोजते हो।[2] आत्म-स्वातन्त्र्यके लिए सर्वात्मना स्वाश्रयी बनो।"

पं० बनारसीदासजीके साहित्यमें अध्यात्मपरक साहित्य समझनेके पूर्व हमें यह जान लेना आवश्यक होगा कि जैन दर्शनमें आत्माकी कैसी मान्यता है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अपने द्रव्यसंग्रहमें आत्माके सम्बन्धमें कहा है—

> [3]"जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
> भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्सोड्ढगई॥"

जीव उपयोग, अमूर्त, कर्ता, स्वदेह प्रमाण, भोक्ता, संसारी, सिद्ध और स्वभावसे ऊर्ध्वगामी हैं। इतने गुणोंके होनेपर भी यह आत्मा परतन्त्र क्यों है, इसका केवल एक ही कारण है कि इसने स्वयंकी शक्तिको भुला दिया है, और जो पर वस्तुएँ अथवा पौद्गलिक कर्म इसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते, उनसे स्वयंको वशीकृत मान रहा है। जिस क्षण भी इसे

---

१. 'अध्यात्म पदावली', पृ० २६, ले० पं० राजकुमार जैन, सा० आचार्य, एम० ए०।

२. पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं, किं बाहिया मित्तमिच्छसि॥ आचारांग १–३–३।

३. 'द्रव्यसंग्रह', गाथा २, ले० आचार्य नेमिनाथ चक्रवर्ती।

अपनी शक्तिका बोध हो जायेगा उसी क्षण परमात्मत्व एवं पूर्णानन्द इसमें समाहित हो जायेंगे।

जैन अध्यात्मके पुरस्कर्ता

जैन अध्यात्मके पुरस्कर्ता कविवर बनारसीदासजीसे पूर्व अनेक स्वनाम-धन्य अध्यात्मरत्न हो चुके हैं जिनकी रचनाओंसे आपको इस दिशामें दिव्य प्रेरणा प्राप्त हुई। सामान्यतया जैन संस्कृति अध्यात्म-प्रधान होनेके कारण प्रत्येक आचार्यने अध्यात्मपर अवश्य ही रचना की है परन्तु जिन आचार्योंने इस दिशामें अत्यन्त उत्कट भावसे जीवन-भर कार्य किया है यहाँ हम संक्षेपमें उनका परिचय करायेंगे।

सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेवने इसी दिशाको अपने अनन्त ज्ञान-द्वारा आलोकित किया। आदि तीर्थंकर ऋषभदेवके पश्चात् चौबीसवें महावीर स्वामी तक यह धारा अक्षुण्ण रूपसे प्रवाहित होती रही। महावीरके पश्चात् उनके अनुयायी श्रमण वर्गने समय-समयपर अपनी शक्ति और स्मृतिके अनुसार बड़ी तत्परतासे इस धाराको गति दी। आज भी हम उस आत्म-ज्योतिका भव्य प्रकाश जिनवाणीमें देखते हैं। जिन अध्यात्म सन्त आचार्योंका लिपिबद्ध साहित्य आज प्राप्त है उनमें सर्वप्रथम आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द हमारे सम्मुख आते हैं। प्रत्येक जैन शास्त्रके प्रवचनके आरम्भ-में जो मंगलाचरण पढ़ा जाता है उसके एक अनुष्टुप्से ही आचार्य कुन्द-कुन्दका जैन आम्नायमें शीर्षस्थानीय महत्त्व स्थापित हो जाता है।

"मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥"

स्पष्ट है भगवान् महावीर और उनके उत्तराधिकारी गौतम गणधरके पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्यका ही नाम आता है। आचार्य कुन्दकुन्दकी प्रमुख कृतियाँ समयसार, प्रवचनसार, नियमसार एवं पंचास्तिकाय हैं। अध्यात्मकी ठोस चर्चा इन ग्रन्थोंमें की गयी है। उत्तरवर्ती आचार्योंने इन्हीं ग्रन्थोंके आधारपर अध्यात्मका विस्तार किया है। आचार्यप्रवरकी अध्यात्म दृष्टिसे लिखी गयी अन्य रचनाओंमें भावपाहुड, दंसणपाहुड, चरितपाहुड, मोक्खपाहुड, बोधपाहुड, रयणसार और मूलाचार विशेष महत्त्वकी हैं।

कुन्दकुन्दाचार्यके पश्चात् उमास्वाति आते हैं। अध्यात्मके आप भी अप्रतिम पुरस्कर्ता थे। आपका 'तत्त्वार्थसूत्र' जिसके 'सर्वार्थसिद्धि' और

'राजवार्तिक'-जैसे महान् भाष्य ग्रन्थ बन चुके हैं, जैन आम्नायोंमें अत्यधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' आपका ही सूत्र है। आपके पश्चात् लगभग पाँचवीं शतीमें आचार्य पूज्यपादने 'समाधिशतक' और छठी शतीमें आचार्य योगीन्द्रने परमात्मप्रकाश तथा योगसार तदनन्तर आचार्य गुणभद्रने 'आत्मानुशासन' अध्यात्मकी अनुपम रचना प्रस्तुत की।

इसके पश्चात् आचार्य अमृतचन्द्रका समय आता है जिन्होंने आचार्य कुन्दकुन्दके अत्यन्त गूढ़, मर्मस्पर्शी एवं शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे लिखे गये समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय-जैसे महान् सिद्धान्त (अध्यात्म) ग्रन्थोंका प्राकृतसे संस्कृतमें विशद व्याख्या-टीका करके आद्य आचार्यके अध्यात्म सन्देशको घर-घर फैला दिया। आवश्यकता पड़नेपर उक्त ग्रन्थों-पर स्वतन्त्र रूपसे भी आपने कई स्थलोंमें अपनी अलौकिक विद्वत्ताका भी परिचय दिया है। गद्यमय व्याख्या और पद्यमय स्पष्टीकरणों-द्वारा आपने जैन अध्यात्म-धाराको अत्यन्त प्रदीप्त किया।

आपके पश्चात् आचार्य शुभचन्द्रने 'ज्ञानार्णव' लिखा। यह भी अध्यात्मकी एक सुन्दर रचना है।

अब हम एक ऐसे सन्त आचार्यके सम्पर्कमें आते हैं जिन्होंने जनभाषा अपभ्रंशमें अध्यात्मपर अनुपमग्रन्थ 'दोहापाहुड'की रचना की। ये सन्तरत्न हैं मुनि रामसिंह (लगभग विक्रमकी ११वीं शताब्दी) कविने दैनन्दिनी उपमाओं-द्वारा आत्म-तत्त्वका अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन किया है।[1] "जैन साधु मुनि रामसिंह एक ऐसे ही सुधारक थे, जिन्होंने प्रचलित पाखण्डादि-का घोर खण्डन किया। सिद्धान्तोंकी व्याख्या मात्र करते फिरनेवाले तर्क-पटु पण्डितोंके विषयमें उन्होंने कहा है कि [2]"ऐसे लोग बुद्धिमान् कहलाते हुए भी मानो अन्नके कणोंसे रहित पुआलका संग्रह किया करते है। और कणका परित्याग कर उसकी भूसी मात्र कूटा करते हैं।"[3], "बहुत पढ़नेसे क्या लाभ है। पण्डितोंको चाहिए कि वे ज्ञानके उस एक अग्निकणको ही अपना लें जो प्रज्वलित होनेपर पुण्य व पाप दोनोंको क्षणमात्रमें ही जला देता है।" षट्दर्शनोंके झमेलेमें पड़कर मनकी भ्रान्ति नही मिट सकती, एक देवके ६ भेद कर दिये किन्तु उससे मोक्षके निकट नहीं पहुँच सके।"

१ 'उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा', पृ० ५१।

२, ३ 'दोहापाहुड', रच० मुनि रामसिंह, पृ० २७, दोहा ८४–८५–८७।

[1]"छह् दंसण धंधइ पडिय, मणहण, फिट्टिम भंति ।
एक्कु देउ छह भेउ किउ, तेण ण मोक्ख हैं जन्ति ॥ १९६॥"

इसी प्रकारके अध्यात्मके अनेक अनमोल रत्नोंसे मुनिवर रामसिंहका दोहापाहुड भरा हुआ है। जितनी स्पष्टता और निर्भीकतासे मुनि रामसिंहने बाह्याडम्बरको ललकारा है उतनी बात उनके पूर्ववर्ती कवियोंमें भी नहीं मिलती। [2]"रामसिंह सर्वात्मना आत्मबुद्ध एवं स्वपर विज्ञानी थे। साम्प्रदायिकताका मोह तो उन्हें छू तक नहीं गया था। समस्त जीवात्माओंमें उन्हें अपनी ही आत्मा दिखलाई देती थी।"

सम्राट् अकबरके समयमें अध्यात्मप्रेमी कवि राजमल्ल हुए, आपकी रचनाएँ मार्मिक एवं सुबोध हुई हैं। लाटी संहिता, जम्बू स्वामी चरित, अध्यात्मकमलमार्तण्ड, छन्दोविद्या और पंचाध्यायी आदि ग्रन्थोंका प्रणयन किया है। प्रायः उक्त सभी ग्रन्थोंमें आत्मतत्त्वकी सारगर्भित विवेचना प्राप्त होती है।

अब हमारे सम्मुख अध्यात्म सन्त, स्वतन्त्र विचारक एवं प्रौढ़ प्रतिभासम्पन्न कविवर बनारसीदासजी आते हैं। आपने पूर्वाचार्योंसे उत्तराधिकारमें जो कुछ प्राप्त किया उसे अपरिमित सौन्दर्य, भावप्रवणता एवं मौलिक चिन्तनके साथ जनताके सम्मुख प्रस्तुत किया। जनभाषा हिन्दीमें अध्यात्मकी चर्चा करके आपने निश्चित रूपसे अध्यात्म-जगत्में एक युगान्तर ही उपस्थित कर दिया। स्वाध्याय विद्वत्ता और काव्यप्रतिभा-द्वारा समयसार-जैसी ललित, ससार एवं भावभरितरचना प्रस्तुत करके आपने घर-घरमें आत्मतत्त्वकी चर्चा और वास्तविकता प्रसारित कर दी।[3] उनकी प्रस्तुत आध्यात्मिक मान्यतामें यथार्थ आत्मकल्याणके बीज निहित देखकर उस समाजके व्यक्ति भी अच्छी संख्यामें उनके मतके अनुयायी बने। आगे चलकर हम देखते हैं कि कविवरकी इस मान्यताने लोक मानसको इतना अधिक प्रभावित किया कि कतिपय श्वेताम्बर आचार्योंकी दृष्टिमें उनका वह वर्धमान प्रभाव असह्य हो उठा; और उन्होंने न केवल इस मान्यताको

---

१. 'दोहापाहुड,' रच० मुनि रामसिंह, पृ० १७ दोहा ८४–८५–८७।
२. 'अध्यात्म-पदावली', पृ० ८३, ले० पं० राजकुमार जैन साहित्याचार्य।
कासु समाहि करउं को अंचउ, छोपु अछोप भणिविको वंचउं।
हल सहि कलह केण संमाणऊ, जहि जाइ जोवऊं तहि अप्पाणऊं।
दोहापाहुड।
३. अध्यात्म पदावली पृ० ८६-८७ ले० पं० राजकुमार जैन साहित्याचार्य।

'साम्प्रतिक अध्यात्ममत, आध्यात्मिक या 'वाणारसीय' कहकर पुकारा अपितु उसके विरोधमें स्वतन्त्र ग्रन्थोंका निर्माण कर उसकी साम्प्रदायिक दृष्टिकोणसे कटु आलोचना भी की। बनारसीदासजीने आलोचकोंकी जीवनमें कभी चिन्ता नहीं की, वे निश्चित भावसे एकनिष्ठ होकर अपनी साहित्य-साधनामें रत रहे।

आत्मतत्त्वकी अत्यन्त निर्भ्रान्त एवं स्पष्ट व्याख्या करते हुए कविवर लिखते हैं –

> [1]"जैसे बनवारी में कुधातु के मिलाप हेम,
> नाना भाँति भयौ पै तथापि एक नाम है,
> कसिकै कसौटी लीकु, निरखै सराफ ताहि,
> बन के प्रवान करि लेबु देतु दाम है,
> तैसे ही अनादि पुद्गल सों संजोगी जीव,
> नव तत्त्व रूपी में अरूपी महाधाम है,
> दीसै उनमान सों उदोतवान ठौर ठौर,
> दूसरो न और एक आतमा ही राम है।"

सुवर्ण कुधातुके संयोगसे अग्निकी तपनमें अनेक रूप होता है फिर भी उसे सोना ही कहा जाता है, साथ ही स्वर्णकार उसे कसौटीपर कसकर उसका उचित मूल्यांकन भी करता है। अरूपी आत्मा भी उसी प्रकार स्वयंमें निर्विकार एवं अत्यन्त दीप्तमान होनेपर भी पुद्गलके समागममें [2]नवतत्त्व रूप प्रतीत होता है, परन्तु अनुमान प्रमाणसे निश्चय करनेपर सभी दशाओंमें आत्माके अतिरिक्त और दूसरी कोई वस्तु नहीं है। प्रत्येक द्रव्यका गुण और स्वभाव स्वतन्त्र है। एक द्रव्य दूसरे रूपमें कदापि परिणत नहीं हो सकता। आत्माका पौद्गलिक द्रव्योंसे संयोग देखकर प्रतीत होता है कि आत्माकी दशा बदल गयी, परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता है। जब आत्मा अशुभ भावमय होता है तब पाप तत्त्व रूप होता है, जब शुभ भावयुक्त होता है तब पुण्य रूप होता है। संयम भावमें संवर रूप, भावास्रव बन्धादिमें आस्रव बन्ध रूप तथा शरीर इत्यादि जड़ पदार्थोंमें जब अहंबुद्धि करता है तब जड़ रूप होता है। परन्तु निश्चय दृष्टिसे इन सभी अवस्थाओंमें वह शुद्ध स्वर्णके समान निर्विकार ही रहता है। आत्म-

---

१ 'समयसार' जीवद्वार ८ रच० पं० बनारसीदासजी।

२ नवतत्त्व-जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप।

तत्वका निरूपण शुद्ध नयकी दृष्टिसे करते हुए बनारसीदासजी कहते हैं–

[1]"आदि अन्त पूरन स्वभाव संयुक्त है,
परसरूप परजोग कल्पना मुक्त है,
सदा एक रस प्रगट कही है जैन में,
सुद्ध नयातम वस्तु विराजै बैन में।"

अर्थात् जीव अपनी आदि अवस्था निगोदसे लेकर अन्त अवस्था सिद्ध पर्याय पर्यन्त अपने पूर्ण स्वभावसे युक्त है, पर द्रव्योंकी कल्पनासे रहित है। सदैव अपने स्वानुभव रसमें मग्न है। यह शुद्धनयकी दृष्टिसे जिनवाणीमें कहा गया है।

जब जीवको स्वपरका विवेक जागृत हो जाता है और वह आत्म रूपमें ही निमग्न हो जाता है, तब उसे संसारके सभी पदार्थोंमें कोई सार अथवा आकर्षण नहीं रह जाता। वह जान लेता है कि इनसे निश्चित रूपसे उसका सम्पर्क नहीं बन सकता है और यदि बनाया भी जाय तो आत्मा और पर पदार्थ एक दूसरेका कुछ भी लाभ-हानि नहीं कर सकते। फिर क्यों न स्वानुभव सरितामें निमग्न होकर अलौकिक आत्मानन्दका आस्वादन किया जाये। सच्चे आत्मज्ञानीकी अवस्थाका कितना हृदयाह्लादकारी चित्रण कविवरने किया है–

[2]"कै अपनौ पद आप संभारत, कै गुरु के मुख की सुनि बानी।
भेद विज्ञान जग्यौ जिनकै, प्रगटी सुविवेक कला रजधानी॥
भाव अनन्त भये प्रतिबिम्बित, जीवन मोक्ष दशा ठहरानी।
ते नर दर्पन ज्यों अविकार, रहें थिर रूप सदा सुख दानी॥"

स्वतः अथवा गुरूपदेशसे जिन्होंने भेद-विज्ञानको जागृत कर लिया है–जो स्वपरके ज्ञाता हो गये हैं। वे महापुरुष सच्चे जीवन्मुक्त हैं। उनकी दर्पणतुल्य शुद्धात्मामें अनन्त पदार्थ यथावस्थित झलकते हैं।

आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके पश्चात् आत्माको उसमें इतना अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है कि संसारमें उसकी रुचि स्वयमेव नहीं रहती। रत्नका धनी काँचपर दृष्टिपात करेगा भी क्यों। आत्म-शक्तिका चित्रण श्रीमद्भगवद्गीतामें भी बड़ी मार्मिकतासे किया गया है–

'समयसार' जीवद्वार '११।
२ वही २२।

[1]"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥"

स्पष्ट है जो प्राणी आत्मामें रमण करता है, आत्मसुखसे तृप्त रहता है और आत्मामें ही पूर्ण सुखानुभव करता है अर्थात् संसारके किसी भी सुख-भोगादिकी इच्छा नहीं करता यही निष्कर्मा है। वास्तवमें पूर्ण आत्म-साक्षात्कार ही मनुष्यकी पूर्णता है।

जीर्ण-शीर्ण निर्मोकको सर्प अत्यन्त निस्पृह भावसे छोड़ देता है और ऐसा करके आनन्दानुभव ही करता है। आत्मा भी जागृत हो जानेपर इन्द्रियजन्य विषयों और इच्छाओंपर अनायास ही विजय प्राप्त कर लेता है।

[2]"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥"

अर्थात् विषय त्यागसे विषय दूर हो जाते हैं, किन्तु उनकी अभिलाषा शेष रह जाती है वह भी आत्मसाक्षात्कार होते ही निवृत्त हो जाती है।

जीव कर्मका कर्ता नहीं है, किन्तु मिथ्यात्वपूर्ण अज्ञानमयी दृष्टिके कारण हम समझ बैठते हैं कि जीव ही समस्त कार्य कर रहा है। वास्तवमें जीव और पौद्गलिक नयोंके कार्य सर्वथा स्वतन्त्र और परस्पर भिन्न हैं। बनारसीदासजी इसी तात्त्विक वार्ताको एक सुन्दर दृष्टान्तमय पद्य-द्वारा स्पष्ट करते हैं–

[3]"जैसे महा धूप की तपति में तिसायौ मृग,
भरम सौं मिथ्याजल पीवन कौं धायौ है,
जैसे अंधकार मांहि जेवरी निरखि नर,
भरम सौं डरपि सरप मानि आयौ है।
अपनै सुभाव जैसे सागर सुथिर सदा,
पवन संजोग सौं उछरि अकुलायौ है,
तैसें जीव जड़ सौं अव्यापक सहज रूप,
भरम सौं करम कौ करता कहायौ है॥"

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता अ० ३ श्लोक १७।
२. वही अ० २ श्लोक ५९।
३. 'नाटक समयसार' कर्ता-कर्मक्रियाद्वार छन्द १४।

भाव स्पष्ट है, आतप पीड़ित तृषित मृग जल (मिथ्या जल)की ओर दौड़ता है, अन्धकारमें रस्सीसे ही सर्पका भय मानकर जैसे कोई व्यक्ति भागता है, जैसे समुद्र अपने स्वभावसे सदैव स्थिर है तथापि पवनके झकोरेसे उद्वेलित होता है, उसी प्रकार यह जीव स्वभावत: जड़ पदार्थोंसे भिन्न है फिर भी मिथ्यात्वी (अज्ञानी जीव) स्वयंको इस कर्मका कर्ता मानता है। वास्तवमें भेद-विज्ञानसे युक्त जीव कर्मका कर्ता कदापि नहीं है, ज्ञाता द्रष्टा मात्र है।[1] जिस प्रकार हंसके मुखका स्पर्श होते ही दूध और पानी पृथक्-पृथक् हो जाते हैं उसी प्रकार सम्यग् दृष्टि जीवकी सुदृष्टिमें स्वभावत: जीव, कर्म और शरीर भिन्न-भिन्न स्वयमेव प्रतीत होते हैं। जब शुद्ध चैतन्यके अनुभवका अभ्यास हो जाता है तब अपना निश्चल आत्म-द्रव्य ही परिलक्षित होता है। हाँ, पूर्वाजित कर्म उदयमें आये हुए दृष्टि-गोचर होते हैं, परन्तु अहंभावके अभावमें यह जीव कर्ता न होकर मात्र दर्शक ही रहता है। आत्माका कर्मोंसे पृथक्त्व कविने अनेक दृष्टान्तों-द्वारा स्पष्ट कर दिया है। विषयको हृदयंगम करनेमें आपके अनुपम दृष्टान्त बहुत ही सहायक होते हैं। गम्भीरसे गम्भीर विषय भी बनारसीदासजी दृष्टान्तों-द्वारा अत्यन्त प्रिय एवं सुबोध कर देते हैं।

[2]जीव चेतन भावोंका कर्त्ता है।

"जीव चेतना संजुगत, सदा पूर्ण सब ठौर।
ताते चेतन भाव कौ, कर्ता जीव न और॥"

ज्ञानी जीव-द्वारा किये गये दया, दान पूजादिक शुभ कार्य और कषायादिक निर्जराके कारण हैं और यही कार्य मिथ्यात्वी-द्वारा किये जानेपर बन्धके कारण हैं। इसका कारण है कि ज्ञानीकी क्रिया विरक्त भाव सहित होती है और मिथ्यात्वी उन कर्मोंमें अहंबुद्धि रखकर तल्लीन हो जाता है।

[3]"ज्ञानवंत को भोग निर्जरा हेतु है।
अज्ञानी को भोग बंध फल देतु है।"

श्रीमद्भगवद्गीतामें आत्माकी निर्मलताके इसी अलौकिक प्रभावको बड़ी विद्वत्तासे स्पष्ट किया है –

---

१. 'नाटक समयसार' कर्ता-कर्मक्रियाद्वार छन्द १५–२०।
२. ,, ,, २१।
३. ,, ,, २२-२४।

[1]"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥१॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥२॥"

हठपूर्वक इन्द्रियोंका दमन करके मनसे विषयोंका चिन्तवन करनेवाला व्यक्ति मिथ्याचारी है, और मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके जो व्यक्ति अनासक्त भावसे कार्य करता है वह विशिष्ट पुरुष है। इसी बातको और भी स्पष्ट किया है—

[2]"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥"

अर्थात् राग-द्वेषरहित एवं स्ववशीकृत इन्द्रियों-द्वारा विषय-भोग करता हुआ मनोविजयी पुरुष शान्ति प्राप्त करता है। वास्तवमें आसक्ति ही हमें विषयोंका क्रीतदास बना देती है और अनासक्त रहनेपर संसारका कोई भी विषय हमारा विवेक और मनुष्यत्व छीनकर हमें भ्रष्ट नहीं कर सकता। वास्तवमें सद्-असद् मनोवृत्तिपर ही हमारी मानुषिक एवं पाशविक वृत्तियोंका निर्णय होता है। अपावन मनसे उत्तम कार्य कदापि सम्भव नहीं है और इसी प्रकार पावन मनसे अपावन कार्य सम्भव नहीं है। स्वतन्त्रता और परतन्त्रतामें जो भाव है वही भाव हममें अनासक्तिके कारण आ जाता है। विषयासक्तिकी दशामें हम विषयाधीन होकर अपना स्वत्व खो बैठते हैं और अनासक्तिकी दशामें हमारा स्वत्व और विवेक हमारे साथ रहते हैं। हम जो भी कार्य करते हैं, मात्र व्यवहार निभानेके लिए, वास्तवमें हमारा लगाव उससे रंच मात्र भी नहीं होता। [3]"तेरे पुरुषार्थके सामने किसी भी कर्मकी कोई शक्ति नहीं है। जैसे गाजके गिरनेसे पर्वतके खण्ड-खण्ड हो जाते हैं उसी प्रकार आत्माके पुरुषार्थसे कर्म भी छार-छार हो जाते हैं। आत्मा अपने पुरुषार्थसे क्या नहीं कर सकता। जिस कर्मके बन्धनने तेरे विपरीत वीर्यमें काम किया है उस कर्मको तेरा अनुकूल वीर्य क्यों नहीं छोड़ सकेगा! किसी भी प्रकारका कर्म आत्माको पुरुषार्थ करनेसे नहीं रोकता, किन्तु जब आत्मा स्वयं पुरु-

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता' तृतीय अध्याय ६-७।

२. वही द्वितीय अध्याय ६४।

३. आत्मधर्म वर्ष २ अंक १ श्रीकानजी स्वामी।

षार्थ नहीं चाहता तब मौजूदा कर्मको निमित्त कहा जाता है। किन्तु वे कर्म आत्माका कुछ करते नहीं हैं। चाहे जिस क्षेत्रमें और चाहे जिस कालमें आत्मा जब पुरुषार्थ करेगा तभी पुरुषार्थ हो सकता है।" वर्तमान युगके अध्यात्मके प्रकाण्ड पण्डित श्री कानजी स्वामी आत्म-स्वातन्त्र्यके सम्बन्धमें लिखते हैं—मैं निर्मल ज्ञान ज्योति, राग द्वेष विहीन हूँ, मेरा सुख मुझमें है इस प्रकारकी श्रद्धाका होना ही स्वभावकी स्वतन्त्रता प्रकट करनेका उपाय है। इस स्वरूपकी रुचिका जो भाव है उसमें अनन्त पुरुषार्थ हैं, विषय कषायकी रुचि नहीं। पुत्र-स्त्री, धन इत्यादि सब पर वस्तु हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं हैं। ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमें ही आत्मधर्म और स्वतन्त्रता है। आत्माको परके आश्रयकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा निश्चय हुए बिना धर्म और स्वतन्त्रता नहीं होती। ज्ञानके बिना स्वतन्त्रताका निश्चय कदापि नहीं हो सकता क्योंकि सबका अता-पता लगानेवाला ज्ञान ही है।"

मुक्तिप्राप्तिमें शुद्धोपयोग

ब्रह्मचर्य, तप संयम, व्रत, दान, दया आदि अथवा असंयम, कषाय, विषय-भोग इनमें कोई शुभ और कोई अशुभ रूप हैं। मुक्तिमार्गमें ये शुभाशुभ दोनों ही कार्य बाधक हैं। एक सोनेकी बेड़ी है और दूसरी लोहेकी, पर बन्धन तो दोनों ही हैं और मोक्षके लिए बन्धनका अभाव चाहिए, अर्थात् राग-द्वेषसे दूर आत्मस्वभावमें तल्लीनता ही मुक्तिमें कार्य-कर होती है। बनारसीदासजीने स्पष्ट कहा है—

> [1]"सील तप संजम विरति दान पूजादिक,
> अथवा असंजम कषाय विषै भोग है,
> कोऊ सुभ रूप कोऊ असुभ सुरूप मूल,
> वस्तु के विचारत दुविध कर्म रोग हैं।
> ऐसी बंध पद्धति बखानी वीतराग देव,
> आतम धरम में करम त्याग जोग है,
> भौ जलतरैया, राग द्वेष कौ हरैया महा,
> मोख कौ करैया एक शुद्ध उपयोग है।"

कविवरकी कृतियोंमें अध्यात्मकी चर्चा पदे-पदे अत्यन्त सरसता एवं युक्तिमत्तासे हुई है। वे शुद्धात्मानुभवको ही मुक्तिका साधन मानते हुए दो पंक्तियोंमें अपना मन्थित भाव देते हैं—

१. 'समयसार' पुण्यपाप-एकत्वद्वार छन्द ७।

"शुद्धातम अनुभौक्रिया, सुद्ध ज्ञान दृग दौर।
सुकति पंक साधन यहै, वागजाल सब और॥"

अर्थात् शुद्ध आत्माका अनुभव ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। यही मुक्ति-पन्थ है, शेष सब वाग्जाल है।

दार्शनिक तत्त्व

भारतीय दर्शनके मुख्य रूपसे दो भेद किये किये जाते हैं—एक आस्तिक दर्शन और दूसरा नास्तिक दर्शन। वेदको प्रमाण मानकर चलनेवाले दर्शन आस्तिक दर्शन हैं और जो वेदको प्रमाण नहीं मानते वे नास्तिक दर्शन कहे जाते हैं। उक्त पद्धतिके अनुसार आस्तिक दर्शन छह हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। जैन बौद्ध और चार्वाक् नास्तिक दर्शन हैं। दर्शनोंके इस श्रेणी-विभाजनका मुख्य आधार 'नास्तिको वेदनिन्दकः' अर्थात् वेदनिन्दक सम्प्रदाय नास्तिक है। इससे यह बात स्पष्ट हो गयी कि जो सम्प्रदाय वेदका प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते वे नास्तिक हैं। इससे जैन, बौद्ध और चार्वाक् नास्तिक ठहरते हैं। काशिकाकारने पाणिनिसूत्र 'अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः'की व्याख्यामें कहा है कि 'परलोकोऽस्तीति मतिः यस्य स आस्तिकः तद्विपरीतो नास्तिकः' अर्थात् परलोकमें विश्वास रखनेवाला आस्तिक है और इससे विपरीत मान्यतावाला नास्तिक है। इस व्यख्यासे जैन और बौद्ध दर्शन भी आस्तिक ही निश्चित होते हैं। जैन दर्शनमें आत्मा, परमात्मा, मुक्ति और परलोक-की बड़ी स्थिर मान्यता है। बौद्ध भी परलोक और कैवल्य निर्वाणका अस्तित्व मानते हैं, भले ही उन्होंने आत्मनामका कोई तत्त्व नहीं माना है। अतः केवल चार्वाक् दर्शन ही नास्तिक दर्शन है शेष सभी दर्शन आस्तिक हैं।

सम्पूर्ण दर्शनोंमें जैन दर्शनका एक विशिष्ट स्थान है। इसकी आत्मा और जगत्‌के सम्बन्धकी विचारधारा सर्वथा मौलिक है। प्रत्यक्ष और परोक्ष जगत्‌की व्याख्याकी इसकी अपनी स्वतन्त्र प्रणाली है। जैन धर्मकी आधारशिला उसकी आचार-विचार-मूलक दृष्टि है। उसका सम्पूर्ण आचार अहिंसामूलक है और विचार अनेकान्त दृष्टिपर आधारित। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वास्तवमें दृष्टि एक ही है। विवेचनकी

---

१. वही, सर्वविशुद्धिद्वार १२६।

सुविधासे उसके दो नाम और रूप कर दिये हैं। विचार-क्षेत्रमें अहिंसा भी अनेकान्तमय हो जाती है और आचारके क्षेत्रमें अनेकान्त भी अहिंसाके नामसे उच्चरित होता है।

जैन दर्शनकी मान्यता

यह दृश्यमान एवं परोक्ष सत्तात्मक जगत् जड़ और चेतन रूप दो सत्ताओंमें विभक्त है। यह अनादि-अनन्त है। इसी जड़-चेतनको सत्ताको छह द्रव्योंमें विभक्त किया जाता है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्यायों (परिवर्तन क्रियाओं)का स्वामी होते हुए प्रत्येक समय परिवर्तित होता रहता है। द्रव्यमें परिवर्तन अवस्थाओंकी दृष्टिसे होता है, द्रव्यकी दृष्टिसे तो यह सर्वथा नित्य है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र एवं शक्तियुक्त है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमय है। द्रव्यकी परिभाषा भी यही है—[1]'सत् द्रव्यम्', 'उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' अर्थात् अस्तित्ववती वस्तु द्रव्य है। प्रत्येक वस्तुमें सदैव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमयी तीन अवस्थाएँ होती रहती है। इन अवस्था-ओंके रहते हुए भी सभी द्रव्य अपने अस्तित्व स्वभावको नहीं छोड़ते। मिट्टीके पिण्डसे घट बनता है और फूटकर खण्ड-खण्ड हो जाता है। यहाँ मिट्टी द्रव्य है। मिट्टी पिण्डसे जब घट रूप हो जाती है तो उसकी पिण्ड अवस्थाकी उत्पत्ति होती है तथा दोनों ही अवस्थाओंमें मिट्टी नामक द्रव्य उपस्थित है। घटके फूट जानेपर भी मिट्टी है ही। अतः सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्यमें अवस्थाओंका परिवर्तन होते रहनेपर भी द्रव्यकी नित्यता है।

स्याद्वाद

जैन दर्शनके अनेकान्त और स्याद्वाद शब्द वस्तुकी इसी अनेक अव-स्थात्मक किन्तु निश्चित स्थितिका प्रतिपादन करते हैं। अनेकान्त शब्द वस्तुकी अनेकधर्मता प्रकट करता है किन्तु वस्तुके अनेक धर्म एक ही शब्दसे एक ही समयमें नहीं कहे जा सकते अतः स्याद्वाद शब्दका प्रयोग किया गया। यह स्याद्वाद सन्देहवाद नहीं है, परन्तु एक निश्चित एवं उदार दृष्टिसे वस्तुके पूर्व अध्ययनमें सहायक दर्शन है। इसमें एकान्त हठ नहीं है समन्वयका भाव है। सभी दृष्टियोंका समादर है और वस्तुका पूर्ण

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र—रच० श्रीमदुमास्वामी।

प्रतिपादन। अनेकान्त शब्दसे हम वस्तुकी अनेकधर्मता जानते हैं और स्याद्वाद शब्द-द्वारा उसी अनेकधर्मताका कथन करते हैं।

अनेकान्त

जैन दर्शनमें वस्तुको समझानेकी सबसे बड़ी विशेषता उसकी अनेकान्त दृष्टि है। इस आधारपर प्रत्येक बात अपेक्षात्मक दृष्टिसे कही जाती है। जब किसी वस्तुको सत् कहा जाय तो समझना चाहिए कि यह कथन उस वस्तुके निजी स्वरूपकी अपेक्षासे असत् है। धनदत्त अपने पिताकी अपेक्षासे पुत्र है और अपने पुत्रकी अपेक्षासे पिता है, अपनी पत्नीकी अपेक्षासे पति है, अपने शिष्यकी अपेक्षासे गुरु है और गुरुकी अपेक्षासे शिष्य है। यदि हम कहें कि धनदत्त पिता ही है तो यह बात पूर्ण सत्य न होगी। क्योंकि धनदत्त पिता है अवश्य पर पुत्र, पति और गुरु-शिष्य भी तो है। अतः प्रत्येक बातमें हमें वस्तुकी अनेक दशाओंका ध्यान रखना चाहिए। और 'ही' का दुराग्रह छोड़कर 'भी' का सदाग्रह करना चाहिए। इससे हमारी दृष्टिमें विस्तार आता है साथ ही वस्तुकी पूर्णता भी हमारे सम्मुख आती है।

प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है

जैन शब्दसे ही इस धर्मकी व्यापकता स्पष्ट हो जाती है—जयति कर्मशत्रूनिति जिनः अर्थात् जो कर्म शत्रुओंको परास्त कर शुद्ध आत्मस्वरूपका लाभ करता है वह जिन कहलाता है। इसका स्पष्ट आशय है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना शुद्ध आत्मतत्त्व प्राप्त कर जिन बन सकता है। जिन बननेकी प्रत्येक व्यक्तिमें सामर्थ्य है। जिस समय यह सामर्थ्य कर्मोंके आवरणसे पृथक् हो अपने शुद्ध रूपमें प्रकट हो जायेगी उसी समय इस आत्मामें परम विशेषण जुड़ जायेगा अर्थात् यह परमात्मा बन जायेगा। आत्माको स्वयं ही कर्म-बन्धनोंसे अपने पुरुषार्थ-द्वारा पृथक् होना पड़ता है। संसारकी कोई भी शक्ति इसे मुक्त नहीं करा सकती। स्वयं तीर्थंकर भी एक साधारण अवस्थासे धीरे-धीरे विकास करते हुए अन्तमें तीर्थंकर बन पाते हैं। वे मानवसे महामानव तीर्थंकर बनते हैं।

जैन दर्शनका अध्ययन-मनन करते समय हमें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि कोई भी कर्म आत्माको नहीं बाँध सकता और ना ही मुक्त कर

सकता है, क्योंकि आत्मा और कर्मका कोई मेल नहीं है। दोनोंमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि आत्मा चेतन है और कर्म पौद्गलिक, अतः दोनोंके गुण और कार्य-व्यापारमें कोई साम्य नहीं। फिर भी यह आत्मा इन कर्मोंसे ही संसारमें घिरा हुआ है हम ऐसा अनुभव क्यों करते हैं। वास्तवमें अनादि कालसे जीव और कर्म ऐसे मिल गये हैं कि एक-से लगते हैं और हम लोग समझते यही हैं कि कर्म ही जीवको दुःखी करते हैं, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। यह आत्मा ही स्वयंको कर्मोंमें बँधा हुआ मानकर अपनी आत्मशक्तिको भूल बैठता है और अनेक भव धारण करता रहता है। इसकी स्थिति ऐसी हो है जैसे कोई व्यक्ति सड़कपर-से दो मनका पत्थर उठाकर अपने मस्तकपर रख ले और फिर रोना आरम्भ कर दे कि यह पत्थर दुःख दे रहा है। स्पष्ट है कि आत्मा सर्वदा स्वतन्त्र है इसमें परमात्मपदकी पूर्ण सामर्थ्य है। जिस क्षण भी यह कर्मका जुआ उतार फेंकेगा जो वस्तुतः इसपर नहीं है, आरोप मात्र है, उसी क्षण परमात्मपदसे विभूषित हो जायेगा।

ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है

जैन दर्शनमें ईश्वरको सृष्टिकर्ता नहीं माना गया है। किसी अनादि अनन्त परमात्माने इस संसारकी रचना की है ऐसी मान्यता इस धर्ममें नहीं है। यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि संसारका प्रत्येक पदार्थ अपने गुण स्वभावके कारण अनेक अवस्थाओंमें स्वयं परिवर्तित होते हुए भी नित्य है। कोई उसे अन्यथा करनेकी सामर्थ्य नहीं रखता है।

जैन दर्शनके इस संक्षिप्त अध्ययनके पश्चात् अब हम कविवर बनारसीदासजीके साहित्यमें समागत जैन दार्शनिक तत्त्वोंका अध्ययन करेंगे।

पं० बनारसीदासजीकी सम्पूर्ण काव्य-प्रतिभा और उससे समुद्भूत काव्य-कृतियाँ अनेकान्त और अहिंसामूलक हैं यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है। उनका अध्यात्म ग्रन्थ समयसार, बनारसी-विलास और मोह-विवेकयुद्ध तो असन्दिग्ध रूपसे उनकी धार्मिक, आध्यात्मिक एवं अहिंसापरक लगनके फल हैं। उनकी आत्मकथामें भी हम उनका उदार सरल एवं उत्तरोत्तर विकासोन्मुख जीवन देखते हैं — जिसके धरातलमें एक गहरी अपरिग्रही वृत्ति कार्य कर रही है। अत्यन्त उदार भावसे ही कविने दार्शनिक तत्त्वोंकी विवेचना की है। कविवर बनारसीदासजीने यद्यपि जैन दर्शनपर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं रचा तथापि उनकी सम्पूर्ण

कृतियोंमें जैन दर्शनकी अमिट छाप है। कविवर जीव और कर्मोंकी पृथक्ताका निरूपण अत्यन्त मार्मिकतासे करते हैं –

[1]"प्रथम अज्ञानी जीव कहै मैं सदीव एक,
दूसरो न और मैं ही करता करम कौ,
अन्तर विवेक आयो, आपा पर भेद पायो,
भयौ बोध गयौ मिट भारत भरम कौ।
भासे छह द्रव्यन के गुन पर्याय सब,
नाशे दुःख लख्यौ मुख पूरन परम को,
करम को करतार, मान्यो पुद्गल पिंड,
आप करतार भयौ आतम करम को।"

प्रकट है कि पुद्गल-पिण्ड कर्मोंका कर्ता है और आत्मा अपने आत्मधर्म रूप चैतन्य भावोंका कर्ता है।

परवस्तुओंसे पृथक् होनेका उपदेश कितनी भाव-पूर्ण युक्तियों-द्वारा कविवरने किया है – निम्न पद्यमें दर्शनीय है–

[2]"कंचन भण्डार पायरंच न मगन हूजे,
पाय नव यौवना न हूजे जोबना रसी,
काल असि धारा जिन जगत बनाये सोई,
कामिनि कनक मुद्रा दोऊ कों बनारसी।
दोऊ विनासी सरीव तू है अविनासी जीव,
या जगत् कूप बीच ये ही डोब नारसी,
इनकौ तू संग त्याग, कूप सौं निकास भाग,
प्राणी मेरे कहे लाग कहत बनारसी॥"

ईश्वरका सृष्टिकर्तृत्व जैन दर्शनने अस्वीकार किया है उसीकी चर्चा उक्त पद्यमें बड़ी मार्मिकतासे की गयी है।

पं० बनारसीदासजी षड्दर्शनों (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा) को कुछ अन्य प्रकारसे मानते हैं–

[3]"शिव मत बौद्ध रु वेद मत, नैयायिक मत दक्ष।
मीमांसक मत जैन मत, षटदर्शन परतक्ष॥"

---

१. 'बनारसी-विलास' पृ० १९४, सं० पं० कस्तूरचन्द।
२. 'बनारसी-विलास' पृ० १९७, सं० कस्तूरचन्द।
३. 'बनारसी-विलास' पृ० १८६-८७।

अर्थात् शैवमत, बौद्ध मत, वेदान्तमत, न्यायमत, मीमांसक मत और जैन मत। उक्त सभी मतोंकी व्याख्या करते हुए बनारसीदासजी जैन मतके सम्बन्धमें लिखते हैं–

[1]"देव तीर्थंक गुरु यती, आगम केवलि बैन।
धर्म अनन्त नया तमक, जो जानै सो जैन॥"

अर्थात् देव शास्त्र गुरुपर अटूट विश्वास रखते हुए, धर्म अनन्त नयात्मक है ऐसा जानना ही जैन धर्म है। वस्तुके समझनेमें अनेकान्त दृष्टि ही जैन-धर्म है। बनारसीदासजीकी मान्यता है कि उक्त छह सम्प्रदाय ही दर्शनोंके सम्प्रदाय थे। बादमें इनमें-से ही क्रियाकाण्ड आदिके कारण अनेक भेद हो गये–

[2]"ये छह मत छै भेद सों, भये घूट कछु और।
प्रति षोडस पाखण्ड सों, दशा छयानबै और॥"

कविवरकी रचनाओंमें जैन दर्शनके अनेक स्थल हैं जिनमें उक्त दार्शनिक मान्यताका ही विविध प्रकारसे विवेचन है।

पहेली, प्रश्नोत्तर दोहा, उपादान निमित्तकी चिट्ठी आदि रचनाएँ भी दार्शनिक दृष्टिसे ही लिखी गयी हैं।

---

१. 'बनारसी-विलास' पृ० १८६-८७।

२. वही, पृ० १८६-८७।

षष्ठ अध्याय

बनारसीदासमें साहित्यकी विधाओंके रूप और उनका शास्त्रीय अध्ययन

अध्यात्म सन्त कविवर बनारसीदासजीने प्राय: सभी काव्य विधाओंमें रचनाएँ प्रस्तुत कर हिन्दी-माँकी अभूतपूर्व सेवा की है। पद, पद्य, गीत, गीति (उर्मिगीत), महाकाव्य, खण्ड काव्य। जिनमें संवाद सौन्दर्यादि नाटकीय तत्त्वोंकी अनुपम छटा है। कोष, आत्मकथा तथा गद्यमें पत्र एवं दार्शनिक आध्यात्मिक निबन्ध, विविध सुन्दर एवं ससार रचनाएँ आपकी लोकातिशायी काव्य प्रतिभा एवं विद्वत्तासे प्रसूत हुई हैं।

इस अध्यायमें हम पहले कविवरकी सभी रचनाओंको काव्य-विधानुसार वर्गीकृत करेंगे, तत्पश्चात् उनका शास्त्रीय अध्ययन करेंगे।

१. मुक्तक पद, पद्य एवं उर्मिगीत (प्रगीत) या नीति काव्य

अ—'कर्म प्रकृति विधान' और 'जिन सहस्र नाम'को छोड़कर 'बनारसी-विलास'की प्राय: सभी रचनाएँ मुक्तकके विभिन्न रूपोंके अन्तर्गत हो आती हैं।

यथा—१. विभिन्न राग-रागनियोंके पद
२. णान पच्चीसी
३. ध्यान बत्तीसी
४. अध्यातम के गीत
५. कल्याण मन्दिर स्तोत्र
६. निर्णय पंचासिका
७. त्रेसठ शलाका
८. मार्गणा

९. मोक्ष पैड़ी
१०. कर्म छत्तीसी
११. शिव पच्चीसी
१२. भाव सिन्धु चतुर्दशी
१३. सूक्तिमुक्तावली
१४. अध्यात्मबत्तीसी
१५. झूलना (परमार्थ हिंडोलना)
१६. अष्टकगीत (शारदाष्टक)
१७. अवस्थाष्टक
१८. षट्दर्शनाष्टक
१९. साधु वन्दना
२०. षोडश तिथि
२१. तेरह काठिया
२२. पंचपद विधान
२३. सुमति देवी शतक
२४. नवदुर्गाविधान
२५. नाम निर्णय विधान
२६. नवरत्न कवित्त
२७. पूजा
२८. दशदान विधान
२९. दश बोल
३०. पहेली
३१. प्रश्नोत्तर दोहा
३२. प्रश्नोत्तर माला
३३. शान्तिनाथ छन्द
३४. नवसेना विधान
३५. नाटक कवित्त
३६. मिथ्यामत वाणी
३७. गोरखके वचन
३८. वैद्य आदि भेद
३९. निमित्त उपादानके दोहे

इनके अतिरिक्त अनेक फुटकर पद भी हैं। उक्त रचनाएँ तो कई

छन्दोंकी लम्बी-लम्बी मुक्तक रचनाएँ हैं।

२. महाकाव्य (नाटक)	'नाटक समयसार'
३. खण्ड काव्य	१. मोह-विवेकयुद्ध
	२. कर्म प्रकृति विधान
४. कोष	अ बनारसी नाममाला
	ब जिनसहस्रनाम
५. निबन्ध, पत्र	१. उपादान निमित्तकी चिट्ठी
	२. परमार्थ वचनिका
६. आत्मकथा	अर्धकथानक
७. विशाल मुक्तक संग्रह	नवरस पद्यावलि (अप्राप्त)
८. प्रार्थनापरक स्तोत्र साहित्य	१. कल्याणमन्दिर स्तोत्र
	२. अजितनाथके छन्द
	३. जिनसहस्रनाम

फुटकर रूपमें कविवरके प्रार्थनापर कई छन्द प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार बनारसीदासजीने प्रायः सम्पूर्ण काव्य-विधाओंपर सुन्दर एवं ससार रचनाएँ की हैं। इन सभी रचनाओंको लक्षण-ग्रन्थोंकी कसौटीपर भी कसा ही जाना चाहिए क्योंकि इसके बिना इनकी प्रामाणिकता भी अपूर्ण ही रहेगी। छन्द, रस, भाषा, विषय एवं काव्य-कोटिका निर्वाह अत्यन्त सतर्क जागरूक एवं भाव-विभोर होकर ही कविने किया है।

मुक्तक

संस्कृतके लक्षण-ग्रन्थकारोंने काव्यके विभिन्न प्रकारसे भेद-प्रभेद किये हैं। वे सर्वप्रथम काव्यको ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य इन दो भेदोंमें विभक्त करते हैं। प्रसिद्ध लक्षण ग्रन्थकार पं० विश्वनाथ अपने साहित्य दर्पणमें लिखते हैं :–

"काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतं व्यंग्यं चेति द्विधा मतम्।"[1]

अर्थात् ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्यके भेदसे काव्य दो प्रकारका है। [2]काव्य-प्रकाशकारने काव्यके तीन भेद स्वीकार किये हैं—ध्वनिकाव्य, गुणीभूत—व्यंग्य और शब्दचित्र तथा वाच्यचित्रयुक्त काव्योंको क्रमशः उत्तम, मध्यम एवं जघन्य कोटियोंमें रखा गया है। काव्यके ये भेद वास्तवमें

१. 'साहित्य दर्पण' चतुर्थ उल्लास।

२. 'काव्य-प्रकाश', आचार्य मम्मट प्रथम उल्लास।

कथन-चातुर्य एवं अर्थ-गुम्फनकी दृष्टिसे ही किये गये हैं। काव्यका आकार-प्रकार एवं देहगठन कैसा हो, उसका विषय क्या हो इस दृष्टिसे उसके दृश्य एवं श्रव्यके भेदसे दो विधाएँ की गयी हैं।

[1]"दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।"

श्रव्य काव्यके अन्तर्गत आयी हुई मुक्तक रचनाओंपर हम सर्वप्रथम विचार करेंगे—

[2]"छन्दोबद्धं पदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।"

छन्दोबद्ध काव्य पद्य है और यदि वह स्वतन्त्र हो अर्थात् दूसरे पद्योंसे निरपेक्ष हो तो मुक्तक कहा जाता है। बनारसीदासजीकी रचनाओंमें मुक्तक छन्दों—पदोंका भारी मात्रामें प्रणयन हुआ है। प्रणयन-पद्धति और विषय-चयन अत्यन्त मोहक हैं। मुक्तकका प्रत्येक पद स्वतः पूर्ण होता है। इस प्रकारके काव्यमें क्रम-व्यवस्था भी रहती है जैसे तुलसीदासजीकी 'गीतावली' में अथवा सूर-सागरमें, परन्तु इतना निश्चित है कि वे सभी पद एक-दूसरेकी अपेक्षाके बिना भी पढ़े और समझे जा सकते हैं। एक मुक्तकमें एक विचार या एक भावना ही पूर्ण रूपसे व्यक्त हो सकती है। वास्तवमें मुक्तक उद्यानके उन अनेक विकसित पुष्पोंके सदृश हैं जो अपनी-अपनी सुगन्धि विकीर्ण कर रहे हैं और साथ ही सामूहिक गन्ध भी दे रहे हैं। बनारसीदासजीकी मुक्तक रचनाओंपर विचार करनेके पूर्व हमें मुक्तक रचनाके सम्बन्धमें इतना और जान लेना चाहिए कि मुक्तक पाठ्य और गेय दो प्रकारके होते हैं। [3] "मुक्तकोंका विभाजन हमने पाठ्य और गेय रूपमें किया है किन्तु इन दोनोंके बीचकी रेखा बड़ी सूक्ष्म और अस्थिर है। पाठ्य-सामग्री भी गेय हो जाती है, किन्तु कुछ पद या छन्द ऐसे होते है जो विशेष रूपसे गेय होते हैं। गेय और पाठ्य यह बात तो ऊपरी आकारसे सम्बन्ध रखती है किन्तु अब यह भेद कुछ विषयी प्रधानता और विषय प्रधानतामें परिणत हो गया है। गेयमें निजी भावातिरेककी मात्रा कुछ अधिक रहती है और पाठ्यमें कवि बातको एक निरपेक्ष द्रष्टा या वकीलके रूपमें कहता है। पाठ्य मुक्तक प्रायः सूक्तियोंके रूपमें आते हैं। ऐसे मुक्तक प्रायः नीति-विषयक, शृंगारविषयक और वीरताविषयक होते

---

१. 'साहित्य दर्पण', षष्ठ परि०। १।

२. वही, ,, ३१४।

३. 'काव्यके रूप', पृ० १२०, डॉ० गुलाबराय।

हैं। नीतिके मुक्तकोंमें सबसे अधिक विषय-प्रधानता रहती है। गोस्वामी-जीकी दोहावली, कबीर, रहीम, वृन्द आदिके दोहे भक्ति और नीतिके पाठ्य मुक्तकोंके अच्छे उदाहरण हैं। गिरधरकी कुण्डलियाँ और दीनदयालकी अन्योक्तियाँ भी इसी कोटिमें आयेंगी। 'हाल' सप्तशती, बिहारी सतसई, दुलारे-दोहावली शृंगारपरक मुक्तकोंके अच्छे उदाहरण हैं। यद्यपि इनमें और विषय भी हैं। वियोगीहरिकी वीरसतसईमें वीररसके दोहे हैं।

प्रगति, गति अथवा गीति काव्य गेय मुक्तकके रूपमें आते हैं। अँगरेजी-में इसी गीतिको लिरिक कहते हैं। लिरिक शब्दका सम्बन्ध वीणाके सदृश वाद्यसे है। गेय पदोंमें भावोत्कर्ष और भावातिरेक व्यक्तिगत अनुभूतिके साथ अधिक रहता है। इन पदोंमें निजीपनकी मात्रा ही प्रधान गुण है। [1]"भावातिरेकके लिए बहाव चाहिए, वह साधारण पद्यमें रुक-सा जाता है किन्तु गीतलहरीमें तरंगित होकर बह उठता है। संगीत आदि उसका शरीर है तो निजी भावातिरेक उसकी आत्मा है।" कविवर बनारसीदासजीके पाठ्य और गेय दोनों प्रकारके हैं। उनकी सूक्ति-मुक्तावली और दोहे तथा चौपाइयाँ जो फुटकर रूपमें लिखी गयी हैं पाठभेदमें ही आयेंगी। 'बनारसी-विलास' में अनेक पद ऐसे हैं जिन्हें मुक्तककी गेय-विधाके अन्तर्गत ही रखा जायेगा। स्पष्ट है कि विषय-प्रधान और विषयीप्रधान दोनों प्रकारकी मुक्तक रचनाएँ बनारसीदासजी-ने की हैं। विषयप्रधान मुक्तकोंका आधिक्य है। धर्म, नीति और आचार-परक चर्चा ऐसे मुक्तकोंमें अधिक हुई है और प्रायः होता भी यही है। ऐसे मुक्तक कवित्त, सवैया, सोरठा, दोहा, चौपाई, अडिल्ला आदि छन्दोंमें ही रचे गये हैं। इन विषयप्रधान मुक्तकोंमें व्यक्तिगत भावातिरेक एवं अकथ शालीनता सर्वत्र स्पष्ट रूपेण दृष्टिगोचर होती है। बनारसीदासजीके मुक्तकोंकी मूल भावना उनका समष्टिका अनुभव निजीपनके साथ व्यक्त होनेमें देखे जा सकते हैं। समाजगत भावोंका चित्रण व्यक्तिगत भावुक हिलोरके साथ पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है। मनुष्यका वास्तविक सुख उसके अन्तस्के सन्तोषमें है बाह्य भौतिक आकर्षणमें नहीं—

[2]"रे मन कर सदा सन्तोष।
जाते मिटत सब दुख दोष। रे मन०।

---

१. 'काव्यके रूप', पृ० १२१, डॉ० गुलाबराय।

२. 'बनारसी-विलास', पृ० २२८, सं० पं० कस्तूरचन्द कासलीवाल।

बढ़त परिग्रह, मोह बाढ़त, अधिक तृषना होति।
बहुत ईंधन जरत जैसें, अगनि ऊँची जोति।
लोभ लालच मूढ़ जन सौ, कहत कंचन दान।
फिरत आरत नहि बिचारत, धरम धन की हान।
नारकिन के पाइ सेवत, सकुच मानत संक,
ज्ञान करि बूझै बनारसि, को नृपति को रंक ॥रे मन० ॥"

उक्त आसावरी रागमें प्रतिभाभिराम कविने समष्टिमें प्रचलित मिथ्या आकर्षणकी निस्सारता और आत्मतत्त्वकी सर्वोपरि प्रतिष्ठाका अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। वास्तवमें चित्तकी अस्थिरता समस्त दुःखोंकी जड़ है और मनकी सन्तोषप्रधान सन्तुलित अवस्था उत्कृष्टतम शाश्वत सुखकी निर्मल क्रीडाभूमि है। समाजके जन-जनकी मनोवृत्ति और तदनुकूल आत्मानुभूतिके साथ कविका मौलिक सन्देश हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है। प्रगीतात्मकता भी कविमें स्पष्ट झलकती है। प्रगीतिमें कवि जो कुछ भी कहता है अपनी निजी अन्तर्दृष्टिसे कहता है। उसके इस निजीपनमें रागात्मकताकी भरपूर मात्रा रहती है। प्रगीति वास्तवमें कविकी व्यक्तिगत प्रबल अनुभूतिका रागात्मक आवेगमय एवं मधुर अभिव्यक्ति है। यह निजीपन इतनी निर्मल कोटिका होता है कि पाठक और गायक भी उसमें क्षण मात्रमें तादात्म्यका अनुभव करते हैं। तल्लीनता गीतिका प्रधान गुण है।

[1]"चेतन तूं तिहुंकाल अकेला,
नदी-नाव संजोग मिलै ज्यों, त्यों कुटुम्ब का मेला,
यह संसार असार रूप सब, ज्यों पट पेखन खेला,
सुख संपति शरीर जल बुद्‌बुद, विनशत नाहीं बेला,
मोह मगन आतम गुन भूलत, परी तोहि गल जेला। चेतन०"

तथा—

[2]"मगन ह्वै आराधो साधो, अकथ पुरुष प्रभु ऐसा।
जहाँ जहाँ जिस रस सौं राचैं, तहाँ तहाँ तिस भेसा। मगन ह्वै० ॥"
इत्यादि

१. 'बनारसी-विलास' पृ० २२२।
२. 'बनारसी-विलास', पृ० २२२, सं० पं० कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम० ए०।

तथा—

"या चेतन की सब सुधि गई।[1]
व्यापत मोहि विकलता भई।। या चेतन०।।
है जड़ रूप अपावन देह।
ता सौं राखै परम सनेह।।
आइ मिले जन स्वारथ बंध।
तिनहि कुटुम्ब कहै जा बंध।। इत्यादि।।"

कविकी रचनाओंमें ऐसे अनेक पद हैं जिनमें जीवकी विविध अवस्थाओंका अत्यन्त मार्मिक चित्रण हुआ है। यह दुःख सामान्य भाव-भूमिपर आकर प्राणिमात्रका हो जाता है। समष्टिमें व्यष्टिके भावोंका इस दशामें तादात्म्य हो जाता है। व्यक्तिका अत्यन्त सात्त्विक एवं पावन चिन्तन निसर्गतः प्रत्येकका अपना चिन्तन हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बनारसीदासजीमें समाजगत भाव अत्यन्त आत्मसात् होकर ही प्रकट हुए हैं। उनका अध्ययन, देशाटन और गुरूपदेश और स्वानुभव भी स्पष्ट रूपेण उनकी कृतियोंमें झलकते हैं। प्रगीत काव्यके सभी तत्त्व कविवरके मुक्तकोंमें अपनी पूर्णतासे समलंकृत दृष्टिगोचर होते हैं। उक्त पदोंमें उपदेशात्मक दृष्टिकी भी झलक मिलती है। संगीतात्मकता और तदनुकूल सरस एवं मार्मिक शब्दोंका चयन, आत्मिक रागतत्त्व, संक्षिप्तता एवं भावकी एकसूत्रता आदि सम्पूर्ण तत्त्व कविवरके मुक्तकोंको प्रगीतिकी उच्चकोटिमें पहुँचा देते हैं। प्रगीतिमें अन्तःप्रेरणाकी मात्रा सर्वाधिक होती है अतः श्रमसाध्यता स्वयमेव वहाँ अवसर नहीं पाती।

आत्मनिवेदनकी भी एक अनुपम छटा गीतिमें सन्निहित रहती है। कविको संसारसे कोई प्रयोजन नहीं है। वह स्वयंकी बात स्वयंके लिए अत्यन्त भाव-विह्वल एवं आत्मविस्मृत-सा होकर सुनाता है। प्रस्तुत पदमें कविके आत्म-निरीक्षण और संसारके कटु अनुभवका हृदयद्रावक चित्रण दर्शनीय है—

"दुविधा[2] कब जै है या मन की।
कब जिननाथ निरंजन सुमिरौं, तजि सेवा जन-जन की। दुविधा०।

---

१. 'बनारसी-विलास', पृ० २२३।
२. वही, पृ० २३१, सं० पं० कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम० ए०।

कब रुचि सौं पीवें दृग चातक, बूँद अखयबद घन की।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि, करूँ न ममता तन की॥ दुविधा०।
कब घट अन्तर रहै निरन्तर, दिढ़ता सुगुरु बचन की।
कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धन की॥ दुविधा०।
कब घर छाँड़ होहुँ एकाकी, लिये लालसा बन की।
ऐसी दशा होय कब मेरी, हौं बलिबलि वा छन की॥ दुविधा०।"

उक्त पदमें भाव-सबलता, भाषा-सारल्य, संगीतात्मकता एवं अन्तः-प्रेरित एक स्वयंकी हूक एवं संक्षिप्तता आदि सभी विशेषताओंका अनुपम संगम है।

यद्यपि गीतिमें ही प्रगीति अपनी पूर्णतासे निखरता है, परन्तु सवैया, कवित्त एवं अडिल्ल आदि भी अच्छे गायक-द्वारा सुन्दर पद्धतिसे गाये ही जाते हैं, अतः इनमे भी गीतिका-सा आनन्द आता ही है। शब्दोंकी ध्वन्यात्मकता भी गीतिको कम आकर्षण प्रदान नहीं करती। जितनी तीव्र अनुभूति एवं वैयक्तिकता होगी उतना ही हृदयद्रावक गीतिकाव्य लिखा जा सकेगा। मान्या महादेवी वर्मा लिखती हैं—[1]"साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमामें तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूतिका वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकतासे गेय हो सके।"

सुपाठ्य मुक्तकोंकी रचनामें भी बनारसीदासजी अपने समकालीन कवियों, तुलसी, रहीम तथा केशवसे किसी प्रकार पीछे नहीं रहते। हिंसाकी गर्हणा करते हुए कवि एक सुन्दर मुक्तक-सवैया लिखते हैं—

[2]"अगनि में जैसे अरविन्द न विलोकियत,
सूर अथवत जैसे बासर न मानिए,
साँप के वदन जैसे अमृत न उपजत,
कालकूट खाये जैसे जीवन न जानिए।"
कलह करत नहिं पाइए सुजस जैसे,
बाढ़त रसांस, रोग नाश न बखानिए,
प्राणी बध माँहि जैसे धर्म की निशानी नांहि,
याही से बनारसी विवेक मन आनिए॥"

---

१. 'आधुनिक कवि' भूमिका ले० महादेवी वर्मा।
२. 'सूक्ति-मुक्तावली' 'बनारसी-विलास' छन्द २७।

इस पदमें कविने हिंसाके प्रति समाजमें प्रचलित घृणात्मक भावनाका चित्रण कुछ प्रभावक उदाहरणों-द्वारा किया है। हिंसाके प्रति समाजगत भावनाको कविने पूर्णतया आत्मसात् कर ही चित्रित किया है। जबतक कविमें गागरमें सागर भरनेकी अर्हता नहीं है, सामाजिकतापर उसका अधिकार नहीं है तबतक वह कुशल मुक्तककार नहीं हो सकता। बनारसीदासजीमें बड़ीसे बड़ी बात संक्षेपमें और पूर्ण अभिव्यक्तिके साथ कहनेकी अपार सामर्थ्य है। उनका सन्त स्वभावका चित्रण देखिए—

[1]"बरु अहि बदन हत्थ निज डारहि, अगनि कुंडमें तन पर जारहि।
दारहि उदर करहि विष भक्षन, पै दुष्टता न गहहि विचक्षन॥"

सज्जन व्यक्ति सभी प्रकारकी घातक आपत्तियोंको सह लेते हैं परन्तु अपना उदारतापूर्ण साधु हृदय कदापि नहीं बदलते।

दुराचारपूर्वक प्राप्त राज्य भी सज्जनोंको सर्वथा त्याज्य है इस सम्बन्ध में कविवरका भावपूर्ण मुक्तक द्रष्टव्य है। दुराचारके प्रति समष्टिगत भावनाका चित्रण बड़ी मार्मिकतासे हुआ है—

[2]"बरु दरिद्रता होउ करत सज्जन कला,
दुराचार सों मिलै राज, सो नहि भला,
ज्यों शरीर कृष सहज सुशोभा देत है,
सूजी थूलता बढ़ै मरण कौ हेत है।"

इसी प्रकारके अनेक मुक्तक रत्न कविवरकी रचनाओंकी शाश्वत सौन्दर्य-वृद्धि कर रहे हैं।

बनारसीदासजीकी 'ज्ञान बावनी, अध्यात्म बत्तीसी, साधुवन्दना, भवसिन्धु चतुर्दशी' आदि लम्बी रचनाएँ भी मुक्तक ही कही जा सकती हैं। इन रचनाओंके सभी छन्द स्वतन्त्र रूपसे पूर्ण रसास्वादनके साथ पढ़े और गाये जा सकते हैं। इन रचनाओंका प्रत्येक छन्द अपने शीर्षकके साथ भी है और पूर्णतया स्वतन्त्र भी।

अध्यात्म बत्तीसी—

[3]"ज्ञान लेश सोहै सुमति, लखै मुकति की लीक।
निरखै अन्तर्दृष्टि सौं, देव धर्म गुरु ठीक॥२८॥

१. सज्जनाधिकार। बनारसी-विलास। ६१।

२. वहीं, छ० ६१।

३. 'अध्यात्मबत्तीसी', दो० २८–३०।

ज्यों सुपरीक्षित जौहरी, काच डाक मणि लेय।
त्यों सुबुद्धि मारग गहै, देव धर्म गुरु सेय ॥२९॥
दर्शन चारित ज्ञान गुण, देव धर्म गुरु शुद्ध।
परखै आतम सम्पदा, तजै सनेह विरुद्ध ॥३०॥"

अध्यात्म बत्तीसीके ये तीनों दोहे यद्यपि अध्यात्मके विषयमें कहे गये हैं, परन्तु वे बिना किसी पूर्वापर सम्बन्धकी अपेक्षाके स्वतन्त्र रूपसे भी पढ़े और पूर्णतया समझे जा सकते हैं।

ज्ञानबावनी—

[1]"धुंधवाड ह्वै भयौ, शुद्धता बिसरि गयौ,
परगुण रंगि रह्यौ, परहरि को रुखिया।
निज निधि निकट, विकट भई नैन बिन,
क्षणक में सुखी ता में क्षणक में दुखिया ॥
समकित जाल बिना, तृषित अनादि काल,
विषय कषाय वन्हि, भरण में धुखिया।
बनारसीदास जिन रीति विपरीति जाके,
मेरे जाने ते तौ नर मूढ़न में सुखिया ॥"

ज्ञानके बिना संसारमें मनुष्य स्व-परका भेद भी नहीं कर पाता फलत: आत्म-स्वरूपका नित्यानन्द इसे कदापि प्राप्त नहीं होता। इसी भाँति कविवरकी अनेक रचनाओंके उद्धरण दिये जा सकते हैं।

गीत काव्य अर्थात् मुक्तकके प्रकारों और इतिहासकी तो एक लम्बी गाथा है। अभीतक साहित्यिक गीतोंकी ही चर्चा हुई है। इन विधाओंमें ही कविवर बनारसीदासजीने रचनाएँ की हैं। लोक-गीतोंका भी प्रचुर मात्रामें महत्त्व है। प्रत्येक प्रान्तके लोकगीत प्रचलित ही हैं। ये गीत जन-सामान्यके भावोंको लेकर उठते हैं अत: अत्यन्त लोकप्रिय होते हैं। होली, बरसात, विवाह, जन्मोत्सव आदिपर गाये जाते हैं। बनारसीदासजीकी रचनाओंमें ऐसे गीतोंका समावेश नहीं हो सका है, हाँ आपने अध्यात्मप्रधान होली आदिपर अवश्य ही मुक्तक रचे हैं।

आज तो हमारे मुक्तकोंपर अँगरेजीकी विविध मुक्तक धाराओंकी स्पष्ट छायाके दर्शन होते हैं। कविवर बनारसीदासजीके समयमें गीतके इतने रूप

---

१. 'ज्ञान बावनी'–५।

न थे। अँगरेजीके मुक्तक रूप कई हैं—१ सानेट (अर्थात् चतुर्दशपदी), २ ओड (अर्थात् सम्बोधन गीत), ३ एलेजी (शोकगीत), ४ सेटा-इर (व्यंग्यगीत), ५ रिफ़्लेक्टिव (विचारात्मक), ६ डाइडेक्ट (उप-देशात्मक)। इन सभी गीत-विधाओंमें वैयक्तिक भावोंका चित्रण बड़ी सुगमतासे हुआ है। इनमें-से सानेटमें तो आकारकी प्रधानता है और सबमें विषयका प्राधान्य है। इन सभी प्रकारोंका अनुकरण आधुनिक युगके प्रति-ष्ठित हिन्दी कवियोंने बड़ी निपुणतासे किया है।

इतिहासकी दृष्टिसे गीत-परम्पराके बीज हमें सर्वप्रथम सामवेदमें प्राप्त होते हैं। यह वेद तो गीतप्रधान ही है। संस्कृत साहित्यमें भी मुक्तकोंकी एक विस्तृत परम्परा रही है। हिन्दीमें विद्यापति, सूर और मीराके गीत-पद विख्यात ही हैं। कविवर बनारसीदासजीके पद और मुक्तक भी इसी पूर्व परम्परामें एक स्वर्णिम अध्याय जोड़ते हैं।

नवरस पद्यावलि जो एक सहस्र छन्दोंमें निर्मित हुई थी, यदि आज उपलब्ध होती तो वह भी एक अनुपम मुक्तक-निधि होती।

महाकाव्य

जहाँतक शास्त्रीय पद्धतिसे रचित किसी महाकाव्यकी बात है, बना-रसीदासजीने नहीं लिखा। महाकाव्यकी मर्यादाओंमें निभनेवाला व्यक्तित्व भी सम्भवतः उन्हें प्राप्त न था। वे प्रत्येक शब्द पंक्ति और छन्दमें सदैव स्वतन्त्र अभिव्यक्ति चाहते थे और यह कार्य मुक्तक रचनाओंमें ही सम्भव था। यही कारण है कि स्वतन्त्रचेता बनारसीदासजीने प्रायः अपनी सम्पूर्ण कृतियोंमें (आत्मकथा एवं नाममालाको छोड़कर) निजी मुक्तककी प्रवृत्ति-को जीवित रखा है।

'नाटक समयसार' एक ऐसी कृति है जिसपर शास्त्रीय पद्धतिसे यदि विचार किया जाये तो वह किसी भी प्रकारसे महानाटक अथवा नाटक नहीं कहा जा सकता। लक्षणग्रन्थकारोंने नाटककी व्याख्या की है उसके अनुसार 'समयसार'की कुछ भी स्थिति नहीं ठहरती। आचार्योंने प्रारम्भ-में ही काव्यके दृश्य और श्रव्य रूपमें दो भेद किये हैं।

[1] "दृश्य-श्रव्यत्वभेदेन काव्यं पुनः द्विधा मतम् ॥"

---

१. 'साहित्य दर्पण' षष्ठ परिच्छेद पद्य १, ले० आचार्य विश्वनाथ।

इन दो भेदोंके पश्चात् आचार्य विश्वनाथ दृश्यकाव्यमें अभिनयकी मुख्यता घोषित करते हुए लिखते हैं—[1]'दृश्यं तत्राभिनेयं'

अभिनय वास्तवमें दृश्य काव्यका प्राण ही है। समयसार-जैसी भावात्मक कृतिका अभिनय किसी भी प्रकारसे सम्भव नहीं है। प्रसिद्ध लक्षण ग्रन्थोंमें नाटकको सम्पूर्ण विशेषताओंकी चर्चा की गयी है। आचार्य विश्वनाथ अपने साहित्यदर्पणमें स्पष्ट लिखते हैं,[2] "नाटकका वृत्त (कथा) ख्यात होना चाहिए, अर्थात् इतिहासादिमें प्रसिद्ध होना चाहिए जो कथा केवल कवि-कल्पित है, इतिहास सिद्ध नहीं है वह नाटक नहीं हो सकती। नाटकमें विलास समृद्धि आदि अनेक गुण तथा अनेक प्रकारके ऐश्वर्योंका वर्णन होना चाहिए। सुख और दुःखकी उत्पत्ति दिखाई जाये साथ ही अनेक रसोंसे पूर्ण होना चाहिए। इसमें पाँचसे लेकर दश तक अंक होते हैं। पुराणादि प्रसिद्ध वंशमें उत्पन्न धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्यातिदिव्य पुरुष नाटकका नायक होता है। शृंगार या वीर रसमें-से कोई एक प्रधान रहता है अन्य सब रस अंगभूत रहते हैं। इसे निर्वहण सन्धिमें अत्यन्त अद्भुत बनाना चाहिए। इसमें चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्यके साधनमें संलग्न रहना चाहिए। गोकी पूँछके अग्रभागके समान इसकी रचना होनी चाहिए। अंकमें नायकका चरित प्रत्यक्ष रस और भावपूर्ण होना चाहिए। गूढ़ार्थक शब्द न हो। छोटे-छोटे चूर्णक (समासरहित गद्य) होना चाहिए। अंकमें अवान्तर कार्य तो पूर्ण हो जाना चाहिए किन्तु बिन्दु कुछ लगा रहना चाहिए—अर्थात् प्रधान कथाकी समाप्ति न होनी चाहिए। बहुत कार्योंसे युक्त न हो और बीजका उपसंहार न हो। अनेक प्रकारके संविधान हों किन्तु पद्य बहुत न हों। सन्ध्या-वन्दनादि आवश्यक कार्योंका विरोध न होना चाहिए। जो कथा कई दिनोंमें सिद्ध हुई हो उसे एक ही अंकमें न कहना चाहिए। नायक सदा तीन-चार पात्रोंसे युक्त रहना चाहिए। दूरसे आह्वान, वध, युद्ध, राज्य-विप्लव, देश-विप्लव आदि, विवाह,

---

१. 'साहित्यदर्पण' षष्ठ परिच्छेद पद्य १, ले० आचार्य विश्वनाथ।

२. 'साहित्यदर्पण' षष्ठ परिच्छेद विश्वनाथ,

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्।
विलासर्द्ध्यादि गुणवद् युक्तं नानाविभूतिभिः॥
सुखदुःखसमुद्भूति, नानारसनिरन्तरम्।
पञ्चादिकाः दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः॥ इत्यादि ७–१९॥

भोजन, शाप, मलत्याग, मृत्यु, रमण, दन्तक्षत, नखक्षत तथा शयन, अधर-पानादिक लज्जाकारी कार्य एवं नगरादिका घिराव, स्नान, चन्दनादि लेपन इनसे रहित हो, अतिविस्तृत न हो। देवी (रानी) और उसके परिजन एवं मन्त्री वैश्य आदिकोंके भावपूर्ण और रसपूर्ण चरित्रोंसे युक्त होना चाहिए।" इत्यादि जितनी भी नाटक और अंककी आवश्यक बातोंका निर्देशन लक्षण ग्रन्थकारने किया है उनका 'नाटक समयसार'-में प्रायः सर्वथा अभाव है। अतः शास्त्रीय दृष्टिसे हम कविवर बनारसी-दासकी इस कृतिको नाटक कदापि नहीं कह सकते। वास्तवमें बात कुछ और ही है। बनारसीदास-जैसे उद्‌भट विद्वान् एवं कवि-द्वारा ऐसी भूल कैसे सम्भव थी कि वे एक महानाटक रचते और उसके सभी आव-श्यक तत्त्वोंकी उपेक्षा कर जाते। उन्होंने 'समयसार' को शास्त्रीय दृश्यकाव्यकी दृष्टिसे कदापि नहीं लिखा। इस अध्यात्म-प्रधान कृतिमें कविने जीवकी संसार दशाओंका नाटकीय ढंगसे चित्रण किया है। सम्पूर्ण कृति पद्य-बद्ध है। अतः स्पष्ट है कि जब कविने नाटककी दृष्टिसे उक्त रचना की ही नहीं है तो उसपर शास्त्रीय दृष्टिसे विचार करना व्यर्थ ही है। उक्त सभी नाटकीय तत्त्व तभी उपयुक्त होता जब कि हम उसे नाटक मान-कर चलते।

वस्तुतः नाटक समयसार जीवकी आद्यन्त व्याख्या करनेवाला एक विशाल-काय महाकाव्यकी कोटिमें आ सकता है। हिन्दी-जगत्‌में अध्या-त्मकी यह अनोखी रचना है। यद्यपि शास्त्रीय कसौटीके कठघरेमें रखकर हम इसे पूर्णतया महाकाव्य नहीं कह सकते। लक्षणकी दृष्टिसे इसमें बहुत-सी स्खलनाएँ और न्यूनताएँ प्राप्त हो जायेंगी। महाकाव्यके शास्त्रीय लक्षण संक्षेपमें ये हैं—[1] १. यह सर्गोंमें बँधा हुआ होता है। २. इसमें एक नायक रहता है जो देवता या उत्तम वंशका होता है, धीरोदात्त गुणोंसे युक्त होता है। एक वंशके अनेक नृपति भी हो सकते हैं। ३. शृंगार, वीर और शान्त रसोंमें-से कोई एक रस अंगीरूपसे रहता है नाटककी सब सन्धियाँ होती हैं। शेष सब रस अंग रूपसे रहते हैं। ४. इसका वृत्तान्त इतिहास-प्रसिद्ध होता है अथवा सज्जनाश्रित। ५. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्गमें-से एक उसका फल होता है। ६. आरम्भमें आशीर्वाद या नमस्कार (मंगला-चरण) या वस्तुनिर्देश होता है। कहीं-कहीं दुष्टोंकी निन्दा और सज्जनोंका

---

१. 'साहित्य दर्पण' षष्ठ सर्ग : ३१५-३२४।

गुण-कीर्तन रहता है। ७. एक सर्गमें एक ही वृत्त रहता है, किन्तु सर्गका अन्तिम पद्य भिन्न छन्दका होता है। सामान्यतया कमसे कम आठ सर्ग होना आवश्यक है। कहीं-कहीं सर्गमें अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्गान्तमें भावी सर्गकी सूचना रहती है। ८ महाकाव्यमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष (रजनी-मुख), अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु (छहों), वन, समुद्र, सम्भोग, वियोग, मुनि, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदिका यथासम्भव सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। ९. इसका नाम कविके नामसे (जैसे माघ) या चरित्रके नामसे (जैसे कुमारसम्भव) अथवा चरित्रनायकके नामसे (जैसे रघुवंश) होना चाहिए। कहीं-कहीं इनके अतिरिक्त भी नामकरण होता है।

कविवर बनारसीदासजीके 'समयसार'से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि इसका प्रारम्भ उन्होंने शास्त्रीय पद्धतिके अनुकूल एक महाकाव्य रचनेकी दृष्टिसे कदापि नहीं किया था और न ऐसा सम्भव ही था। आचार्य कुन्द-कुन्दके 'समयसार'के आधारपर ही वे चले थे, उसका भावानुवाद उन्होंने प्रस्तुत किया था अतः किसी विशिष्ट उलट-फेरकी जो महाकाव्यका अक्ष-रशः वातावरण प्रस्तुत कर दे सम्भावना न थी। जायसी, तुलसी और केशवने अपने काव्योंकी रचना पूर्व संकल्पसे की थी अतः उन्होंने आद्यन्त शास्त्रीय दृष्टिका यथासम्भव निर्वाह किया है। बनारसीदासजी आत्मामें ही परमात्माके दर्शन करना चाहते थे अतः किसी अवतारी पुरुषकी अथवा किसी व्यक्ति-विशेषकी एक विशालकाय महाकाव्यमें चर्चा करके वे स्वतः आत्मपरक मूल-प्रवृत्तिको भुला न सकते थे। आत्मतत्त्व उनकी चर्चाका विषय था जो घटनाप्रधान लौकिक काव्यका विषय न बन सकता था। यद्यपि कविवरका संकल्प एक महाकाव्यका न था फिर भी 'समयसार'में हम महाकाव्यकी एक विस्तृत एवं निराली प्राणप्रतिष्ठा देखते हैं – प्रारम्भमें इष्टदेवका नमस्कार, सुकवि-कुकविके रूपमें सज्जन-दुर्जनकी चर्चा आदि। ग्रन्थका विषय अनादि कालसे ही घट-घटके इतिहासका विषय जीवात्मा है। यह सज्जनाश्रित है ही। शान्त रसका प्राधान्य है। सभी पुरुषार्थोंकी यथाव-सर गौणरूपमें (हेय रूपमें, चर्चा करके मोक्ष पुरुषार्थ ही जीवका लक्ष्य है इस बातका प्रतिपादन किया है। छन्द आदिका बन्धन कविने स्वीकार नहीं किया है। जो छन्द जिस स्थलपर भाव-प्रकाशनके अनुरूप लगा उसीका उपयोग किया है। पद्मावत, मानस, रामचन्द्रिका, कामायनी,

साकेत, प्रियप्रवास आदिमें भी किसी एक छन्दपर निश्चित रूपसे कवि नहीं चले हैं। कई प्रकारके छन्दोंका प्रयोग एक ही सर्गमें हो गया है फिर भी उक्त ग्रन्थोंके काव्यत्वको सभी स्वीकार करते हैं। आधुनिक काव्योंमें गीतादिक भी बीच-बीचमें आ गये हैं। जहाँतक सर्गोंका प्रश्न है इसमें अनेक हैं–१ जीवद्वार, २ अजीवद्वार, ३ कर्ताकर्मक्रियाद्वार, ४ पुण्यपाप-एकत्व द्वार, ५ आस्रव अधिकार, ६ संवरद्वार, ७ निर्जराद्वार, ८ बन्धद्वार, ९ मोक्षद्वार, १० सर्वविशुद्वार, ११ स्याद्वादद्वार, १२ साध्य-साधकद्वार, १३ चतुर्दश गुणस्थानाधिकार। ये सभी द्वार एवं अधिकार सर्ग रूप ही समझना चाहिए। इन सभीमें जीवतत्त्वके क्रमिक विकाससे चरम विकास तकका अत्यन्त विशद विवेचन है। सम्पूर्ण पद्य ७२७ हैं। यदि ३२ अक्षरके श्लोकोंका लेखा लगाया जाये तो १७०७ पद्य बैठते हैं। इस प्रकार काया और विषय-ऐक्यकी दृष्टिसे भी समयसार एक महाकाव्य ही ठहरता है। इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, विवाह, संयोग, वियोग, यात्रा अदिका वर्णन नहीं है। इन सबका वर्णन भी तभी सम्भव था जब किसी लौकिक स्थूल विषयकी चर्चा होती। अध्यात्म-जैसे गम्भीर विषयमें इनकी सम्भावना नहीं हो सकती। इस काव्यका नामकरण भी विषयके आधारपर ही हुआ है। इस प्रबन्ध काव्य 'समयसार'में शास्त्रीय मर्यादाओंका पूर्ण पालन तो नहीं हो सका है जो कविका उद्देश्य भी न था फिर भी विषयकी आद्यन्त एकरसात्मकता, प्रवाह एवं काव्यकी विशालताको दृष्टिमें रखकर उसे एक महाकाव्य कहा जा सकता है, "महाकाव्य आकार-प्रकारमें बड़ा होता है। उसके साथ उसकी शैली और उसका विषय दोनों ही गौरवपूर्ण होते हैं। महाकाव्य जातिकी सांस्कृतिक चेतनाका द्योतक होता है।"[1] 'समयसार'में आकार-प्रकारकी विशालता, शैलीका सौष्ठव और हमारी अध्यात्म-प्रधान सांस्कृतिक चेतनाके स्पष्ट दर्शन होते हैं। क्या प्राचीन और क्या अर्वाचीन सभी प्रकारके काव्योंमें शास्त्रीयताका पूर्ण पालन नहीं हो सका है और जहाँ श्रमसाध्य प्रयत्न किया गया है वहाँ कथाकी गति और शैलीकी सरसतामें भारी बाधा उपस्थित हुई है। महाकाव्यकारके सम्मुख एक महान् आदर्श-काव्यकी रचनाका प्रश्न होता है अतः वह उस आदर्शमें इतना निमग्न हो जाता है कि सन्ध्या, चन्द्रमा, सूर्य, रजनीमुख आदिका वर्णन उसके सम्मुख कोई महत्त्व

---

१. 'काव्यके रूप' पृ० ९५, गुलाबराय एम० ए०।

नहीं रखता । यही कारण है कि आज प्राचीन मान्यताको उतनी दृढ़तासे महत्त्व नहीं दिया जा रहा है । [1]"महाकाव्योंके प्राचीन और वर्तमान आदर्शोंमें थोड़ा-बहुत अन्तर पड़ गया है । अब मंगलाचरण इत्यादिकी आवश्यकता नहीं समझी जाती और न किन्हीं मांगल्यसूचक शब्दोंका रखना नितान्त आवश्यक है । गुप्तजीने साकेतके प्रत्येक सर्गमें मंगलाचरण किया है । प्राचीन कालमें भी इस नियमका बहुत कड़ाईके साथ पालन नहीं होता था । 'कुमारसम्भव'में कोई मंगलाचरण नहीं है । उसमें हिमालयका वर्णन अवश्य है जो विशालताका द्योतक है । कुमारसम्भव पूर्ण नहीं हुआ, चाहे देवताओंके शृंगारके दोषके कारण हो और चाहे मंगलाचरणके अभाव-के कारण हो । प्रियप्रवासका आरम्भ दिवसके अवसानसे होता है ।

"दिवस का अवसान समीप था,
गगन का कुछ लोहित हो चला ।" इत्यादि

केवल इसीलिए हम उनको निन्दनीय नहीं कहेंगे । आजकल नायक-के सम्बन्धमें भी थोड़ी शिथिलता आ गयी है । कामायनीमें नायक तो मनु है किन्तु प्राधान्य श्रद्धाका है । नायक शब्दमें नायिका भी शामिल की जा सकती है ।" प्रसिद्ध काव्य 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र' और 'साकेत'में शास्त्रीय दृष्टिसे और भी शिथिलता मिल जायेगी परन्तु उनकी लोकप्रियता और महान् सन्देशमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं आ सकती । 'समयसार'के सर्वतोमुखी सौष्ठवपर यदि ध्यान दिया जाये तो निश्चित ही वह संसारके श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्यों (महाकाव्यों)की कोटिमें रखा जायेगा । बनारसीदास-जीमें कहीं भी भावहीनता, भाषा-शैथिल्य अथवा शैलीकी अव्यवस्थित धारा नहीं मिलेगी । 'समयसार'का मंगलाचरण ही उनकी प्रतिभा और विद्वत्ताका सम्मिलित परिचय देनेमें सर्वथा समर्थ है ।

[2]"करम भरम जग तिमिर हरन-खग
उरग-लखन पग सिव मग दरसी,
निरखत नयन भविक जल बरखत,
हरखत अमित भविक जन सरसी ।
मदन कदन जित परम धरम हित,
सुमिरत भगति भगति सब डरसी,

१. वही, पृ० ६६ ।
२. 'समयसार' मंगलाचरण, रच० पं० बनारसीदासजी ।

सजल जलद तन मुकुट सपत फन,
कमठ दलन जिन नमत बनरसी ॥"

प्रस्तुत पदमें कविने अपने इष्टदेव भगवान् पार्श्वनाथको नमस्कार किया है। ३१ वर्णके मनहर छन्दमें यह पद्य रचा गया है।

बड़ीसे बड़ी दार्शनिक गुत्थी भी कविने सरलता और सुबोधतासे सुलझायी है। सरल और प्रभावक भावाभिव्यक्तिकी क्षमता अत्यन्त विकासकी अवस्थामें ही सम्भव हो पाती है। जीवपर कर्म और ज्ञानका किस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है इसका मार्मिक सुलझाव देखिए—

[2]जब लग ज्ञान चेतना न्यारी, तब लग जीव बिकल संसारी,
जब घट ज्ञान चेतना जागी, तब समकिती सहज वैरागी।
सिद्ध समान रूप निज जाने, पर संजोग भाव परमाने।
शुद्धातम अनुभौ अभ्यासे, त्रिविध कर्म की ममता नासे॥

जबतक ज्ञान-चेतना अपनेसे भिन्न है अर्थात् ज्ञान-चेतनाका उदय नहीं हुआ है तबतक जीव दुःखी और संसारी रहता है और जब हृदयमें ज्ञान-चेतना जगती है तब वह अपने-आप ही ज्ञानी वैरागी हो जाता है।

कुछ भी हो 'समयसार नाटक' का हमारी महाकाव्य-परम्परामें एक श्रेष्ठ स्थान अवश्य रहेगा। अध्यात्म-प्रधान इतना विस्तृत प्रबन्ध-काव्य तो हिन्दी-संसारके सम्मुख यह प्रथम ही है।

खण्डकाव्य

कविवर बनारसीदासजीकी प्रतिभा जहाँ जीवनके विस्तृत क्षेत्रमें पूर्ण वैभवके साथ अवतीर्ण हो सकी है वहाँ उसने जीवनके कई मार्मिक स्थलोंको खण्डकाव्यके रूपमें भी अनुपम कौशलसे प्रस्तुत किया है। आपकी प्रायः सम्पूर्ण रचनाएँ अध्यात्मपरक ही हैं अतः उनमें किसी व्यक्तिके माध्यमसे महाकाव्य अथवा खण्डकाव्यकी रचना पाना सम्भव नहीं है। कविने बड़ी निपुणता और सरलतासे अध्यात्म-जैसे गम्भीर विषयको प्रबन्ध-काव्यका रूप दिया है। खण्डकाव्यमें महाकाव्य-जैसा ही उतार-चढ़ाव रहता है परन्तु महाकाव्यकी अपेक्षा उसका क्षेत्र पर्याप्त सीमित होता है। अतः उसे अपनी सीमाओंमें रहकर ही अपनी पूर्णता दिखानी होती है। खण्डकाव्यमें महाकाव्यकी भाँति जीवनकी अनेकरूपताका सद्भाव नहीं रहता।

२. वही, सर्वविशुद्धिद्वार, ८८-८६।

जीवनकी एक प्रधान घटनाका पूर्ण विस्तार ही खण्डकाव्यमें दिखाया जाता है। खण्डकाव्यका क्षेत्र सीमित है परन्तु अपने-आपमें पूर्ण है। साहित्यदर्पणकार पं० विश्वनाथने खण्डकाव्यकी परिभाषा अथवा व्याख्या इस प्रकार की है—

[1]"खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च॥"

अर्थात् महाकाव्यके एकदेशका या एक अंशका अनुसरण करनेवाला काव्य खण्डकाव्य कहलाता है। आधुनिक प्रचलित पद्धतिके अनुसार हम कह सकते हैं कि जिसमें एक घटनाकी सविस्तर चर्चा हो वह खण्डकाव्य है। काव्य भी व्यक्ति-प्रधान और घटनाके भेदसे दो प्रकारके होते हैं, जैसे रामायण व्यक्तिप्रधान है और महाभारत घटनाप्रधान महाकाव्य है। आशय स्पष्ट है जब व्यक्तिप्रधान काव्य होता है तो घटनाएँ व्यक्तिको केन्द्र मानकर बढ़ती हैं उसमे घटनाओंकी क्रमबद्धता नहीं देखी जाती, जैसे गुप्त-जीका 'सिद्धराज' नामक खण्डकाव्य। जहाँ घटनाओंकी प्रधानता रहती है वहाँ व्यक्तिकी अधिक चिन्ता नहीं की जाती जैसे 'भ्रमरगीत सार' एवं 'पंचवटी' आदि। बनारसीदासजीके खण्डकाव्योंमें व्यक्तिकी नहीं विषयकी प्रधानता है।

अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीकी सम्पूर्ण रचनाओंमें 'मोह-विवेकयुद्ध' और 'कर्मप्रकृति विधान' ये दो विस्तृत रचनाएँ ही मुख्य रूपसे खण्ड-काव्यकी कोटिमें आती है। सामान्यतया कर्म छत्तीसी, ज्ञानबावनी, वेद पंचासिका, शिवपच्चीसी आदि लम्बी-लम्बी कविताओंमें सुन्दर पौराणिक और आध्यात्मिक भाव भरे हैं अतः वे भी खण्डकाव्यकी कोटिमें आ सकती है, परन्तु वस्तुतः इसमें खण्डकाव्य-जैसी गरिमा, कथाप्रवाह एवं शालीनता नहीं है। इन्हें लम्बे मुक्तकोंकी कोटिमें रखना ही उचित है। इनमें धार्मिक एवं सैद्धान्तिक विवेचना है। इनके प्रत्येक छन्दको स्वतन्त्र रूपसे पढ़कर पूर्ण रसास्वादन किया जा सकता है।

'मोह-विवेकयुद्ध' और 'कर्मप्रकृति विधान' नामक खण्डकाव्योंमें कथा-प्रवाह और शैलीगत आनन्द आद्यन्त आता है। प्रथम खण्डकाव्य अध्यात्मप्रधान है और द्वितीय कर्मसिद्धान्तको व्याख्यासे सम्बन्ध रखता है।

१. 'साहित्य दर्पण' षष्ठ परिच्छेद ३१९।

मोह-विवेकयुद्ध

११० छन्दोंमें यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसमें मोह प्रतिनायक और विवेक नायक हैं। इस भाव-प्रधान कृतिमें काव्यानन्द तो आता ही है साथ ही संवाद-सौन्दर्य अपनी अनोखी छटा-द्वारा उसमें एक दृश्य काव्यकी रमणीयता प्रस्तुत कर देता है। भावनाओंको पात्र-रूपमें प्रस्तुत कर देना एक असाधारण कविके ही वशकी बात है। भावों-जैसे सूक्ष्म और गम्भीर विषयको जिसकी दार्शनिकताके चक्रमें प्रकाण्ड पण्डित भी आकुलित हो उठते हों, कविने अत्यन्त रोचक शैली-द्वारा प्रस्तुत कर खण्डकाव्य-परम्परामें एक नया स्तम्भ ही आरम्भ किया है। काम, क्रोध, मोह, लोभादिक सभी दुर्भाव विवेकको परास्त करनेके लिए अपनी पूर्ण शक्ति लेकर क्रमशः उपस्थित होते हैं किन्तु विवेकका हिमालय-जैसा अविचल तथा उच्च एवं सागर-सा गम्भीर व्यक्तित्व देखकर नतमस्तक हो जाते हैं।

मोहने विवेककी बढ़ती हुई शक्तिको देखकर एक सभा आमन्त्रित की और काम, क्रोध, लोभादिक सभीसे कहा – हममें-से जो विवेकको परास्त कर देगा वह संसार-भरका अखण्ड राज्य प्राप्त करेगा। कामने सर्वप्रथम बीड़ा उठाया। इसी भावकी सरल-ललित अभिव्यंजना कविने की है। इससे उक्त काव्यकी एक झलक हमारे सम्मुख आ सकेगी।

[1]"मोह सभा में बैठो आई, मंत्रिन से तौ बात चलाई।
मोसन बात कहो समुझाई, को विवेक को जो तैजाई ॥ २५ ॥
काम कहै हौं जीतौं आज, तोकौं देहु सदा थिर राज।
कौन बली जो मोसौं लरं, सुर नर, असुर विषदण्ड भरै ॥ २६ ॥
महादेव मोहिनी नचायौ, घर ही में ब्रह्मा भरमायो।
सुरपति ताकी गुरु की नारी, और काम को सकै संहारी ॥ २७ ॥
मैं कीयौ रावण कुलनास, और जीव सब मेरे बास।
सीगा रिषि सेवत महिमारे, मोतें कौन कौन नहिं हारे ॥२८॥
माया मोह तजें घर बास, मोतें भागि जांहि बनवास।
कंद मूल फल भक्ष कराहीं, तिनिहूँ को मैं छाड़ौं नाहीं ॥२९॥
इक जागत इक सोवत मारूं, जोगी जती तपी संहारूँ।
ऐसे बैन बखानै काम, जुवती जन जाको बिसराम ॥३०॥

---

१ 'मोह-विवेकयुद्ध', छन्द २५-३१ पं० बनारसीदासजी।

दोहा—चन्द्र वदन मृग लोचनी, कटि केहरि गज चाल।
अधर नाभि उर देख कें, को न पड़े इहि ख्याल ॥२१॥" इत्यादि
उक्त पंक्तियोंमें प्रवाह और भाव-प्रकाशनकी सरल-ललित पद्धति दर्शनीय है। पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगता है जैसे साक्षात् कोई पात्र ही वार्ता कर रहा हो, अपनी शक्तिका किसी दूसरेको परिचय दे रहा हो। कवि भावोंके सजीव एवं गतिशील चित्रणमें सिद्धहस्त हैं।

कर्मप्रकृति विधान

इस खण्डकाव्यमें जैन सिद्धान्तानुसार कर्मों और उनकी विभिन्न प्रकृतियोंपर कथात्मक ढंगसे सुन्दर चर्चा की गयी है। इसका विषय दार्शनिक एवं कर्मसिद्धान्त-सम्बन्धी अधिक है अतः कवि-कल्पना और प्रतिभा उतनी निखर नहीं सकी है। कविकी दृष्टि वर्णन-प्रधान रही है। कुल १७५ छन्द हैं। कविवर इस रचनाके उपरान्त अपनी भावना व्यक्त करते हैं—

[1]"यह कर्म प्रकृति विधान अविचल, नाम ग्रन्थ सुहावना।
इस माँहि गर्भित सुगुत चेतन, गुपत बारह भावना॥
जो ज्ञान भेद बखान सरदहि, शब्द अर्थ विचारसी।
सो होय कर्म विनाश निर्मल, शिव स्वरूप बनारसी॥"

जैन दर्शनके प्रमुख अंग कर्मसिद्धान्तका पूर्ण विवेचन इस खण्डकाव्यमें किया गया है।

कोष—बनारसी नाममाला

कविवर पं० बनारसीदासजीने एक हिन्दी पद्यमय शब्दकोषकी भी रचना की थी। इस कोषमें संस्कृत हिन्दी और प्राकृतके पर्यायवाची शब्दोंको ग्रहण किया गया है। इसमें १७५ पद्य हैं। कविवर धनंजयकी संस्कृत नाममाला एवं अनेकार्थ नाममाला बनारसीदासजीकी नाममालाके प्रेरणास्रोत रहे हैं। साहित्यदर्पणकार पं० विश्वनाथ कोषकी परिभाषा करते हैं—

[2]"कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः।
व्रज्या-क्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः॥"

---

१. 'कर्मप्रकृति विधान', छन्द १७४, बनारसी-विलास।
२. 'साहित्यदर्पण', षष्ठ परिच्छेद।

अर्थात् परस्पर निरपेक्ष श्लोक-समूहको कोष कहते हैं। यदि यह व्रज्या (वर्णमाला) के क्रमसे बने तो अति सुन्दर होता है। कविवरकी नाम-मालामें श्लोकोंको परस्पर निरपेक्षता अर्थात् एक नामके श्लोकोंका दूसरे नामके श्लोकोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु अकारादि क्रमका अभाव है। बड़े-बड़े कोषोंमें भी इस क्रमका निर्वाह नहीं हो सका है।

कविवरका यह कोष हिन्दीके विद्यार्थियोंका भारी हित-साधन कर सकता है। बड़ी सुगमतासे कण्ठ हो सकता है। उदाहरणार्थ 'सुन्दर' के नाम देखिए—

[1]"सुन्दर सुभग मनोहरन, कल मंजुल कमनीय।
रुचिर चारु, अभिराम वर, दरसनीय, रमनीय॥"

विद्वान्के नाम

[2]"विबुध, सूर, पंडित सुधी, कवि कोविद विद्वान।
कुसल, विचक्षण, निपुन पटु, क्षम, प्रवीन धीमान॥"

इसी प्रकार कविवरके 'जिनसहस्रनाम' को भी एक सुन्दर शब्दकोष कहा जा सकता है। इसमें जिनेन्द्र देवके गुणोंके आधारपर उनके एक सहस्र नामोंका उल्लेख किया गया है। यह कोष जैन सम्प्रदायमें पूजनके समयमें पढ़े जानेवाले 'संस्कृत जिनसहस्रनाम' के आधारपर रचित है।

आत्मकथा

अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीकी आत्मकथा 'अर्धकथानक' के कारण ही विशेष रूपसे हिन्दी-संसार उन्हें जानता है। ऐतिहासिकता, सरलता, जीवन घटनाओंका यथावत् निरूपण, संक्षिप्तता आदि आत्मकथाकी कसौटियोंपर यह जीवन-वृत्त पूर्ण रूपेण खरा उतरा है। हिन्दीमें ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय भाषाओंमें यह सर्वप्रथम और अनुपम तथा पद्यबद्ध आत्मकथा काव्य है। आचार्य विश्वनाथ गद्यकाव्यकी चर्चा करते हुए, साहित्यदर्पणमें कथाकाव्यकी तथा आख्यायिकाकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

[3]"कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।
क्वचिदत्र भवेदार्या, क्वचिद् वक्त्राऽपवक्त्रके॥
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्॥"

१. 'बनारसी-नाममाला' ८६।
२. वही ८५।
३. 'साहित्यदर्पण', षष्ठ परिच्छेद ३३२-३३।

अर्थात् कथामें सरस वस्तु गद्यके द्वारा ही निर्मित होती है। इस कहीं-कहीं आर्या छन्द और कहीं-कहीं वक्त्र और अपवक्त्र छन्द होते हैं। प्रारम्भमें पद्यमय नमस्कार और खलादिकोंका चरित्र निबद्ध होता है। साहित्य-दर्पणकारने प्रस्तुत परिभाषा वास्तवमें कादम्बरी आदिके आधार-पर ही बनायी है। होता भी यही है कि ग्रन्थ बन जानेपर ही उसकी परिभाषा बनायी जाती है। आचार्यने आख्यायिकाकी भी परि-भाषा की है :—

[1]"आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तपद्यं क्वचित् क्वचित्॥"

अर्थात् आख्यायिका कथाके सदृश होती है इसमें कविवंशका वर्णन होता है और अन्य कवियोंका वृत्तान्त तथा पद्य भी कहीं-कहीं रहते हैं। यह परिभाषा 'हर्षचरित' पर आधारित है।

आत्मकथा अथवा आत्मचरितका प्रचलन वास्तवमें संस्कृतमें रहा ही नहीं है। किसी राजा, महराजाका वर्णन करते समय कुछ प्रसंग जुटाकर कविने स्वयंके वंशादिकका परिचय दे दिया यही बहुत था। यह भी गद्यमें ही हुआ। पद्यमें तो आत्मचरितका श्रीगणेश कविवर बनारसीदासजीने ही किया। कथा और आख्यायिकाकी उक्त परिभाषामें वह शालीनता और विस्तार नहीं है जो आजकी गद्यमय स्वलिखित कथाओं एवं बनारसीदासजी-की आजसे तीन सौ वर्ष पूर्व लिखी गयी पद्यबद्ध आत्म-कथामें प्राप्त होता है। अतः पुरातन कसौटी कविवर बनारसीदासजीकी आत्मकथाके लिए पर्याप्त छोटी बैठती है। एक वैशिष्ट्य और दर्शनीय है। साहित्य दर्पणकार किसी आचार्यका मत पूर्व पक्षके रूपमें उद्धृत करते हुए उत्तरपक्षमें आचार्य दण्डीका समर्थन करके लिखते हैं कि आख्यायिका नायकके द्वारा ही लिखी जाये ऐसा नियम नहीं है, इसमें अन्य लोगोंका कार्य भी हो सकता है। लिखते हैं—[2]"आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या इत्याहु-स्तदयुक्तम्" इत्यादि। वास्तवमें उत्तम आत्म-कथाकी रचना स्वयं नायक ही कर सकता है, आज यह सर्वमान्य निश्चय है। अतः प्राचीन लक्षण-ग्रन्थोंमें हम कविवर बनारसीदासजीकी आत्मकथा अथवा आधुनिक युगमें रचित महात्मा गान्धी, पं० नेहरू, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, डॉ० श्यामसुन्दरदास

१. 'साहित्यदर्पण', षष्ठ परिच्छेद ३३४।
२. वही, पृ० ३२६, गद्यभाग।

एवं बाबू गुलाबराय आदिकी आत्मकथाओंकी कसौटी नहीं पा सकते । इस दिशामें प्राचीन समयमें वस्तुतः कार्य हुआ ही नहीं है । इनके लिए हमें आजके विद्वान् आचार्योंकी मान्यताका आधार लेकर ही चलना होगा। आधुनिक युगके वयोवृद्ध समर्थ विचारक बाबू गुलाबराय आत्मकथाकी उत्तमताके सम्बन्धमें लिखते हैं—

"साधारण[1] जीवन-चरित्रसे आत्मकथामें कुछ विशेषता होती है। आत्मकथा-लेखक जितना अपने बारेमें जान सकता है उतना लाख प्रयत्न करनेपर भी कोई दूसरा नहीं जान सकता, किन्तु इसमें कहीं तो स्वाभाविक आत्म-श्लाघाकी प्रवृत्ति बाधक होती है और किसीके साथ शील-संकोच आत्म-प्रकाशनमें रुकावट डालता है। यद्यपि सत्यके आदर्शसे दोनों ही प्रवृत्तियाँ निन्द्य हैं तथापि अनावश्यक आत्म-विस्तार कुछ अधिक अवांछनीय है। शील-संकोचके कारण पाठकको सत्य और उसके अनुकरण-के लाभसे वंचित रखना भी वांछनीय कहा जा सकता है। साधारण जीवनी-लेखककी अपेक्षा आत्मकथा-लेखकको ऊबसे बचाने और अनुपातका अधिक ध्यान रखना पड़ता है। उसे अपने गुणोंके उद्घाटनमें आत्मश्लाघा या अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बननेकी दूषित प्रवृत्तिसे बचना चाहिए। जीवनी लिखनेवालोंको दूसरेके दोष और आत्मकथा लिखनेवालोंको अपने गुण कहनेमें सचेत रहनेकी आवश्यकता है।" उत्तम आत्मकथाको इन विशेषताओंकी चर्चा करनेके पश्चात् बाबू गुलाबरायजी ने स्वयं ही बनारसी-दासजीकी आत्मकथाका आदर्श आत्मकथाके रूपमें उल्लेख किया है— "अकबरके समयके आगरानिवासी जैन कवि बनारसीदासजीने अपनी आत्मकथा 'अर्धकथानक' नामसे लिखी है जिसमें उन्होंने अपनी बुराइयों और कमजोरियोंका निस्संकोच भावसे उद्घाटन किया है—

"भयो[2] बनारसी दास तन, कुष्ट रूप सरबंग।
हाड़ हाड़ उपजी व्यथा, केस रोम भुव भंग॥
विस्फोटक अगनित भये, हस्तचरन चौरंग।
कोऊ नर साला ससुर, भोजन करइ न संग॥
ऐसी अशुभ दशा भई, निकट न आवै कोई।
सासू और विवाहिता, करहिं सेव तिय दोई॥

१. 'काव्यके रूप', पृ० २५६, ले० बा० गुलाबराय।
२. 'अर्धकथानक'।

जल भोजन की लैचि सुध, देहि आनि मुख माँहि।
ओखद ल्यावहि अंग में, नाक मूँद उठि जाँहि ॥"

उन्होंने आगरामें उधार तेलकी कचौड़ी खानेकी भी बात लिखी है। स्पष्ट है कि कविवर बनारसीदासजीकी आत्मकथाकी उत्कृष्टताके सम्बन्धमें दो मत नहीं हो सकते। ऊपरके उद्धरणसे भी अधिक मार्मिक स्थल कविवरकी आत्मकथामें हैं। जिनका उल्लेख तृतीय अध्यायमें सविस्तार हो हो चुका है। सरलता, स्पष्टवादिता और मितभाषिता (संक्षिप्तता) तो सर्वत्र ही प्राप्त होती है।

शास्त्रीय मर्यादाओंका तो कविने पालन किया ही है साथ ही अपनी आत्मकथा 'अर्धकथा'-द्वारा साहित्यमें एक युगान्तर ही उपस्थित कर दिया है। आज हमें कविवर बनारसीदासजीकी आत्मकथाके आधारपर अपनी शास्त्रीय परिभाषामें अवश्य ही संशोधन करना होगा और तब हमारी परिभाषा कुछ इस ढंगकी होगी—आत्मकथा व्यक्तिकी स्वरचित वह कृति है जिसमें अपने पूर्वजोंके संक्षिप्त परिचयके साथ स्वयंके पूर्व जीवनकी (कृति-लेखन काल तककी) सम्पूर्ण घटनाओं, सम्पर्कों, प्रभावों तथा निजी गुणावगुणों आदिका सरलता संक्षिप्तता और सचाईके साथ प्रतिपादन किया जावे।

निबन्ध

कविवर बनारसीदासजीने पद्यकी भाँति गद्यमें भी अपनी प्रतिभा और बुद्धि-कौशलका अनुपम परिचय दिया है। आजसे तीन सौ वर्ष पूर्व जब कि हिन्दीमें निबन्धोंका अता-पता भी न था तब आपने इस दिशामें लेखनी उठायी और अपने दार्शनिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वोंसे परिपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किये। 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' प्राचीन आचार्यकी इस उक्तिसे स्पष्ट है कि गद्य कवियोंकी कसौटी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने निबन्धको गद्यकी भी कसौटी कहा है। वास्तवमें पद्यमें तो कविको अपनी भाषा भाव और शैलीगत दुर्बलता छिपानेके लिए पर्याप्त अवसर मिल जाता है। यदि एक लम्बी कवितामें चार-छह छन्द भी प्रभावक मिल गये तो कविकी प्रशंसाके लिए पर्याप्त हैं, किन्तु एक निबन्धमें यदि एक शब्द भी शिथिल या बेमेल बैठ गया तो सब निबन्ध किरकिरा-सा लगने लगता है।

बनारसीदासजीने 'परमार्थ-वचनिका' और 'उपादान निमित्तकी चिट्ठी' ये दो ही निबन्ध लिखे हैं। इनमें जैन-दर्शन एवं अध्यात्मकी चर्चा है। कितनी सरल अभिव्यक्ति और शालीनतासे अभिव्याप्त व्यक्तित्वके दर्शन इन निबन्धोंमें होते हैं पाठक पढ़कर ही अनुभव कर सकते हैं। बनारसीदासजी जैसे अपने सम्मुख बैठे चार-छह श्रोताओंको ही मानो समझा रहे हों, इस ढंगसे आपने निबन्ध लिखे हैं। निबन्धोंमें गम्भीर विषय हैं किन्तु लेखकने अपनी सरल दृष्टान्त-प्रधान अभिव्यक्तिसे उसे पर्याप्त सुबोध कर दिया है। उदाहरणार्थ कुछ द्रष्टव्य हैं—

"सम्यग्दृष्टि[1] कहा सो सुनो—संशय विमोह विभ्रम ए तीन भाव जामें नाहीं सो सम्यग्दृष्टी। संशय, विमोह, विभ्रम कहा ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखायतु है सो सुनो—जैसें च्यार पुरुष कोई एक स्थान विषें ठाड़े तिन्ह चारि हूँ के आगे एक सीपको खंड किन ही और पुरुषने आनि दिखायो। प्रत्येक तें प्रश्न कोनी कि यह कहा है सीप है कै रूपो है। प्रथम ही एक पुरुष संशै वालो बोल्यो—कछु सुध नाहीं न परत, किधौं सीप है, किधौं रूपो है, मोरी दृष्टि विषैं याको निरधार होत नाहिनै। भी दूजो पुरुष विमोह वालो बोल्यो कि कछु मोहि यह सुधि नाहीं कि तुम सीप कौन सों कहतु हो रूपो कौन सौं कहतु हो मोरी दृष्टि विषैं कछु आवत नाही तातैं मैं नाहिनो जानत कि तू कहा कहतु है अथवा चुप ह्वै रहै बोलै नाही अटल रूप सौं। भी तीसरो पुरुष विभ्रम वालो बोल्यो कि—यह तो प्रत्यक्ष प्रमान रूपो है याको सीप कौन कहै, मेरी दृष्टि विषैं तो रूपो सुझातु है तातें सर्वथा प्रकार यह रूपो है सो तीनों पुरुष वा सीपको सुरूप जानो नाही। तातैं तीनों मिथ्यावादी। अब चौथा पुरुष बोल्यो कि यह तो प्रत्यक्ष प्रमान सीप को खण्ड है यामैं कहा धोखौ, सीप, सीप, सीप।" बनारसीदासजीकी गद्यलेखन-शक्ति और विषय-प्रतिपादनकी निपुणता द्योतित करनेके लिए उक्त उद्धरण पर्याप्त है। जिस प्रकार आज श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरीकी केवल तीन कहानियाँ ही उन्हें कहानी-जगत्में अमर रखनेमें समर्थ हैं ठीक उसी प्रकार बनारसीदासजीके ये निबन्ध उन्हें निबन्ध-साहित्य-संसारमें सदैव शीर्षस्थान देनेमें समर्थ हैं। इन निबन्धोंपर तृतीय अध्यायमें विस्तृत वार्ता हो ही चुकी है अतः यहाँ केवल शास्त्रीय दृष्टिसे ही उनकी विधापर विचार करना है।

१. 'परमार्थवचनिका' अन्तर्गत 'बनारसी-विलास'।

'निबन्ध सामान्यतया चार प्रकारके होते हैं—

१. वर्णनात्मक (डेसक्रिप्टिव)
२. विवरणात्मक (नरेटिव)
३. विचारात्मक (रिफ्लेक्टिव)
४. भावात्मक (इमोशनल)

बनारसीदासजीके निबन्ध विचारात्मक कोटिके ही हैं। विचारात्मक निबन्धोंमें बुद्धितत्त्वका प्राधान्य रहता है। रागात्मक तत्त्व और शैलीतत्त्व भी इसमें समान रूपसे कार्य करते हैं। कविवरकी शैली विषयके अनुसार समास और व्यासके बीचकी कड़ी कही जा सकती है। कहीं-कहीं वे अत्यन्त सरल भावसे एक बातको पर्याप्त स्पष्ट कहते हैं और कहीं-कहीं एक साधारण वाक्य ही पाठकको घण्टोंके विचारकी सामग्री उपस्थित कर रहा है। मुख्यतया उनकी शैली व्यासप्रधान ही है। वे अपने निबन्धोंमें विषयको अत्यन्त स्पष्ट करके ही छोड़ते हैं। कविवर बनारसीदासजीके निबन्ध गम्भीर दार्शनिक एवं अध्यात्म-चिन्तनके परिणाम होनेपर भी सरसतासे परिपूर्ण हैं। उनमें न इतनी गम्भीरता आने पायी है कि वे एक जी उबा देनेवाली दर्शनकी पोथी बन जाये और न उनमें इश्तिहारों-जैसी फूहड़ और लचर भाषाके प्रयोगका उथलापन लाया गया है। वास्तवमें ये निबन्ध गम्भीर भी हैं, सरल भी हैं। विषयकी दृष्टिसे गम्भीर हैं और विवेचनकी दृष्टिसे सरल हैं। निबन्धकार यदि कुशल है तो अत्यन्त गम्भीर विषयको अपनी निपुणतासे सरस बना ही लेगा और यदि अनाड़ी है तो सरस-सुकोमल प्रसंगको भी अत्यन्त शुष्क दुरूह एवं घृणास्पद बना देगा। जहाँतक दार्शनिक निबन्धकी बात है—दार्शनिक निबन्ध भी दार्शनिक ग्रन्थोंकी अपेक्षा अधिक सजीव होगा, उसमें शैलीके उत्कर्षके लिए ध्वनि, हास्य, व्यंग्य, लाक्षणिक प्रयोग और स्वल्प मात्रामें अलंकारोंका भी समावेश किया जा सकता है। निबन्धकार अपनी प्रतिभाके बलसे साधारणको भी असाधारण बना देता है। जीवनकी सिकता भी उसकी प्रतिभाके प्रकाशमें रजत-कणोंकी भाँति जगमगा उठती है।' इस उद्धरणके पश्चात् केवल इतना ही कहना है कि बनारसीदासजीके निबन्धोंमें गम्भीर विषय होनेके कारण हास्य, व्यंग्य और अलंकारादिको अवसर सीमित ही मिल सका है। हाँ, सरसता और

---

१. 'काव्यके रूप', पृ० २३५, ले० गुलाबराय एम० ए०।

रोचकतामें लेखकने किसी प्रकार बाधा नहीं आने दी है। लेखकका विषय स्वयं ही रजतके समान स्थिर प्रभा लिये हुए है उसे गद्यकारके प्रभाव-द्वारा सिकताकणसे रजत नहीं बनना है बरन् ऐसा उज्ज्वल और वास्त-विक रजत ही बनना है कि पाठक उसे सहज भावसे ग्रहण कर सकें और यह कार्य बनारसीदासजीके निबन्ध कर सके हैं।

बनारसीदासकी ज्ञान-गरिमा और उनकी सांस्कृतिक देन

हिन्दी साहित्यके सभी इतिहास-लेखकोंने कविवर बनारसीदासको हिन्दी जैन-साहित्यकारोंमें निर्विवाद रूपसे सर्वश्रेष्ठ माना है। बनारसीदासजीका अध्ययन-मनन, प्रतिभा, स्वभावगत निश्छलता, विषयचयनकी मार्मिक दृष्टि एवं तदनुकूल मार्मिक भावाभिव्यंजना आदि पुंजीभूत वैशिष्ट्य यदि उन्हें सुकवि, विद्वान् एवं सन्त सिद्ध करता है तो आश्चर्य ही क्या है? कविवर बनारसीदासके बहुमुखी व्यक्तित्वका साक्षात्कार हम उनकी रचनाओं-द्वारा सहजमें ही कर सकते हैं। 'अर्धकथानक' उनके सरल, कर्मठ एवं निश्छल जीवनको, नाटक समयसार उनके ज्ञान-गाम्भीर्य, काव्य-प्रतिभा, विद्वत्ता और सर्वोपरि उनकी उदात्त अध्यात्म दृष्टिको, 'नाममाला' उनके विविध-भाषा-प्रेम एवं जन-भाषामें पद्यबद्ध शब्दकोष प्रस्तुत करनेकी उदात्त सेवावृत्तिको तथा बनारसी-विलास उनके दार्शनिक, आध्यात्मिक, आचारिक तथा धार्मिक सिद्धान्तमय दृष्टिको कोण हमारे सम्मुख पूर्णतया स्पष्ट करते हैं।

कविवरकी शिक्षा वास्तवमें बहुत ही थोड़ी हो सकी थी और वह भी अव्यवहित रूपसे न हो सकी थी। वे स्वयं इतने कुशाग्रबुद्धि थे कि किसी विषयका दिशानिर्देशन पाते ही उसमें अपनी तत्परता और मनोयोग लगाकर शीघ्र ही पारंगत हो जाते थे। बनारसीदासजी बोधित बुद्ध कम ही थे वे वास्तवमें स्वयंबुद्ध थे। ज्योतिष, छन्दशास्त्र, अलंकार, धर्मशास्त्र, कोष और व्याकरणका साधारण अध्ययन तो उन्होंने गुरुमुखसे किया था आगे चलकर समय-समयपर आपने स्वाध्याय, सत्संग और देशाटन-द्वारा अपना उक्त ज्ञान विस्तृत और परिपक्व किया तथा जीवनका व्यावहारिक दृष्टिकोणसे भी अध्ययन किया।

बनारसीदासजी स्वयं तो ज्ञानार्जन करते ही रहे साथ ही उनका सदैव

यह प्रयत्न भी रहा कि ज्ञानकी गम्भीरसे गम्भीर बात भी जन-सामान्य तक किसी सरल माध्यमसे पहुँच जाये। 'नाममाला', बनारसी-विलास, समयसार तथा 'अर्धकथानक' की सरल-ललित जनभाषामें रचना कविकी उपर्युक्त भव्य भावनाका ही प्रतिफल है। स्वयंके साथ जन-सामान्यको ज्ञानवान् बनानेका कविवर भारी प्रयत्न करते रहे। मनुष्य स्वयं कितना भी दिग्गज विद्वान् क्यों न हो, यदि उसके द्वारा जन-सामान्य लाभान्वित नहीं होता तो हो सकता है उसकी विद्वत्ता, ज्ञानगरिमा यदाकदा प्रशंसित हो जाये, परन्तु उसे जनताका प्यार, उसकी आत्मीयता और श्रद्धा तो कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। बनारसीदासजीके व्यक्तित्वका यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि बुद्धि और ज्ञानकी अपेक्षा वे हृदयके धनी अधिक थे। ज्ञानकी गठरीकी अपेक्षा उन्हें हृदय और आत्माकी निर्मलता अधिक भायी थी, वे अपने समयके बड़े-बड़े तार्किकों और पण्डितोंका विवाद एवं अहंकारसे जड़ीभूत जीवन देख चुके थे। जिनमें हृदयगत निर्मलताका अभाव था, जो दूसरेकी मौलिक विवेचनाको सह न सकते थे ऐसे अनेक बुद्धिवादी व्यक्ति कविवरके दृष्टिपथमें आ चुके थे। ये विद्वान् यदि कुछ उदार होते भी थे तो केवल विद्वन्मण्डली ही इनसे लाभान्वित हो पाती थी, अर्थात् ये श्रेणी (क्लास) विशेषके ही हो पाते थे, जनसामान्य (मास) के नहीं। बनारसीदासजीने इस अभावका अत्यन्त तीव्र अनुभव किया और उसकी पूर्तिमें वे जुट भी गये। उनका लक्ष्य बन गया कि मेरा ज्ञान, मेरी प्रतिभा और मेरी विद्वत्ता सभी सार्थक हो सकेगी जबकि वह सामान्य-जनके हृदयोंमें अनायास ही प्रविष्ट होकर उसे आत्म-कल्याणकी ओर स्पन्दित कर सके। हिन्दी-संसार उनके इस आदर्श-लक्ष्यसे कितना उपकृत हुआ है आज यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रह गयी है। महात्मा कबीर और भक्त सूरदासको कोई शिक्षा प्राप्त न हो सकी थी फिर भी वे कितने विद्वान् थे, ज्ञानी थे और थे जनताकेअपने, यह बात आज उनके उज्ज्वल साहित्य और जनताकी उनपर अगाध श्रद्धा-से स्पष्ट है। उक्त कवियोंके समयमें सैकड़ों महा-पण्डित हुए होंगे जिनके नाम इतिहास भी कठिनतासे जानता है। इन कवियोंको इस देशकी जनता कदापि विस्मृत नहीं कर सकती। अध्यात्म सन्त बनारसीदास भी इसी सन्त-मणिमालाके एक देदीप्यमान मणि हैं। उनकी ज्ञान-गरिमा और उनकी मार्मिक अभिव्यंजना निश्चित रूपसे हमारे सम्मुख एक दिव्य लोक उप-स्थित कर देती है। कुछ उद्धरणों-द्वारा कविके उक्त काव्य-सौन्दर्यका रसा-

स्वादन भलीभाँति हो सकेगा—

ज्ञानरहित क्रियासे वास्तविक आत्म-कल्याण (मुक्ति) नहीं हो सकती। इस आशयकी अभिव्यंजना देखिए :

"[1]कोई क्रूर कष्ट सहैं, तपसौं सरीर दहैं,
धूम्रपान करैं अधोमुख ह्वै के झूलै हैं,
कोई महाव्रत गहैं क्रिया मैं मगन रहैं,
वहैं मुनिभार पै पयार कैसे पूले हैं।
इत्यादिक जीवन कौं सर्वथा मुकति नाहिं,
फिरैं जगमांहिं ज्यौं क्यारिके बघूले हैं।
जिन्ह के हिये में ज्ञान तिन ही को निरवान,
करम के करतार भरम में भूले हैं॥"

अनेक अज्ञानी साधु अन्ध-श्रद्धाके कारण काय-क्लेश करते हैं, पंचाग्नि तपते हैं, शरीरको जलाते हैं, गांजा, चरस आदि पीते हैं, नीचेको मस्तक और ऊपरको पैर करके लटकते हैं—आदि। ज्ञानके बिना उक्त सभी क्रियाएँ कणरहित पयालके गट्ठेके समान निस्सार हैं। आत्मा और बुद्धि (ज्ञान)के निर्देशनमें किया गया आचरण ही श्रेयस्कर हो सकता है।

अधम पुरुष जिनकी दृष्टि फल-परक होती है, वे पुण्यकर्मको ही मोक्षका प्रधान कारण मानते हैं। पुण्य-पाप अर्थात् राग-द्वेषसे परे शुद्ध आत्मानुभव ही मोक्षका कारण है इसे वे नहीं समझ पाते। बनारसीदासजीने अधम-जनोंकी इसी मिथ्या धारणाको अनेक दृष्टान्तों-द्वारा हस्तामलकवत् स्पष्ट कर दिया है।

"[2]जैसें रंक पुरुष के भायें कानी कौड़ी धन,
उलुआ के भाय जैसें संजा ही बिहान है,
कूकर के भायें ज्यौं पिडोर जिसानी मठा,
सूकरके भायें ज्यौं पुरीष पकवान है।
बायस के भायें जैसें नीव की निबौरी दाख,
बालक के भायें दन्त कथा ज्यौं पुरान है,
हिंसक के भायें जैसें हिंसा में धरम तैसें,
मूरख के भायें सुभबन्ध निरवान है॥"

---

१. 'समयसार', निर्जराद्वार २१।
२. 'समयसार', बन्धद्वार २१।

जैन सिद्धान्तमें द्रव्य-चर्चा अत्यन्त ठोस एवं गम्भीर है। कविवर बनारसीदासजीने अत्यन्त सरलीकृत माध्यमसे छहों द्रव्यों और उनमें भी जड़-चेतनका पारस्परिक सम्बन्ध बड़ी सरलतासे स्पष्ट कर दिया है।

"धृत-घट पूरित लोक में, धर्म, अधर्म अकास,
काल जीव पुद्गल सहित, छहों दर्व को वास।
छहों दरब न्यारे सदा, मिलै न काहू कोय,
छीर नीर मिल रहें, चेतन पुद्गल दोय।
चेतन पुद्गल यों मिलै, ज्यों तिल में खलि तेल,
प्रकट एक से देखिए यह अनादि कौ खेल।
वह वाके रस सों रमै, वह वासों लपटाय,
चुम्बक करसै लौह को, लोह लगै तिंह धाय॥'[1]

जैन सिद्धान्तमें द्रव्योंका विवेचन इस प्रकार है—

यह लोकाकाश एक घीके घड़ेके सदृश है। इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छह द्रव्य निवास करते हैं। ये सभी द्रव्य पृथक्-पृथक् रहते है। कोई किसीसे मिलता नहीं। इनका मिलन ऐसा ही है जैसे दूध और पानीका। वास्तवमें दूध और पानी अलग-अलग हैं। संयोग सम्बन्धसे ही एक-से प्रतीत होते हैं। जीव, पुद्गलमें अपनापन देखता है और पुद्गल उससे लिपट जाता है। चुम्बक और लोहे-जैसी दशा जीव और पुद्गलके संयोगकी है। ऐसी सरल अभिव्यक्तिके अनेक स्थल बनारसीदासजीके साहित्यमें पदे-पदे प्राप्त होते हैं। मार्गण, गुणस्थान, कर्मप्रकृतियाँ आदिमें कविवरकी ज्ञानगरिमा अपनी सरल अभिव्यक्तिके साथ अत्यन्त निखर उठी है। बनारसीदासजी-द्वारा प्रस्तुत ज्ञानकी बड़ीसे बड़ी निधि पाठकोंके सम्मुख भार बनकर कभी नहीं आयी।

कविवरने जीवनमें अनेक बार व्यापारादिककी गहरी असफलताका अनुभव किया, ऐसी अनेक प्रकारकी असफलताओंसे दुःखी होते हुए संसारके अनेक व्यक्ति देखे। संसारके प्रायः सभी प्रकारके विषयादिक भी भोगे और अन्तमें वे इसी निर्णयपर पहुँचे कि संसारके सुखोंमें रमण करना घन-चपलाको स्थिर समझनेके समान है। मनुष्यकी व्यापारादिककी असफलता उसके जीवनकी असफलता नहीं है, हाँ इनमें सफलता प्राप्त होनेपर भोगादिककी ओर प्रवृत्ति बढ़नेसे उसका विशुद्ध जीवन-पथ और

१. 'बनारसी-विलास', (अध्यात्मबत्तीसी) २-५।

दूर ही होता है। इन विषयोंकी अनुभूतिकी कितनी मार्मिक अभिव्यक्ति कविवरने की है—

"जामें सदा उतपात रोगन सों छीजै गात,
कछू न उपाय छिन-छिन आयु खपनौ।
कीजै बहु पाप औ नरक दुःख चिन्ता व्याप,
आपदा कलाप में बिलाप ताप तपनौ।
जामें परिग्रह कौ विषाद मिथ्या बकवाद,
विषै भोग सुख कौ सबाद जैसो सपनौ,
ऐसौ है जगतवास जैसो चपला बिलास,
तामें तू मगन भयौ त्याग धर्म अपनौ॥"[1]

ज्ञान-गाम्भीर्यके सरलीकरणमें तो बनारसीदासजी सिद्धहस्त ही हैं। कविवरकी ज्ञान-गरिमामें बोझिलता और दुर्वहताका सर्वथा अभाव है।

ज्ञानकी महिमाके सम्बन्धमें बनारसीदासजीका अभिमत चिरस्मरणीय है—

[2]"काज बिना न करै जिय उद्यम, लाज बिना रन माँहि न जूझै,
डील बिना न सधै परमारथ, सील बिना सत सों न अरूझै,
नेम बिना न लहै निहचैपद, प्रेम बिना रस रीति न बूझै,
ध्यान बिना न थमै मन की गति, ज्ञान बिना सिव पंथ न सूझै॥"

शुद्ध आत्मज्ञान जो राग-द्वेष, मोह-ममता आदिकी परिधिको सर्वथा पार कर चुका है, मनुष्यका वास्तविक आत्म-कल्याण कर सकता है।

अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीकी ज्ञान-गरिमाकी सूक्ष्म कोटिका भी एक उदाहरण देखिए। जीव अज्ञानके कारण स्वयंको ही पौद्गलिक कर्मोंका कर्ता मानता है। वास्तवमें जीव शुद्ध आत्म-द्रव्यमय ही है और आत्म-धर्मका ही कर्ता है। जब विवेक जागृत हो जाता है तब इसका भी भ्रम मिट जाता है और यह जिन कर्मोंकी कारामें अकारण ही स्वयंको बन्दीकृत मान बैठा था, स्वतन्त्र हो जाता है और मोक्ष लाभ करता है। यह जैन अध्यात्मका सर्वोपरि सिद्धान्त है। चेतन शक्ति जड़से सर्वथा पृथक् है इस महत्तत्त्वकी व्याख्या देखिए—

---

१. 'बनारसी-विलास', (फुटकर पद) पृ० १९९।
२. 'समयसार', निर्जराद्वार २४।

"[1]"प्रथम अज्ञानी जीव कहै मैं सदीव एक,
दूसरौ न और मैं ही करता करम कौ,
अन्तर विवेक आयौ आपापर भेद पायौ,
भयौ बोध गयौ मिट भारत भरम कौ,
भसे छह द्रव्यन के गुण पर्याय सब,
नाशे दुःख लख्यौ सुख पूरन परम कौ,
करम कौ करतार मान्यौ पुद्गल पिण्ड,
आप करतार भयौ आतम धरम कौ ॥"

ज्ञान वृद्धिके साथ स्वभावगत सारल्य और माधुर्य भी यदि वर्धमान होता चले तो निश्चयसे व्यक्ति लोकश्रद्धाका विषय बनता है। कविवर बनारसीदासजीने अपनी आत्मकथा अत्यन्त निश्छल भावसे लिखी है। वे अपने गुण-दोषोंकी चर्चा करते हुए लिखते हैं—

"[2]"पढ़ै संस्कृत प्राकृत शुद्ध, विविध देश भासा प्रतिबुद्ध,
जानै सबद अरथ कौ भेद, ठानै नहीं जगत कौ खेद,
मिठ बोला सबही सों प्रीत, जैन धरम की दृढ़ परतीत,
सहन शील नहिं कहै कुबोल, सुथिर चित्त नहिं डाँवाडोल ॥"

पं० बनारसीदासजीकी ज्ञान-गरिमाका अध्ययन करते समय उनकी शिक्षापर ध्यान जाना स्वाभाविक है। इस सम्बन्धमें कविके जीवनी-सम्बन्धी द्वितीय अध्यायमे पर्याप्त विवेचन हो चुका है। ८ वर्षकी अवस्था-में वे पाण्डे गुरुसे चटशालामें जाकर शिक्षा पाने लगे। एक वर्षमें ही अपने व्यापारादिके लिए आवश्यक गणित आदिमें व्युत्पन्न हो गये। प्रतीत होता है उस समय थोड़ी-सी जीवनोपयोगी शिक्षाके साथ गुरुजन व्यापारसम्बन्धी लेखे-जोखेकी शिक्षा देते थे। इसके पश्चात् कविवर व्यापारमें लग गये और पढ़नेकी इच्छा रखनेपर भी संयोग न लग सका। आगे चलकर चौदह वर्षकी अवस्थामें पं० देवदत्तसे नाममाला, अनेकार्थ, कोकशास्त्र, ज्योतिष और फुटकर चार सौ श्लोक पढ़े। कुछ समय पश्चात् भानुचन्द्र यतिसे जौनपुरमें ही पंचसन्धि, फुटकर श्लोक, छन्द, कोष, श्रुतबोध, स्तोत्रविधि और प्रतिक्रमण आदि कण्ठ किये। इतनी ही शिक्षा कविको प्राप्त हो सकी थी। आधुनिक दृष्टिसे वास्तवमें यह शिक्षा अल्प ही कही

१. 'बनारसी-विलास', पृ० १६४।
२. 'अर्धकथानक', ६४८–४९।

आयेगी, परन्तु जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि बनारसीदासजीमें मौलिक चिन्तन और स्वाभाविक प्रतिभा बाल्यकालसे ही अंकुरित हो रही थी। फलस्वरूप शीघ्र ही वे एक सुयोग्य विचारक, सुकवि एवं सन्तके रूपमें जनताके सम्मुख आ गये। चौदह वर्षको अवस्थामें ही कविने एक हजार पद्यमय नवरस पद्यावलिकी सरस रचना कर ली थी।

सांस्कृतिक देन

अध्यात्म सन्त बनारसीदासजी समर्थ विचारक, साहित्यमनीषी एवं सुकवि होनेके साथ-साथ अदम्य उत्साही तथा सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता भी थे। जहाँ भी सामाजिक, धार्मिक एवं मूर्च्छित होते देखा कि समस्त आपत्तियों और कवि आलोचनाओंकी चिन्ता न कर उन्होंने अपनी पूर्ण शक्तिसे उसकी शल्यक्रिया की। कविने धर्म और संस्कृतिके उदात्त तत्त्वोंसे जनमानस उद्वेलित किया।

आपके समयमें समाजमें आचार-विचार-सम्बन्धी संकीर्णता इतनी बढ़ चुकी थी कि सामान्य जनताने धर्मका मूलरूप उसीको मान लिया था। धर्मकी व्याख्या करनेवाले स्वार्थान्ध पण्डे उसे पथभ्रष्ट कर रहे थे। मन-मानी कठोर आचारपरक व्याख्या करके धर्म-मार्ग इतना जटिल, बोझिल एवं व्ययसाध्य कर दिया कि धीरे-धीरे जन-सामान्यके अन्तस्में क्रान्तिकी लहरें उठने लगीं, उसका मस्तिष्क भी इस धर्मान्धताकी कटु आलोचना (मूक रूपेण) करने लगा। यह क्रम एक लम्बे समय तक चलता रहा। खुलकर विरोध करनेकी सामर्थ्य अभी जनतामें न थी। पण्डों, पुजारियों और भट्टारकोंका मन्दिरों और धर्मपर इतना गहरा आधिपत्य था कि उनका विरोध करना अथवा उनके प्रति अविश्वास प्रकट करनेका सीधा अर्थ था मनुष्यका अधार्मिक, नास्तिक, शिथिलाचारी एवं मिथ्यादृष्टि आदि उपाधियोंसे विभूषित होना तथा आये दिन अपमानित होना। कविवर बनारसीदासजीने इस धार्मिक संकीर्णतासे अभिव्याप्त घुटनका तीव्र अनुभव किया। धर्मको इतना विकृत एवं दुराचरित होते देख उनकी आत्मा क्रान्तिके लिए विचलित हो उठी। उन्हें स्पष्ट प्रतीत हुआ कि इस देशकी एकात्म संस्कृतिमें कटुता, भिन्नता वैमनस्यके बीज इसी निःसार-आडम्बरयुक्त धार्मिक कट्टरताके कारण पनप रहे हैं। अध्यात्म-मूलक धर्म जो इस वसुन्धराकी संस्कृतिका प्राण है धीरे-धीरे कुछ अवसन्न एवं मूर्च्छित-सा हो रहा था। क्रान्तद्रष्टा बनारसीदासजीने अपनी पूर्ण

जिससे निर्भीकतापूर्वक धर्मकी शुद्ध अध्यात्म मूलक व्याख्या की और आचार तथा क्रियाकाण्ड जो मानवकी अध्यात्म दृष्टिमें सहायक हो वही श्रेयस्कर घोषित किया। कुछ समय पश्चात् उनका यह आन्दोलन अध्यात्म मतके रूपमें बड़ी लोकप्रियताके साथ प्रचलित हो गया। यही अध्यात्म-मत और आगे चलकर तेरहपन्थके नामसे जैनोंके सुप्रसिद्ध दोनों ही सम्प्रदायों (दिगम्बर-श्वेताम्बर) में प्रचलित एवं मान्य हो गया। धर्ममें इस नये परिवर्तनके कारण उनका प्रारम्भमें विरोध भी पर्याप्त मात्रामें हुआ, विरोधमें ग्रन्थ भी रचे गये परन्तु आगे चलकर जनताके हृदयमें उनकी वास्तविक दृष्टि घर कर गयी और उनका यह अध्यात्म-मत सम्पूर्ण समाजमें प्रतिष्ठित हो गया जो आज तक उसी मान्यतासे प्रचलित है।

अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीके जीवन और साहित्यका अध्ययन उनके सांस्कृतिक उदात्त कार्योंके अध्ययन-मननके अभावमें अपूर्ण ही कहा जायेगा। किसी जाति और सम्प्रदाय विशेषके धर्ममें सीमित करके हम उनका वास्तविक अध्ययन नहीं कर सकते। वे सम्प्रदायगत संकीर्णता, समाजगत कुरीतियों तथा खण्डन-मण्डनके अन्तःसार शून्य झंझटोंसे पृथक् एक ऐसे जाज्वल्यमान प्रकाश स्तम्भ थे जिन्होंने मानव-मात्रमें एक जीवन स्पन्दित होते देखा। कुछ समयके पश्चात् समाजने भी आपके उदात्त भावोंसे स्वयंमें सुखी और सम्मान्य जीवनके चिह्न अनुभव किये।

संस्कृति शब्दके विद्वानों-द्वारा अनेक अर्थ किये गये हैं। यहाँ उन सबकी चर्चा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। यहाँ संस्कृति शब्दके आधारपर जो उसकी सर्वमान्य परिभाषा बन सकती है उसीको लेकर हम कविवर बनारसीदासकी सांस्कृतिक देनका अध्ययन कर रहे हैं।

सम् उपसर्ग कृ धातुमें सुट्का आगम करके क्तिन् प्रत्यय लगाकर संस्कृत शब्द बनता है। इसका अर्थ है सम् अर्थात् समभाव और सदाचार-पूर्वक किये गये कृति अर्थात् कार्य।

[1]ऑक्सफ़ोर्ड डिक्शनरीमें संस्कृति (कल्चर) शब्दकी यह व्याख्या है—

1. The training and refinement of mind, tastes and manners, the condition of being thus trained and refined, the intellectual side of civilisation, the acquainting ourselves with the best that has been known and said in the world.

Oxford Dictionary.

मस्तिष्क, रुचि और आचार-व्यवहारकी शिक्षा और शुद्धि, इस प्रकार शिक्षित और शुद्ध होनेकी अवस्था, सभ्यताका बौद्धिक पक्ष, विश्वकी सर्वोत्कृष्ट ज्ञात और कथित वस्तुओंसे स्वयंको परिचित करना।"

"[1]आप्टेके संस्कृतके शब्दकोषमें 'संस्कृ' धातुके अनेक अर्थ दिये हैं—सजाना, सँवारना, पवित्र करना, सुशिक्षित करना आदि। संस्कृति शब्दके उल्लिखित इन अर्थोंसे हम सहजमें ही इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि जीवनको शुद्ध और परिमार्जित करना ही इसका आशय है। वेशभूषा और बाह्याचार आदिकी अपेक्षा संस्कृति मानव जीवनके आत्मशोधनकी ओर ही अधिक अग्रसर होती है। अन्तिम रूपमें विश्व-मानवकी संस्कृति एक ही कही जायेगी, फिर भी हम विश्लेषणकी दृष्टिसे और विभिन्न देशोंकी आचार-विचारकी पद्धतिकी भिन्न-भिन्न दृष्टिसे सम्पूर्ण विश्वकी संस्कृतिको छह वर्गोंमें विभक्त कर सकते हैं—

१. इस्लामी	(अरबी-फ़ारसी)	संस्कृति
२. ईसाई	(यूरो-अमरीकी)	संस्कृति
३. रूसी	(साम्यवादी)	संस्कृति
४. मंगोल	(चीनी, जापानी)	संस्कृति
५. अनार्य	(अफ्रीकी)	संस्कृति
६. आर्य	(भारतीय)	संस्कृति

जहाँतक भारतीय संस्कृतिकी बात है वह एक है। फिर भी सूक्ष्म दृष्टिसे प्रान्त, नगर, ग्राम, जाति, कुटुम्ब और व्यक्तिकी संस्कृति अपनी कुछ मौलिकताके साथ अलग-अलग है। इस महान् देशकी विभिन्न प्रकारकी संस्कृतिका मूलाधार अध्यात्म ही है। यह इसी प्रकार है जैसे एक सूत्रमें गुँथे हुए अनेक पुष्प अपनी अनेकता लिये हुए भी मालाके रूपमें एक अद्वितीय ऐक्यका आदर्श प्रस्तुत करते हैं।[२] "संस्कृति मनुष्यकी विविध

1. To adorn, grace, decorate, (2) to refine, polish, (3) to conscrate by repeating mantras, (4) to purify (a person) by scriptual ceremonies to perform purificatory ceremony over (a person), (5) to cultivate, educate, train, (6) make ready, proper, equip, fitout, (7) to cook (food), (8) to purify cleanse, (9) to collect, heap to gather.

२. 'अशोकके फूल', पृ० ६४, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

साधनाओंकी सर्वोत्तम परिणति है। धर्मके समान वह भी अविरोधी वस्तु है। वह समस्त दृश्यमान विरोधोंमें सामंजस्य स्थापित करती है। भारतीय जनताकी विविध साधनाओंकी सबसे सुन्दर परिणतिको ही भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है।" संस्कृतिके सम्बन्धमें इतना सभी विद्वान् मानते हैं कि मानव-समाजकी श्रेष्ठ साधनाएँ ही उस देशकी संस्कृति हैं। श्रेष्ठ साधनाएँ क्या हैं इस सम्बन्धमें विभिन्न देशोंकी पृथक्-पृथक् मान्यताएँ हो सकती हैं। पाश्चात्य संस्कृति भोगप्रधान है। भौतिक विकासको उसमे सर्वाधिक मान्यता है। पौर्वात्य और विशेषतः भारतीय संस्कृति त्यागप्रधान है। इसमें आध्यात्मिक विकासको ही सर्वाधिक मान्यता दी गयी है। पाश्चात्य संस्कृति स्थूल है। सभ्यता (बाह्य विकास) के अधिक निकट है। सभ्यताकी जहाँतक बात है वह [1]मनुष्यके बाह्य प्रयोजनोंको सहज लभ्य बनानेका विधान है और संस्कृति प्रयोजनातीत आन्तर आनन्दकी अभिव्यक्ति।"

कविवर बनारसीदासजीके सम्पूर्ण साहित्यके रग-रगमें हमें अध्यात्म-प्रधान भारतीय संस्कृतिका उज्ज्वल रूप मिलता है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सन्तोंसे इस देशकी जो संस्कृति-निधि प्राप्त की, उसे अत्यन्त विकसित, परिमार्जित एवं जनग्राह्य रूपमें जनताके सम्मुख प्रस्तुत किया। सन्तोंकी उच्च भाव-भूमिपर पहुँचकर कविवरके साहित्यने वही दिशा ग्रहण की जो सम्प्रदायगत, रूढ़िगत एवं जातिगत आचार-विचारोंकी तंग गलीकी उपेक्षा कर सम्पूर्ण मानव-जगत्का दिव्यादर्श बन सकती है। बनारसीदासने मानव-विकास (आत्मोन्नति) में बाधक जिन तत्त्वोंका अनुभव किया उनका भी निराकरण किया। अनेक मौलिक विवेचनाओं-द्वारा सांस्कृतिक इतिहासमें नवीन जीवनका संचार कर दिया। शुद्ध ज्ञानकी चर्चा करते हुए कविवर उसे ही अध्यात्मका आधार बताते हैं—

"ज्ञान[2] उदै जिनके घट अन्तर, जोति जगी मति होति न मैली,
बाहज दिष्टि मिटी जिनके हिय, आतम ध्यान कला विधि फैली।
जे जड़ चेतन भिन्न लखें, सुविवेक लिए परखें गुन थैली,
ते जग में परमारथ जानि, गहें रुचि मानि अध्यातम सैली॥"

वास्तवमें जिनके अन्तरंगमें सम्यग्ज्ञानका उदय हो गया है जिनकी आत्मज्योति जागृत है, जो शरीरमें आत्मबुद्धि नहीं रखते और जो जड़-

१. 'अशोकके फूल', पृ० ८३, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
२. 'नाटक समयसार', निर्जराद्वार छन्द २५।

चेतनको पृथक्-पृथक् जानते हैं वे ही शुद्ध आत्मानुभव करते हैं।

भारतीय संस्कृति समभाव प्रधान है। इसमें श्रम-शम और सम ये तीन मूल तत्त्व हैं। दूसरे शब्दोंमें साधना, शान्ति और समत्वकी भावना ही इस देशकी संस्कृतिके मूलमें है। उक्त तीनों ही बातें मानव आत्मामें ज्ञानकी निर्मल अवस्थामें ही झलक सकती हैं। बनारसीदासजीने इसी भावको बड़ी मार्मिकताके साथ स्पष्ट किया है—

[1]"जैसे पुरुष लखै परवत चढ़ि, भूचर पुरुष ताहि लघु लग्गै।
भूचर पुरुष लखै ताकौं लघु, उतरि मिलैं दुहु कौ भ्रम भग्गै।
तैसें अभिमानी उन्नत लग और जीव कौं लघु पद दग्गै।
अभिमानी को कहैं तुच्छ सब, ज्ञान जगै समता रस जग्गै॥"

जीव मात्रमें समभाव उत्पन्न करना हमारी संस्कृतिका बहुत बड़ा ध्येय रहा है। छोटे-बड़े, ज्ञानी-अज्ञानी, दुर्बल-सबल, कुलीन-अकुलीनके भेद-भावने एक लम्बे समयसे हमारी संस्कृतिकी स्रोतस्विनीके निर्मल प्रवाहको अवरुद्ध और विकृत कर दिया था—जो अब भी शेष है। हमारे सन्तोंने अपने उदार व्यक्तित्व और प्रतिभासे जन-जीवनको समय-समयपर जागृत किया है। बनारसीदासजी प्रत्येक प्राणीको उसकी अन्तिम विकासकी अवस्थासे देखकर ही उसका मूल्यांकन करते थे। किसी मानवको धन, जाति, बल, ज्ञान आदि किसी बातमें कुछ पीछे देख उसका असम्मान करना वे मनुष्यताका अपमान एवं ज्ञानका दिवालियापन समझते थे।

भारतवर्ष चिरकालसे ऋषियों, मुनियों और ज्ञानियोंका देश रहा है। ये महात्मा और विद्वान् अपनी शालीनता और विद्वताको आर्जव और मार्दवकी छत्रच्छायामें ही पल्लवित करते थे। यही कारण है कि आज भी इस देशकी जनतामें उनके प्रति अटूट श्रद्धा है। बनारसीदासजी भारतीय संस्कृतिके प्रतीक एक महात्माका सामान्य स्वरूप अंकित करते हैं—

"धीर के धरैया भव नीर के तरैया भय,
भीर के हरैया बरवीर ज्यों उभरे हैं।
मार के मरैया सुविचार के करैया सुख,
ढार के ढरैया गुन लौं सों लहलहे हैं।"

---

१. मोक्ष द्वार (समयसार) ४४।

[1]रूप के रिझैय्या, सब नै के समझैया सब,
ही के लघु भैया सब के कुबोल सहे हैं।
बाम के बमैया, दुख दाम के दमैया ऐसे,
राम के रमैया नरज्ञानी जीव कहे हैं॥

उक्त पद्यमें जिस अनुपम सारल्य और माधुर्यके साथ भारतीय संस्कृतिके उपासक मनीषीका चित्र प्रस्तुत किया गया है, यह बनारसी-सदृश उदाराशय सन्त कविसे ही सम्भव हो सकता है।

मानवको आत्मिक उठानको ही उसका वास्तविक अभ्युदय माना गया है। [2]"भारतीय मनीषियोंने अपने देशवासियोंमें जीवनके आवश्यक कर्तव्यों-संयम और वैराग्यकी महिमा और स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्मकी ओर झुकनेका जो प्रेम पैदा किया उसका ही परिणाम है कि भारतवर्ष दीर्घकाल तक पशु-सुलभ क्षुद्र स्वार्थोंका गुलाम नहीं बन सका। आज हम सांस्कृतिक दृष्टिसे जो बहुत नीचे गिर गये हैं उसका प्रधान कारण यही है कि हम इस महान् आदर्शको भूल गये हैं।" कविवर बनारसीदासजीने अपनी प्रमुखतम कृति 'समयसार' में इस सूक्ष्म अध्यात्मकी बड़ी मार्मिक चर्चा की है। जैन आचार्य कुन्द-कुन्दके भावोंका अत्यन्त हृदयग्राही विश्लेषण बनारसीदासजीने किया है। कविवरके इस हिन्दी पद्यमय 'समयसार' का और उनके अध्यात्म मतका प्रभाव जैन उत्तर भारतमें तो निश्चित रूपसे आज भी देखा जा सकता है। प्रत्येक जैन देवालयके शास्त्र-भण्डारमें 'समयसार' की एक-दो हस्तलिखित प्रतियाँ आज भी प्राप्त होती हैं। अध्यात्मके विस्तारमें बनारसीदासजीने जैन-जगत्में वास्तवमें अद्भुत रूपसे वरेण्य कार्य किया। कविवरकी इस सांस्कृतिक देन और अध्यात्म मतके प्रभावके सम्बन्धमें समर्थ शोधक श्री अगरचन्द नाहटा लिखते हैं [3]"यहाँके श्रावकोंका अध्यात्मकी ओर इतना अधिक प्रेम कबसे एवं कैसे हुआ यह अन्वेषणीय है। मेरे नम्र मतानुसार १७वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें दिगम्बर समाजमें कविवर बनारसीदासजीने जो आध्यात्मिक लहर लहरायी थी सम्भव है मुल्तान तक वह पहुँचकर वहाँके श्रावकोंको प्रभावित करनेमें समर्थ हुई। आध्यात्मिक

---

१. मोक्षद्वार (समयसार) ४५।
२. 'अशोक के फूल' पृ० ९०, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
३. 'जैन सिद्धान्त भास्कर' जुलाई १९४६ पृ० ५७–५८।
ले० 'मुल्तान के श्रावकों का अध्यात्म प्रेम'
ले० श्री अगरचन्द नाहटा

विषयका साहित्य श्वेताम्बर समाजकी अपेक्षा दिगम्बर समाजमें अधिक है। अतः श्वेताम्बर मुनियोंमें श्रावकोंके अनुरोधसे ज्ञानार्णव और परमात्मसार नामक दिगम्बर ग्रन्थोंकी अनुवाद रूपमें (या आधारसे) रचना भी की है।········कविवर बनारसीदासजीके अध्यात्म प्रेमने जैन समाजमें नव-जीवनका संचार किया। संवत् १६८० के लगभग तो इसका आगरेमें विकास हुआ पर थोड़े ही समयमें उसका प्रचार बहुत व्यापक हो गया प्रतीत होता है। दि० जैन समाज एवं आगरेकी सीमाको उल्लंघन कर श्वेताम्बर समाज एवं दूरवर्ती स्थानोंमें इसका प्रभाव नज़र पड़ता है। मुल्तानमें सम्भवतः संवत् १७०० के लगभग ही आध्यात्मिक लहर लहराने लगी थी। उसका संवत् १८०० तक तो उत्तरोत्तर विकास होता रहा ज्ञात होता है।"

जीवनका झुकाव स्थूल भोगोंकी ओर यदि रहा तो निश्चित रूपसे अध्यात्म-सरिता सूख जायेगी। निष्परिग्रही जितेन्द्रिय होकर ही आत्म-कल्याण सम्भव है। भारतीय सन्तोंने सदैव आत्म-निरीक्षण एवं आत्म-बोधन किया है। स्वयं परिपक्व होकर संसारको भी लाभान्वित किया है। बनारसीदासजी मनको नियन्त्रित करते हुए आध्यात्मिक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं—

[1]रे मन कर सदा सन्तोष,
जातैं मिटत सब दुःख दोष। रे मन०।
बढ़त परिग्रह मोह बाढ़त, अधिक तृषना होति,
बहुत ईंधन जरत जैसे, अगनि ऊँची जोति,
लोभ लालच मूढ़ जन सों कहत कंचन दान,
फिरत आरत नहिं विचारत धरम धन की हान,
नारकिन के पाइ सेवत, सकुच मानत संक,
ज्ञान करि बूझै बनारसि, को नृपति को रंक। रे मन०।

भारतीय संस्कृतिका मूर्त रूप समन्वयकी चिरन्तन भावना है। बनारसीदासजीने अपने साहित्यमें ऊर्ध्वबाहु होकर इसकी उद्घोषणा की है। पूर्ण सत्यका साक्षात्कार और पूर्ण सुखानुभव सर्व समभावमें ही सम्भव है।[2] "समन्वयात्मक भारतीय संस्कृतिकी भावनाको जनतामें बद्धमूल

---

१. 'बनारसी-विलास', (अध्यात्मपद पंक्ति) २२८।
२. 'भारतीय संस्कृतिका विकास' (वैदिकधारा) पृ० ४५।
—डॉ० मंगलदेव शास्त्री

करने और मूर्त रूप देनेके लिए आवश्यक है कि हम विभिन्न सम्प्रदायोंके उत्कृष्ट साहित्यको भारतीय संस्कृतिकी अविच्छिन्न धारासे सम्बद्ध मानते हुए उसे अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति और अपना दाय समझें और उससे लाभ उठायें। उनके अपने-अपने महापुरुषोंको सबका पूज्य और मान्य समझें और अपने विचारोंको साम्प्रदायिक पारिभाषिकतासे निकालकर उनके वास्तविक अभिप्रायको समझनेका यत्न करें। दूसरे शब्दोंमें, प्राचीन ग्रन्थों-के वचनोंके शब्दानुवादके स्थानमें भावानुवादकी आवश्यकता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि उपर्युक्त उपायोंके अवलम्बनसे जहाँ एक ओर हमारी अपने-अपने सम्पदायोंमें श्रद्धा बढ़ेगी, वहाँ दूसरी ओर वर्तमान साम्प्रदायिक संकीर्णताके हटनेसे सम्प्रदायोंमें परस्पर सहानुभूति, समादर और सहिष्णुताकी भावनाकी वृद्धि भी होगी। इसी प्रकार हममें समष्ट्यात्मक भारतीय संस्कृतिकी भावना बद्धमूल हो सकती है।" हमारे आराध्य सन्तोंने इसी दिशामें सुदीर्घ कालसे हमें भव्य सन्देश दिये हैं। कविवर बनारसीदासजीने आजसे तीन सौ वर्ष पूर्व ही सम्प्रदाय, जाति एवं रूढ़ियोंकी दलदलसे ऊपर उठकर सर्वधर्म समन्वयकी आदर्श घोषणा की थी।

"एक[1] रूप हिन्दू तुरक दूजी दशा न कोय,
मन की दुविधा मानकर भये एक सौं दोय॥
दोऊ भूले भरम में करें वचन की टेक,
राम राम हिन्दू कहैं, तुर्क सलामाळेक॥
इनके पुस्तक बाँचिए, वेहू पढ़ें कितेब।
एक वस्तु के नाम द्वै, जैसें शोभा जेब॥
जिनको दुविधा जो लखैं, रंगविरंगी चाम।
मेरे नैनन देखिए घट-घट अन्तर राम॥"

अपने परवर्ती हिन्दी कवियों (विशेषतः जैन कवियों) के लिए तो काव्यदिशा-निर्देशनमें बनारसीदासजीका साहित्य एक प्रकाश-स्तम्भ ही बन गया। आगेके कवियोंमें उदारता, समन्वय, अध्यात्म एवं राष्ट्रीयताकी उद्बुद्ध भावनाके प्रेरणा-स्रोत एक बड़ी सीमा तक बनारसीदासजी हैं। भैया भगवतीदास, सन्त आनन्दघन, भूधरदास, द्यानतराय एवं दौलत राम आदि कवियोंपर बनारसीदासजीकी आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय भावना-

---

१. 'बनारसी-विलास' (फुटकर पद)।

की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। परवर्ती हिन्दी-काव्य-जगत्को बनारसी-दासजीकी यह अनुपम सांस्कृतिक देन है।

धार्मिक क्षेत्रमें भी, जो भारतीय संस्कृतिका अभिन्न एवं व्यापक अंग है बनारसीदासजीकी सांस्कृतिक देन चिरस्मरणीय रहेगी। क्रियाकाण्ड, आडम्बर और भट्टारकवाद धर्मकी आत्माको भयंकर रूपसे आच्छादित कर चुके थे। भट्टारकोंकी वाणी शास्त्रोंकी वाणीके समान प्रामाणिक एवं मान्य हो रही थी। विचारकों और धर्मके सच्चे ज्ञाताओंमें धर्मके इस कुत्सित रूपके प्रति घृणा और क्रान्तिके तीव्र भाव यदा-कदा उठते थे, पर सामने आकर निर्भीकतापूर्वक विरोध करनेकी सामर्थ्य किसीमें न थी। ऐसा करनेमें नास्तिक, अधार्मिक आदि विशेषण सहजमें ही प्राप्त हो सकते थे। सामाजिक तथा धार्मिक बहिष्कारकी भी पूर्ण सम्भावना रहती थी। बनारसीदासजीने इसी बातका तीव्र अनुभव किया और किसी प्रकारकी चिन्ता न कर निर्भीकतापूर्वक उक्त कुवृत्तियोंका भण्डाफोड़ किया। जैन धर्मके मर्म अध्यात्मकी सच्ची व्याख्या करके जनताके सम्मुख उसे प्रस्तुत किया। विरोध उठते रहे परन्तु व्यर्थके मिथ्या विरोध अल्पायु ही होते हैं। आगे चलकर कविवरका अध्यात्ममत ही जैन धर्ममें तेरापन्थके नामसे विख्यात हुआ। श्वेताम्बर और दिगम्बरोंका पारस्परिक वैमनस्य दूर करनेमें आपके इस अध्यात्ममतने अभूतपूर्व कार्य किया। "श्वेताम्बरोंके[1] समान दिगम्बर सम्प्रदायके विचारशील लोगोंने भी इस अध्यात्ममतको अपनाया और उनमें यह 'तेरहपन्थ' नामसे प्रचलित हुआ। कामा, सांगा-नेर, जयपुर आदिमें यह पहले फैला और उसके बाद धीरे-धीरे सर्वत्र फैल गया।

कविवर बनारसीदासजीने संस्कृतिके क्षेत्रमें एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस देशकी संस्कृति भोगप्रधान नहीं है फिर भी कवियोंमें ऐन्द्रिक भोगोंके प्राचुर्यसे परिपूर्ण साहित्य-सृजनकी प्रवृत्ति बढ़ रही थी। सुन्दरी स्वर्ण और सुरामय रीति युगमें कवि अपनी कविताका स्वर और मिलाने लगे थे। कवि जो देशके चरित्र और संस्कृतिको अपनी कवितासे सुदृढ़ बनाता है, यह बात उस समय लुप्तप्राय-सी हो चुकी थी। सुन्दरियोंके अंग-प्रत्यंगों और हाव-भावका कामुकतापूर्ण वर्णन कविजन राजाओंके दरबारोंमें करने लगे थे। बनारसीदासजीने कवि समुदायकी इस मार्गभ्रष्टता

---

१. 'अर्धकथानक', सं० पं० नाथूराम प्रेमी, पृ० ५६। विस्तारके लिए प्रथम अध्याय देखिए।

और उत्तरदायित्वहीन प्रवृत्तिकी कटु आलोचना की तथा वास्तविक कवि कर्मका आदर्श स्वयं प्रस्तुत किया। बनारसीदासजीने कविको सत्यका ही प्रचारक और व्याख्याता माना है। सच्ची प्रतिभा-द्वारा सत्यका चित्रण अत्यन्त रोचक एवं लालित्यमय सर्वथा सम्भव है। सरसता इन्द्रिय भोगों और अश्लील वर्णनोंमें असमर्थ और निम्नकोटिके कवि ही खोजते हैं। ऐसे कवियोंके प्रति बनारसीदासजी लिखते हैं।

"[1]मांस की गरंथि कुच कंचन कलस कहैं,
कहैं मुख चन्द जो सलेसमा को घरु है,
हाड़ के दसन आहि हीरा मोती कहैं ताहि,
मास के अधर ओठ कहैं बिम्ब फरु है।
हाड़ दण्ड भुजा कहैं कौंल नाल काम भुजा,
हाड़ ही के थंभा जंघा कहैं रंभा तरु है,
यों ही झूठी जुगति बनावैं और कहावैं कवि,
ये ते कहैं हमें सारदा कौ वरु है॥"

पण्डितप्रवर दौलतरामजीने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'छहढाला'में कहा है—"नव द्वार बहैं घिन कारी असि देह करै किम यारी।"

जिस देहके नव द्वारोंसे सदैव घृणित पदार्थ निर्गत होते रहते हैं उसीकी कवियों-द्वारा अश्लीलतासे परिपूर्ण कामोत्तेजक मिथ्या प्रशंसा कहाँतक शोभास्पद हो सकती है? जो कवि समाज एवं राष्ट्रके चरित्रका निर्माता और नियन्ता कहा जाता है उसीके द्वारा उक्त कोटिका वर्णन कहाँतक उचित है? आश्चर्य तो बनारसीदासजीको तब होता है जब कि ऐसे कवि भी स्वयंको सरस्वतीका वरद पुत्र मानते हैं "ये ते पर कहैं हम सारदा को वरु है।" बनारसीदासजी कवितामें सरसता और चित्तानुरंजनका विरोध नहीं करते। हाँ, सरसता और मनोरंजन निम्न कोटिके अश्लील वर्णनोंमें ही जिन कवियोंको दृष्टिगोचर होते हैं उनका ही कविवरने विरोध किया है तथा उन्हें असमर्थ एवं कुत्सित कवि माना है। समर्थ एवं प्रतिभावान् कवि जो सरस्वतीका सच्चा उपासक है ऐसी धारणाको कदापि प्रश्रय न देगा। इस प्रकार बनारसीदासजीने कविताके क्षेत्रमें एक उज्ज्वल मर्यादा और व्यवस्थाके लिए क्रान्तिकारी सांस्कृतिक अभ्युत्थानका सुधा-सन्देश दिया।

---

१ 'समयसार', अन्तिम प्रशस्ति १८।

स्पष्ट है कि बनारसीदासजीके व्यक्तित्व, प्रतिभा और साहित्यसे समाज और देशको बहुमुखी सांस्कृतिक चेतना प्राप्त हुई। शिथिलाचार, अश्लीलता एवं अमर्यादाको कविवरने कदापि प्रोत्साहन नहीं दिया।

साहित्य-मनीषी बनारसीदासजीका संस्कृतिके क्षेत्रमें बहुमुखी भगीरथ कार्य हुआ। इस सम्पूर्ण कार्यके पीछे एक सर्व-समन्वयका ही कविका अक्षुण्ण एवं अटल उद्देश्य था। वास्तवमें उदार दृष्टिके अभावमें इस महान् देशकी संस्कृतिको समझना सम्भव नहीं है। आजके वैज्ञानिक युगमें जब कि संसार एक कुटुम्बवत् होता जा रहा है, सम्प्रदायों, जातियों, विभिन्न धर्मों और व्यक्तिगत दुराग्रहोंकी चर्चा अथवा हठ एक राष्ट्रीय ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है। एक-दूसरेको शुद्ध हृदय और समादरसे समझे बिना हम पूर्ण नहीं कहे जा सकते।

[1]"विभिन्न सम्प्रदायोंके उत्कृष्ट साहित्यको, भारतीय संस्कृतिकी अविच्छिन्न परम्परासे सम्बद्ध मानकर ही, पढ़नेसे जहाँ एक ओर हम भारतीय संस्कृतिकी धारा और प्रवाहके स्वरूपको जान सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर उन सम्प्रदायोंकी वास्तविक पृष्ठभूमिको और भारतीय संस्कृतिमें उनकी देन, स्थान और उपयोगिताको भी ठीक-ठीक समझ सकते हैं।

उदाहरणार्थ बौद्ध और जैन सम्प्रदायोंके प्रभावको समझे बिना हम गृह्यसूत्रों, श्रौतसूत्रों आदिमें वर्णित वैदिक धर्मके कालान्तरमें होनेवाले पौराणिक धर्मके रूपमें महान् परिवर्तनको समझ नहीं सकते। सिद्धों और सन्तोंके साहित्यके परिचयके बिना शूद्र कहलानेवाली जातियोंके सम्बन्धमें होनेवाले क्रमिक दृष्टि-परिवर्तनको नहीं समझा जा सकता। भारतवर्षमें इसलामके प्रभावको समझे बिना महात्मा कबीर और नानकके स्वरूपको और सिक्ख सम्प्रदायके उत्थानको हम नहीं समझ सकते। इसी तरह क्रिश्चियन धर्मके प्रभावको समझे बिना हिन्दू धर्मके आर्यसमाज ब्रह्मसमाज आदि नवीन आन्दोलनोंको तथा रामकृष्ण सेवाश्रमजैसी संस्थाके उदयको कैसे समझा जा सकता है?

भारतीय संस्कृतिकी अविच्छिन्न प्रगतिशील परम्पराकी दिव्य दृष्टिसे ही हमें भारतीय संस्कृतिके विकासमें व्यास, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकर, कबीर आदि सन्त, दयानन्द और गान्धी आदि महापुरुषोंकी देन और

---

१ 'भारतीय संस्कृतिका विकास', पृ० ४६, ले० डॉ० मंगलदेव शास्त्री।

महत्ताका स्पष्ट अनुभव हो सकता है। अध्यात्म सन्त बनारसीदासजीने आजसे तीन सौ वर्ष पूर्व जब कि हमारी सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिस्थितियोंमें भारी संकीर्णता घर कर चुकी थी, संस्कृतिके इसी महान् सन्देशकी पावन घोषणा की थी।

"एक रूप हिन्दू तुरक दूजी दशा न कोय,
मन की दुविधा मान कर भये एक सौं दोय।

... ...
मेरे नैनन देखिए-घट घट अन्तर राम"

... ...
'तिलक तोष माला विरति, मति मुद्रा श्रुति छाप।
इन लच्छन सो बैसनव, समुझै हरि परताप॥
जौ हर घट मैं हरि लखै, हरि बाना हरि बोइ।
हर छिन हरि सुमरन करै, विमल बैसनव सोइ।
जो मन मूसै आपनौ, साहिब के रुख होइ।
ज्ञान मुसल्ला गहि टिकै, मुसलमान है सोइ॥"[1]

सुप्रसिद्ध शोधक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं —

"[2]बीकानेर — जैन लेखसंग्रहमें अध्यातमी सम्प्रदायका उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है। वह आगरेके ज्ञानियोंकी मण्डली थी जिसे सैली कहते थे। अध्यातमी बनारसीदास इसीके प्रमुख सदस्य थे। ज्ञात होता है कि अकबरकी 'दीने इलाही' प्रवृत्ति भी इसी प्रकारकी आध्यात्मिक खोजका परिणाम थी। बनारसमें भी अध्यात्मियोंकी एक सैली या मण्डली थी। किसी समय राजा टोडरमलके पुत्र गोवर्धनदास इसके मुखिया थे।"

[3]"बनारसीदासजी ऐसी ही अध्यातम सैलीके प्रमुख सदस्य थे और जैन थे — श्वेताम्बर या दिगम्बर नहीं। वे परमत-सहिष्णु और विचारोंमें उदार थे।"

अन्तमें कविवर बनारसीदासजीके सम्बन्धमें उपर्युक्त विवेचनाके आधार-पर हम कह सकते हैं कि वे किसी सम्प्रदाय, जाति या वर्ग-विशेषके

---

१. 'बनारसी-विलास' फुटकर पद।
२. मध्यकालीन नगरोंका सांस्कृतिक अध्ययन, जैन सन्देश, जून १९५७।
३. 'अर्धकथानक' सम्पा० पं० नाथूराम प्रेमी, पृ० ३८।

प्रतिनिधि न होकर मानव मात्रके अपने थे और उसी रूपमें आज भी वे अपनी कृतियों और यशःशरीरसे हमारे साथ हैं।

अर्धकथाके ऐतिहासिक उल्लेखोंका अनुसन्धान

ऐतिहासिक उल्लेखोंकी दृष्टिसे भी कविवर बनारसीदासजीका अर्ध-कथानक भारी महत्त्व रखता है। अपनी जीवन-घटनाओंके साथ-साथ कविने कुछ राजनैतिक सामाजिक एवं ऐतिहासिक घटनाओंका भी यथा-वसर उल्लेख किया है। सम्पूर्ण कृतिमें दो प्रकारके ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त होते हैं—एक वे हैं जिनका सम्बन्ध कविके जन्मकालसे पूर्वका है—सुदूरपूर्वका है। और दूसरे प्रकारके वे उल्लेख हैं जिनका सम्बन्ध कविके जीवन-कालसे है। यहाँ यद्यपि हमें पहले प्रकारके उल्लेखोंपर विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि कविका उन उल्लेखोंसे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, फिर कविसे ऐसे उल्लेखोंमें भूलें भी हो सकती हैं और हुई हैं। कविने स्वयंसे पूर्वके ऐतिहासिक उल्लेखोंके सम्बन्धमें अपनी अल्पज्ञता अत्यन्त सरल भावसे स्पष्ट कर दी है। वे लिखते हैं—

"बरिस तीन सौ की यहु बात ॥ ३६ ॥
हुते पुव्व पुरखा परधान, तिनके बचन सुने हम कान।
बरनी कथा जथा सुत जेम, मृषा दोष नहि लागे एम ॥ ३७ ॥"[1]

बनारसीदासजीका कोई ऐतिहासिक अध्ययन तो था नहीं और उनके समयमें यह सुलभ भी नहीं था। कविने इन उल्लेखोंमें अपने पूर्व-पुरुषोंकी स्मृतियों-चर्चाओंसे ही सहारा लिया है। इन उल्लेखोंकी त्रुटियोंके लिए हम कविको दोषी नहीं ठहरा सकते क्योंकि वे लिखनेके पूर्व ही क्षमा-याचना करते हैं और उन उल्लेखोंकी सन्दिग्ध ऐतिहासिकता स्पष्ट भी कर देते हैं। यहाँ कविके समयसे पूर्वके प्रमुख उल्लेखोंका अनुसन्धान इस हेतुसे कर लिया है ताकि वह भी कुछ स्पष्ट हो जाय और कविवरकी जन्मभूमि जौनपुरका संक्षिप्त इतिहास भी हमारे सम्मुख आ सके। दूसरे प्रकारके उल्लेखोंको इस प्रकरणमें इतिहासकी कसौटीपर कसना अधिक युक्तिसंगत होगा। इससे कविकी अपने समयकी ऐतिहासिक जानकारीका भी हमें स्पष्ट परिचय मिल सकेगा।

---

१. 'अर्धकथा', छन्द ३६, ३७।

अर्धकथानकके जिन ऐतिहासिक उल्लेखोंपर हम विचार करेंगे वे निम्नलिखित हैं—

कविके जन्मकालसे पूर्वके जौनपुरके नौ बादशाहोंके नाम—

१[1]. जौनाशाह, २. बबक्करशाह, ३. सुरहर सुलतान, ४. दोस्त मुहम्मद, ५. शाह निजाम, ६. विराहिम शाह, ७. हुसैन शाह, ८. गाजी, ९. बख्या सुल्तान।

२. जौनपुरका निर्माता जौनाशाह था और नगरका यह नाम (जौनपुर) जौनाशाहने ही रखा था। यह जौनाशाह ही नगरका प्रथम बादशाह होकर आया था।

कविके जीवनकालके ऐतिहासिक उल्लेख, अर्धकथानकमें निम्नलिखित हैं—

१.[2] संवत् १६५३ (१५९६-९७ ई०) में अकाल पड़ा। अन्न दुष्प्राप्य एवं मँहगा हो गया। जनता अत्यन्त दुःखी थी।

२.[3] संवत् १६५४-५६ (१५९७-१५९९ ई०) में जौनपुर नगरका शासक नवाब कलीच था उसने जौनपुर नगरके जौहरियोंपर इतने अत्याचार किये कि उन्हें अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए जौनपुर छोड़कर भागना पड़ा। जब कलीच संवत् १६५६ (१५९९-१६०० ई०) में आगरे चला गया तब सभी जौहरी जौनपुर लौट सके।

३.[4] संवत् १६५७ (१६०० ई०) में शाहजादा सलीम लबक जाते समय जौनपुर रुका। इतनेमें अकबरका आदेश आया कि शाहजादेको आगे न बढ़ने दिया जाये। लघुकलाल झम्मू सुलतान और नूरमखाँ, जो क्रमशः जौनपुरके हाकिम और गढ़पति थे शाहजादेसे युद्धके लिए तैयार हो गये। शाहजादे सलीमने लड़ाई रोक ली। उसने लालीबेग नामक एक व्यक्ति-द्वारा नूरमको कुछ प्रलोभन दिखाया और अन्तमें नूरमने शाहजादेसे क्षमा माँगी।

४.[5] संवत् १६६२ (१६०५ ई०) कातिकमें बावन वर्षकी बाद-

१. 'अर्धकथा', ३२, ३३, ३४।

२. वही, छन्द १०४।

३. वही, छन्द ११०-१४८।

४. वही, छन्द १४९-१६७।

५. वही, छन्द २४६-२६१।

शाहीके पश्चात् अकबरकी आगरामें मृत्यु हो गयी। शाहज़ादा सलीम उसके कुछ ही दिनों बाद 'नूरुद्दीन जहाँगीर'के नामसे विख्यात होकर अकबरका उत्तराधिकारी बना।

५. [1]संवत् १६७१ (१६१४–१५ ई०) में मीर चोन कलीचखाँ (पिछले कलीचका बेटा) जौनपुर शहरका शासक बना। सं० १६७२ (१६१५–१६ ई०) मे उसकी मृत्यु हो गयी। दो वर्ष बाद मीर आगानूर जौनपुरका हाकिम बनकर जा ही रहा था कि आगरे फिर लौट गया।

६. [2]संवत् १६७३ (१६१६–१७ ई०) में आगरेमें मरीका रोग पहली बार फैला। संख्यातीत चूहे मरते थे। वैद्य दूसरोंका क्या अपना भी बचाव न कर पाते थे — स्वयं मर रहे थे। लोगोंने शीघ्र ही आगरा छोड़ दिया और अन्यत्र जा बसे। कुछ समय बाद जब प्रकोप शान्त हुआ तब लोग घर लौटे।

७ [3]संवत् १६८४ (१६२७ ई०) में बाईस वर्ष तक राज्य करनेके पश्चात् कश्मीरसे लौटते समय अचानक ही जहाँगीरकी मृत्यु हो गयी। जहाँगीरकी मृत्युके चार माह पश्चात् शाहजहाँ गद्दीपर बैठा।

क्रमशः सभी उल्लेखोंका अनुसन्धान—

१. खिलजी वंशके पश्चात् दिल्लीका शासन तुग़लक वंशके हाथमें आया। इस वंशका ग़ाज़ी तुग़लक दिल्लीका प्रथम बादशाह हि० ७२१ (संवत् १३७८) में हुआ और हि० ७२५ में मर गया।

इसके पश्चात् उसका बेटा मलिक फ़खरुद्दीन जौना (सुल्तान नासिर उलदीन मुहम्मद शाह) दिल्लीके सिंहासनपर बैठा, यही व्यक्ति मुहम्मद तुग़लकके नामसे भी विख्यात है। सन् ७५२ मे सिन्धमें इसकी मृत्यु हो गयी।

फ़खरुद्दीन जौना (मुहम्मद शाह) के कोई सन्तान न थी, अतः उसके काका सालार रज्जबका बेटा फ़ीरोज़शाह उसका उत्तराधिकारी बना और बादशाह हुआ।

---

१. 'अर्धकथा' छन्द ४६१–४७५।

२. वही, छन्द ५६३–६७।

३. वही, ६०६–६०७।

[1]प्राप्त इतिहासके आधारपर जौनपुरका महत्त्वपूर्ण एवं तथ्यात्मक इतिहास फ़ीरोजशाहके समयसे विशेष प्रकाशमें आता है।

जौनपुरका निर्माण

सन् १३५३ फ़ीरोजशाहने हाजी इलियसके विरुद्ध बंगालपर प्रथम चढ़ाई की। हाजी इलियसने स्वयंको शमसुद्दीन घोषित कर दिया था तथा पश्चिममें बनारस तक अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। इस चढ़ाईको जाते समय फ़ीरोजशाहने गोरखपुर एवं चम्पारनका मार्ग स्वीकार किया था, परन्तु सम्भवतः लौटते समय वह जाफ़राबादसे लौटा और सन् १३५९ में दूसरी बार शमसुद्दीनके बेटे सुलतान सिकन्दरपर चढ़ाईके लिए प्रस्थान किया, परन्तु मार्गमें अति वर्षा होनेके कारण जाफ़राबाद ही रुक जाना पड़ा। इस प्रकार दो बार फ़ीरोजशाहको गोमतीके तटपर रुकना पड़ा। [2]सम्भवतः दूसरी बार उसे अधिक समय तक रुकना पड़ा था और तभी वहाँकी गोमतीके तटों और चौरस भूमिने उसे मन्त्रमुग्ध कर दिया। इससे उसके मनमें एक सुन्दर नगर-निर्माणकी योजना उठी और कुछ ही समयमें नगर-निर्माणकी आज्ञा भी दे दी गयी। नगर बन गया। जिन वर्षोंमें नगरका निर्माण हुआ उनका ठीक-ठीक पता अभी नहीं लग सका है। इतना कहा जा सकता है कि नगर-निर्माणका प्रारम्भ एवं

---

1. 'The History of Jaunpur becomes of mere importance with the accession of Firozshah. The next Sultan of Delhi' Jaunpur Gazetteers p. 152

2. "The Sultan then marched through Kanouj and Oudh to Jaunpur. Before this time there was no town of any extent. (Shabri abadan) there. But the Sultan observing a suitable site, determined upon building a large town. He accordingly stayed there six months and built a fine town on the banks of the Kowah (the ejumti) to which he determined to give the name of Sultan Mahummad Shah, son of Tughlak Shah, and as that sovereign bere the name of Jauna he called the place Jaunahpur (Jaunpur)."

Tarikhi Firozahahi P.43.44
by S. Siroz. Afif.

समाप्ति सन् १३५९ एवं १३६४ के बीचमें ही हुई होगी। इन्हीं वर्षोंमें जौनपुरकी प्रगति देखने फ़ीरोजशाह जौनपुर लौटा था।

हि० सन् ७९० मे ९० वर्षकी अवस्थामें फ़ीरोजशाहका प्राणान्त हो गया। उसके पश्चात् उसका पोता गयासुद्दीन तुग़लक गद्दीपर बैठा। सन् ७९१ मे इसकी मृत्यु हो गयी। फिर उसका चचेरा भाई अबूबक उत्तराधिकारी बना। इसकी मृत्युके पश्चात् इसका काका मुहम्मदशाह बादशाह बना, वह भी शीघ्र ही ७९६ मे मर गया। उसका बेटा हुमायूँ भी डेढ़ महीने तख्तपर बैठकर मर गया। इतना कहा जा सकता है कि नगर-निर्माणका आरम्भ और समाप्ति सन् १३५९ और १३६४ के मध्य हुई होगी। इन्ही वर्षोंमें सम्भवतः फ़ीरोजशाह जौनपुर नगरकी प्रगति देखने वहाँ एक बार लौटा था।

जौनपुरके नामकरणपर विभिन्न मत

जौनपुरके निर्माणकर्त्ता और प्रथम बादशाहके सम्बन्धमें जैसी भ्रामक धारणाएँ मिलती हैं, उसके नामकरणके सम्बन्धमें उससे भी अधिक मत-मतान्तर मिलते हैं, जो इतिहासकी अपेक्षा जनश्रुतियों और धार्मिक कथाओं-पर अधिक आधारित है। जौनपुर गजेटियरमें इन मतोंको, विस्तृत चर्चा की गयी है। जौनपुरके पुरातन सूक्ष्म इतिहासपर गजेटियर-द्वारा विस्तृत प्रकाश पड़ता है। जौनपुर नगरकी ऐतिहासिकताके सम्बन्धमें जौनपुर गजेटियरकारने लिखा है—

"[1] Materials for the early history of Jaunpur are not yet forthcoming, and little is known beyond the fact that there stood a city in ancient days on the banks of Gumti occupying the site of the present town. Even its name, however, is uncertain, and many arguments have been advanced as to the derivation of Jaunpur."

ब्राह्मण मत—

प्रसिद्ध ऋषि जमदग्नि गोमतीके तटपर जमैथा (Jamaitha) जो जौनपुर और जाफ़राबादके बीच है, रहते थे। उनके नामसे ही स्थानपर प्रारम्भमें जमदग्निपुर था फिर जौनपुर हो गया।

---

१ 'जौनपुर गजेटियर', पृ० १४४।

[1]हिन्दू जनश्रुति है कि जब श्री रामचन्द्रजी अयोध्यामें शासन कर रहे थे, यह ज़िला एक राक्षसने घेर रखा था जिसका नाम केरालवीर या केरारवीर था। एक युद्ध हुआ जिसमें केरारवीर हत हो गया। राक्षस केरारवीरका नाम आज भी वहाँके केरार मुहल्लेमें सुरक्षित है और उसकी समाधि गोमतीके वाम तटपर स्थित है। उस समाधिमें एक मूर्ति है जो मनुष्यकी पीढ़से मिलती-जुलती है, यद्यपि यह बताया जाता है कि यह आकाररहित पिंग क़िलेके टीलेके काउण्टरका प्रतिनिधित्व करता है, जब कि एक मांस-द्वारा इसका मुकुटारोहण हुआ था, जो मन्दिर ११६८में कन्नौजके विजयचन्द्रने बनवाया था और फ़ीरोजने उसे अपने नये क़िलेके लिए सुन्दर और मजबूत पत्थरोंके लिए नष्ट किया था। हिन्दू भवनोंको ऐसी निरोहताके साथ नष्ट किया गया था कि अब बड़ी कठिनतासे ही कोई अवशेष प्राप्त हो सके। जौनपुरमें आज जो बड़े-बड़े मुसलिम गढ़ और इमारतें हैं वे सब हिन्दू मन्दिरों और राजमहलोंके पत्थरोंसे बने हैं। तथा जिन पत्थरोंपर शिल्पादि था उन्हें दीवारके भीतरी हिस्सोंमें दबा दिया गया है,[2] अतः बिना किसी अतिशयोक्तिके यह कहा जा सकता है कि जौनपुरका सच्चा प्रामाणिक इतिहास वहाँकी बड़ी-बड़ी मस्जिदोंकी दीवारोंमें छिपा पड़ा है।

[3]जौनपुर नगरका नाम मुसलमान मूलक है यह निश्चित हो चुका है।

मुहम्मद बिन तुग़लक—जिसका वास्तविक नाम जूना था—के नामसे ही इस नगरका नाम जौनपुर पड़ा। फ़ीरोजशाहने इसी अपने चचेरे भाईके आदरमें इस नगरका नाम जूनापुर रखा था। बात ऐसी है कि जब फ़ीरोजशाह इस शहरका निर्माण करा रहा था उसे एक रात स्वप्नमें अपने भतीजेका शरीर दिखा जिसने प्रार्थना की कि जूनके नामको इस शहरके नामके साथ जोड़कर उसे स्मरण किया जाना चाहिए। उसकी स्मृतिमें

१. जौनपुर गजेटियर, पृ० १४५।

2. Jaunpur Gazetteers P. 146
"And it is no exaggeration to say that the early history of the town lies hidden in the walls of the grand mosques of the Shanki dynesty." P. 146

3. "It is practically certain that the present name is of Musalman origen. Jaunpur G. P. 146

इसका नामकरण होना चाहिए। ऐसा ही हुआ। आज भी जनताके सामान्य व्यक्ति जौनपुर न कहकर जवानपुर या जयनपुर कहते हैं।

२. **मुबारकशाह**—सन् १३९९ में ख्वाजा जहाँकी मृत्यु होनेके उपरान्त करनफल नामका एक लड़का जिसे उसने गोद लिया था जौनपुर राज्यका उत्ताराधिकारी बना और अपना नाम मुबारकशाह घोषित करा दिया। दो वर्ष पश्चात् सन् ८०४ (संवत् १४५८–५९) में मृत्यु हो गयी।

३. **इब्राहीमशाह**—मुबारक शाहके कोई सन्तान न थी अतः इसके भाई इब्राहीमको उत्ताराधिकारी बनाया गया। सन् ८४४ (संवत् १४९६) में इसकी मृत्यु हो गयी। जौनपुरका सर्वाधिक विख्यात शासक यही हुआ। नगरीमें सुन्दर भवनोंका निर्माण—जिनमें-से कुछ आज भी है—इसीने कराया था। इसका कोर्ट तो अपने समयका स्वर्ग ही था—उसमें अपने समयके दिग्गज विद्वान् काजी शहाबुद्दीन तथा शाहमदार थे।

४. **महमूदशाह** (इब्राहीम शाहका ज्येष्ठ पुत्र) दिल्लीके शासक बहलोलसे युद्ध करते-करते सन् ८६२ (संवत् १५१४-१५१५) में बीस वर्षके शासनके पश्चात् शमसाबाद कैम्पमें इसकी मृत्यु हो गयी।

५. **मुहम्मदशाह**—(महमूदका भाई) इसने बहलोलसे सन्धि कर ली। बहलोलके दिल्ली पहुँचनेके पूर्व ही उसकी पत्नीने कहा कि उसका भाई कुतुबखान क़ैदी बनाकर जौनपुर ले जाया गया है उसे रिहा कराइए। बहलोल फिर जौनपुर लौटा। यहाँ मुहम्मद शाह अपने चार भाइयोंसे कलह करता हुआ सन् १४५९ में मारा गया। इसने केवल पाँच महीने तक राज्य किया।

६. **हुसेनशाह**—(मुहम्मद शाहका भाई) इसने बुन्देल खण्ड, बघेल खण्ड एवं ग्वालियरको जीतकर अपना जौनपुर राज्य विस्तृत किया। बहलोलसे इसके कई युद्ध हुए, अन्तमें बहलोलने इससे जौनपुर छीन लिया। जौनपुरके मुबारक खान लोहानीको वहाँका राज्यपाल बना दिया। परन्तु थोड़े ही दिनोंमें हुसेनशाहने सेना एकत्र करके फिर जौनपुरपर आक्रमण किये। बहलोलने अपने पुत्र बारबकको जौनपुर भेजा और स्वयं भी पीछे-पीछे गया। बादमें बारबक ही जौनपुरका राज्यपाल बना।

७. **बारबुक शाह**—(बहलोलका बेटा) सन् १४८८ में बहलोलकी मृत्युके अनन्तर उसका छोटा बेटा निजामखाँ दिल्लीका बादशाह बना

और सुलतान सिकन्दरके नामसे विख्यात हुआ। बारबुक सिकन्दरका बड़ा भाई था अतः स्वयं दिल्लीका शासक होना चाहता था, इसलिए सिकन्दरसे युद्ध किया, पर हार गया। सिकन्दरने जौनपुर तो बारबुकको लौटा दिया परन्तु यत्र-तत्र अपने हाकिम बैठा दिये। आगे चलकर बारबुक बड़ा अयोग्य सिद्ध हुआ और शासन न सम्हाल सका अतः १४९४में गिरफ़्तार करके दिल्ली भेज दिया गया और जौनपुरका शासन जमालखान सारंगाखानी (शेरशाहका बाल्यकालीन संरक्षक) को सौंप दिया।

८. सिकन्दर—शीघ्र ही सिकन्दर स्वयं जौनपुर आ गया और छह महीने रहा। वहाँके भवन, दरबार तथा अन्य सभी पुराने वंशोंकी निशानियाँ चकनाचूर करता रहा।

९. जलालुद्दीन—सिकन्दर सन् १५१७ में मरा। उसका उत्तराधिकार उसके पुत्र इब्राहीम लोदीको मिला। सिकन्दरका दूसरा बेटा जलालखान उस समय कालपीका राज्यपाल था। उसने शीघ्र ही इब्राहीमसे युद्ध करके जौनपुर अपने मातहत कर लिया और जलालुद्दीनके नामसे विख्यात हुआ। अपने सिक्के भी चलाये। बादमें जलालुद्दीनको आगरा आना पड़ा। उस समय आगरा ही हिन्दुस्तानकी राजधानी था। आगराके गवर्नर मलिक आदम धक्काने जलालसे जौनपुर छीन लिया। इसके बाद इब्राहीम दो वर्ष तक जौनपुरका शासक रहा परन्तु कुछ न कर सका।

१०. सुल्तान मुहम्मद लोहानी—बिहार और जौनपुरका कुछ समयके लिए शासक रहा, परन्तु शीघ्र ही बाबरकी फ़ौजने खदेड़ भगाया। जनैद बिरलासको जौनपुरका शासक बनाया। हुमायूँ स्वयं जौनपुरमें कुछ समय तक रहा और उसकी प्राचीन प्रतिष्ठाको पुनः बढ़ाया।

११. जलालुद्दीन लोहानी—सुल्तान मुहम्मद लोहानीकी बिहारमें मृत्युके पश्चात् उसके पुत्र जलालुद्दीन लोहानीने उसका उत्तराधिकार लिया। इसका शासन-काल अत्यल्प रहा।

१२. महमूद लोदी—सन् १५३० में बाबरकी मृत्यु हो चुकी थी। अगले वर्ष जब कि हुमायूँ कलिंजरके युद्धमें व्यस्त था। महमूद लोदीने शेरखानके सहयोगसे जौनपुर जीत लिया।

१३. शेरशाह—आगे चलकर हुमायूँने जौनपुरकी ओर प्रस्थान किया, परन्तु शेरशाहको अधिकार देकर लौट गया।

इस प्रकार जौनपुर स्वतन्त्र न हो सका और आगे चलकर मुग़लोंके समयमें भी वहाँ राज्यपालोंकी नियुक्ति होती रही। यह जौनपुरका संक्षिप्त इतिहास है। इसीसे हमारा यहाँ विशेष प्रयोजन है।

अब हम कविवर बनारसीदास-द्वारा अर्धकथानकमें गिनाये गये जौन-पुरके बादशाहोंकी वास्तविकतापर विचार करेंगे।

१. अबतक साधारण जनता जिसने जौनपुरका ऐतिहासिक अध्य-यन नहीं किया है, जौनाशाहको ही जौनपुरका प्रथम बादशाह समझती है। ऐसा समझनेका प्रमुख कारण नगर जौनपुरका नामकरण जौनाशाहके नामके साथ होना है। आज कहा भी जाता है कि जौनाशाहने बसाया था। सम्भवतः अपने पूर्व पुरुषोंसे यही सुनकर बनारसीदासजीने भी जौनपुरका प्रथम बादशाह जौनाशाह लिख दिया। वास्तवमें जौनपुरका प्रथम बादशाह फ़ीरोज़शाह है।

२. कविने दूसरा बादशाह बबक्करशाह लिखा है। यह निश्चित रूपसे फ़ीरोज़शाह बारबुक ही है। बहुत सम्भव है फ़ीरोज़शाह बारबुकके अत्याचारोंसे त्रस्त हो भयके कारण जनताने बारबुकको बबक्कर कहा हो।

३. तीसरा नाम सूरहर सुलतानका है। यह नाम ख्वाजा जहाँका है – जिसका आरम्भिक नाम मलिक सरवर था। सरवरका अपभ्रंश सुरहा हो गया है।

४. चौथा नाम दोस्त मुहम्मदका है। इस नामका कोई भी व्यक्ति जौनपुरका बादशाह नहीं हुआ है। पं० नाथूराम प्रेमी लिखते हैं – [1]"वह मुबारिकशाह है जिसका नाम करनफल था, शायद जौनपुरवाले उसे दोस्त मुहम्मद कहते थे।" मुबारिक शाहको इतिहासमें कहीं भी दोस्त मुहम्मद नहीं कहा गया है। हो सकता है कविको बादशाहोंके क्रमकी भी ठीक जानकारी न हो अतः पाँचवें बादशाह मुहम्मदशाहके लिए ही दोस्त मुहम्मद लिखा हो। मुबारिकशाहकी अपेक्षा मुहम्मदशाह अधिक निकट लगता है।

१. 'अर्धकथा', सं० पं० नाथूराम प्रेमी, पृ० ९०।

५. पाँचवाँ नाम शाह निजाम लिखा है। इस नामका भी कोई बादशाह जौनपुरमें नहीं हुआ।

६. छठा नाम शाह बिराहम लिखा है। यह तो निश्चित रूपसे इब्राहीम शाह ही है। शब्दमें कविके समय तक आते-आते इतना विकार भी सम्भव ही है।

७. सातवाँ शाह हुसैन है। यह बादशाह महमूदशाह और मुहम्मदशाहके बाद हुआ था। बनारसीदासजीने बीचके इन दो बादशाहोंका — कमसे कम महमूद शाहका नाम तो लिखा ही नहीं है।

८. आठवाँ नाम ग़ाजी है। हो सकता है यह व्यक्ति सैयद बहलोल लोदी हो क्योंकि शाह हुसैनके पश्चात् यही जौनपुरका मालिक हुआ था। प्रेमीजीका भी यही मत है। सम्भवत: यह नाम सर्वथा ग़लत ही हो।

९. कविवरने नवाँ नाम बख्या सुलतान लिखा है। इतिहासमें यह नाम कहीं नहीं मिलता है। हो सकता है यह नाम आगे होनेवाले सुलतान मुहम्मद लोहानी नामक हाकिमके लिए लिखा हो। प्रेमीजी लिखते हैं— 'वह बहलोलका बेटा बारबुकशाह हो सकता है जिसे बापने जौनपुरका राज्य दिया था।'' परन्तु ऐसा नहीं है। यदि हम ध्यानसे अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि कविने नामोंके साथ बादशाहोंके अनुक्रममें भी भूल की है। अत: हमें कविके द्वारा दिये गये नामोंको अनुक्रमसे बैठानेका मोह छोड़ना ही होगा। बनारसीदासजीने लिखा अवश्य है—'अनुक्रम भये तहाँ नव साह' परन्तु इस अनुक्रमको वे निभा नहीं सके हैं।

कविके जीवन-कालके ऐतिहासिक उल्लेख

१. प्रथम उल्लेखके सम्बन्धमें पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त हैं कि १५९६-९७ ई० में देशमें एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था। अकबरके शासनकी इकतालीसवें वर्षकी चर्चा करते हुए अकबरनामामें अबुलफ़ज़लने लिखा है–[1] "इस वर्ष वर्षा बहुत ही कम हुई, चावल बहुत मँहगा हो गया।

1. In this year there was little rain, and the price of rice rose high. Celestial influences were propitious, and those learned in the stars announced dearth and scarcity. The kind-hearted Emperor sent experienced officers in every direction to supply food every day to the poor and destitute.

Illiot p. 94 pp. 193. 194 too
Abul Fazal (Akbar)

अन्नका सर्वत्र अभाव-सा हो गया। दयालु सम्राट्ने सभी दिशाओंमें अनुभवी हाकिमोंको भेजकर दुखियों और निर्धनोंको अन्नादिकी व्यवस्था करायी। सभी समर्थ असमर्थोंकी यथाशक्ति सेवा करते रहे।

२. दूसरेके सम्बन्धमें भी ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त होते हैं। "मआसिरुल[1] उमरामें उल्लेख मिलता है कि १००० हिजरी (१५९२–९३ ई०) में जौनपुर कुलीचखाँकी जागीरमें शामिल कर दिया गया था। चीनो कुलीचखाँके सम्बन्धमें पं० नाथूराम प्रेमीने भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं, "कुलीचखाँ इन्दूजानका रहनेवाला जानो कुरबानी जातिका एक तुर्क था। इन्दूजान तूरान देशका एक शहर है। कुलीचखाँके बाप-दादा मुग़ल बादशाहोंके नौकर थे। सफर सन् १००० (संवत् १६४८) में जौनपुर भी जागीरमें दे दिया गया। बनारसीदासजीने संवत् १६५५ में कुलीचखाँका जौनपुरमें होना लिखा है सो सही है, क्योंकि प्रथम तो जौनपुर कुलीचखाँकी जागीरमें ही था, दूसरे संवत् १६५३ में उसकी तैनाती भी इलाहाबादके सूबेमें हो गयी थी जिसके नीचे जौनपुर था। ये दोनों उल्लेख आईने अकबरी आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंके आधारपर ही उक्त विद्वानोंने किये हैं।

३. तीसरे उल्लेखके सम्बन्धमें भी समर्थ शोधक डॉ० माताप्रसाद गुप्तने डॉ० बेनीप्रसादकी 'जहांगीर' नामक पुस्तकसे एवं पं० नाथूराम प्रेमीने तुजुक जहांगीरीसे पर्याप्त प्रमाणों-द्वारा सिद्ध कर दिया है कि जहांगीर अवश्य ही १६०० ई० में जौनपुर गया था और लाल बेगको जौनपुरका हाकिम नियुक्त किया था। [2]"सफ़र सन् १००९ (दिव्० सुदी तीज संवत् १६५७) को शाह सलीम इलाहाबादके क़िलेमें पहुँचे और आगरेसे इधरके बहुत-से परगने लेकर अपने नौकरोंको जागीरमें दे दिये। इसी समय जौनपुरकी सरकार लालबेगको दे दी।

इससे जाना जाता है कि शाह सलीमने लालबेगको जो जौनपुर दिया था, नूरम सुलतान लाल बेगको लेने नहीं देता होगा, जिसपर शाह सलीम शिकारका बहाना करके गया था, फिर नूरमबेगके हाज़िर होनेपर लालबेगको वहाँ रख आया होगा।"

---

१. अर्धकथा भूमिका पृ० ८६, सं० द्वारा डॉ० माताप्रसाद गुप्त।

२. 'अर्धकथा', भूमिका पृ० ६४, सं० द्वारा पं० नाथूराम प्रेमी।

४. चतुर्थ[1] उल्लेखकी पुष्टि तो इतिहासकी छोटीसे छोटी पुस्तक भी करती है। बड़े-बड़े इतिहास ग्रन्थोंमें तो इसके प्रचुर ऐतिहासिक साक्ष्य हैं ही। अन्तिम समयमें भी सम्राट् अकबर अस्वस्थ हो गये। उनकी अत्यन्त गिरती हुई दशा देखकर खानई आजम और राजा मानसिंहने सलीमकी जनतामें निन्दा की और अकबरके बाद सुलतान खुशरु (उसका पुत्र) को गद्दी प्राप्त होनेकी चर्चा की। इससे जनतामें बड़ा क्षोभ फैला, विरोध हुआ और ज्यों ही सलीम सम्राट्के पास पहुँचा कि सम्राट्ने अपना उत्तराधिकार उसे सौंपनेकी पूर्ण व्यवस्था कर दी और कुछ समय बाद सलीमको साम्राज्य मिल भी गया। "१६०५ ई० में सम्राट् अकबरकी मृत्युके समय सलीम उसके पास था। अकबरको उसने नमस्कार किया। एक बार-अन्तिम बार आँख खोलकर अकबरने समीप बैठे हुए लोगोंको संकेत किया कि वे सलीमको उसके राजकीय वस्त्राभूषण पहना दें और शाही कृपाण भी बाँध दें।" ऐसा ही किया गया। 'सलीमका राज्याभिषेक उसी समय न होकर २४ अक्टूबर १६०५ ई० को हुआ। इसी समय वह 'नूरुद्दीन जहाँगीर'के नामसे विख्यात हुआ।

५. कुलीचखाँके पुत्र चीनी कुलीचखाँको जौनपुर जागीरमें मिला, इस सम्बन्धमें भी ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त है। प्रेमीजी सन् १९२२ के

---

१. इलियट। ६।१६८-१७४।

Accounts of the death of His Majesty, and of other matter in connexion with it.

"As soon as the prince was relieved from all anxiety as to the course affairs were taking, he went with the great novels, and Mir Murtza Khan at their head, without fear, to the fort, and approached the dying Emperor. He was still breathing as if, he had only waited to see that illustrious one. As soon as that most fortunate Prince entered, he bowed himself at the feet of His Majesty. He saw that he was in his last agonies. The Emperor once more opened his eyes, and signed to them to invest him with the turban and robes which had been prepared for him and to gird him with his own dagger." p 171.

वेंकटेश्वर समाचारके एक लेख 'मुग़ल सम्राट् और उनके कर्मचारी'का उद्धरण देते हुए कहते हैं' अकबर और जहाँगीरने कभी किसी अत्याचारी-को रियायत नहीं की और तुरत ही अपने अत्याचारी अफ़सरोंको बरखास्त-कर उन्हें दण्ड दिया। जौनपुरका सूबेदार चीनी कुलीचखाँ प्रजापीडक था। उसकी शिकायत आनेपर सम्राट्ने उसे वापस बुलाया और यदि वह रास्तेमें न मर जाता तो उसे कड़ा दण्ड मिलता।" इसी सम्बन्धमें आईने अकबरीके आधारपर डॉ० माताप्रसाद गुप्त लिखते हैं—"आईने[1] अकबरी-मे उल्लेख मिलता है कि १६१५ ई० में कुलीचखाँके पुत्र चीनी कुलीचखाँ-को जौनपुर जागीरमें मिला, किन्तु उसके अगले ही साल शाहंशाहका कोपभाजन होनेके कारण बन्दी-गृहमें उसका देहान्त हो गया।

६.–७. छठे एवं सातवेंके सम्बन्धमें भी प्रत्येक प्रामाणिक इतिहासमें प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि १६१६ में जहाँगीर प्रथम बार विख्यात हुआ। बनारसीदास-द्वारा उल्लिखित जहाँगीरका देहावसान एवं शाहजहाँका गद्दी सम्हालना भी इतिहास-द्वारा सत्य सिद्ध है। जहाँगीरकी मृत्यु और शाहजहाँका राज्याभिषेक-जैसी प्रमुख बातें इतिहासकी प्रत्येक छोटीसे छोटी पुस्तिका-द्वारा भी स्पष्ट हो जाती हैं।

अतः पं० बनारसीदास-द्वारा दिये गये स्व-जीवन-कालीन ऐतिहासिक उल्लेखोंकी प्रामाणिकता प्रत्येक दृष्टिसे असन्दिग्ध है।

■

---

१. 'आईने अकबरी' ।१। पृ० ५०० ।

२. 'अर्धकथा' पृ० ६, सम्पा० डॉ० माताप्रसाद गुप्त ।

६०॥ श्रीजिनाय नमः॥ अथ अर्द्धकथान
क लिष्यते॥ दोहरा॥ पानि जुगल पुट सीस
धरि मानि अपनपौ दास॥ आनि भगति चि
त जानि प्रभु वंदौ पास सुपास॥ १॥ सवैया
इकतीसा॥ वानारसी नगरी की निपत्ति॥
गंगमाहि आइ धसी द्वै नदी वरुना असी वीच
वसी वारानसी नगरी वपानी है॥ कसिवार
देस मध्य गांउ ताते कासी नांउ श्री सुपास पा
स की जनमभूमि मानी है॥ तहां दुहूं जिन सिव
मारग प्रगट कीनो तब सेती सिवपुरी जगत मैं
जानी है॥ ऐसी विधि नाम थपै नगरी वनारसी
के और भांति कहै सो तौ मिथ्यामत वानी है॥
२॥ दूहा॥ जिनि पहिरी जिन जनम भुव नामि ख
द्धि का थाप॥ सो वनारसी जिन कथा कहै आ
पसौं आप॥ ३॥ चौपाई॥ जैनधर्म श्रीमाल

ताजगंज (आगरा) के जैन मन्दिरसे प्राप्त अर्धकथानकका आदि पृष्ठ मात्र।

ताजगंज (आगरा) के जैन मन्दिरसे प्राप्त अर्धकथानकका मात्र अन्तिम पृष्ठ।

ताजगंज (आगरा) के जैन मन्दिरसे प्राप्त बनारसीदासका नवीन पद

परिशिष्ट

•

क. अर्द्धकथानकमें वर्णित घटनाओं, संवतों, ग्रन्थों, कवियों, सम्प्रदायों, व्यक्तियों तथा स्थानोंकी तालिका

ख. अनुक्रमणिका

ग. सहायक ग्रन्थ

घ. चित्र फलक

क संवत् और घटनाएँ

१. वंश परिचय

२. मूलदासका सम्राट् हुमायूँका मोदी बनकर मालव प्रान्तमें आना, मूलदासके प्रति सम्राट्की कृपादृष्टि।

३. १६०८ : मूलदासके खरगसेनका जन्म।

४. १६१० : मूलदासके धनमलका जन्म।

५. १६१३ : धनमलकी मृत्यु, मूलदासकी मृत्यु।

६. सम्पत्तिका अपहरण राज्य-द्वारा

७. १६१३ : खरगसेन अपनी माताके साथ नाना मदनसिंह जौहरीके घर जौनपुर आये।

८. १६१३ : जौनपुरका ऐतिहासिक वर्णन

९. १६१६ : खरगसेनका विद्याध्ययन, व्युत्पन्नता, व्यापार-कार्य सीखना।

१०. १६२१-१६२२ : खरगसेनका व्यापारार्थ बंगालके सुल्तान सुलेमानके साले, लोदीखानके दीवान धन्नारायके पास जाना, उनकी कृपासे चार परगनेका पोतदार बनना। ६-७ माह बाद सम्मेदशिखरकी यात्रासे लौटनेपर धन्नारायकी उदर-पीड़ासे मृत्यु व खरगसेन भयके कारण अनेकों रूप धारण कर जौनपुर आ गये।

११. १६२६ : आगरा आकर सुन्दरदास पीतियाके साझेमें खरगसेनने सर्राफी की।

१२. १६३० : मेरठके सूरदासजीकी पुत्रीके साथ खरगसेनका विवाह।

१३. १६३२ : चाचोसे पृथक् होना, चाचाके तथा चाचीके मरणकी दुर्घटना, चाचाकी एक पुत्री थी उसका विवाह खरगसेनने किया एवं चाचाकी सम्पूर्ण सम्पत्ति उस बहनको ही दे दी।

१४. १६३३ : जौनपुरमें रामदास वैश्य (शैवधर्म) के साझेमें मोती माणिकका व्यापार।

१५. १६३५ : खरगसेनके प्रथम पुत्रका जन्म-मृत्यु।

१६. १६३७ : खरगसेनका यती यात्रार्थ रोहतक सपत्नीक आना तथा मार्गमें चोरों-द्वारा लूटा

३२. पं० देवदत्तसे बनारसीदासका विद्या पढ़ना, इश्कबाजीमें पड़ना, आयधर्म उपाध्यायका जौनपुर आना, उनके शिष्य भानुचन्द्रसे भी पंचसन्धि आदि पढ़ी।

३३. नवरस रचना।

३४. १६५९ : खैराबाद गौनेके लिए गये, वहाँ एक माहके पश्चात् वात तथा कुष्ट रोग पूरी भयंकरताके साथ, छह महीने दुःख भोगकर घर लौटना।

३५. १६५९ : एक साधुके प्रपंचमें पड़ना, लोभवश शैवमतमें विश्वास।

३६. १६६० : विषयासक्त होना, बनारसीके पुत्रीका जन्म-मरण। बड़ी बहनका ब्याह। बीमारी। बीस दिनकी लंघनें करके स्वास्थ्यलाभ, खरगसेनको एक सौदेमें सौगुना लाभ।

३७. १६६१ : जहाँगीरके जौहरी हीरानन्द मुकीम-द्वारा सम्मेदशिखरयात्राके लिए संघ निकाला जाना, खरगसेनका सम्मिलित होना, बनारसीदासका निरंकुश होना, मातासे कलह करना, पार्श्वनाथकी यात्रा बनारस जाना। पुत्र-जन्म और मरण।

३८. १६६२-६३ : (कातिक) अकबरकी मृत्यु। प्रजामें भयकी लहर। बनारसीदासकी बेहोशी। जहाँगीरका सम्राट् होना, शिवपूजन एवं विषयोंसे अरुचि, 'नवरस'की गोमतीमें जल-समाधि। जैनधर्ममें विशेष रुचि।

३९. १६६४: खरगसेनकी दूसरी बेटीका विवाह, बनारसीदासके एक पुत्रका जन्म-मृत्यु।

४०. १६६७ : खरगसेनने बनारसीको गृहभार सौंपा, बनारसीदास व्यापारके लिए आगरा गये। वहाँ द्रव्य गवाँकर व्यर्थ पड़े रहना। छह महीने तक उधार लेकर कचौड़ियाँ खाना और दिन काटना।

४१. धरमदासके साझेमें व्यापार। आगरा जाते समय इटावामें जल संकट-वृष्टि। स्थानकी समस्या। आगरामें मोती कटरामें रहना। मधुमालती और मृगावती नामक पुस्तकें पढ़ना।

४२. १६७० : अ पत्नीकी स्मृति, साझा तोड़कर खैराबाद जाना। पत्नीसे कुछ द्रव्य लेकर फिर आगरा आकर व्यापार करना।

४३. ब मार्गमें आठ मोतियोंकी एक गठरी मिली, 'अजितनाथके छन्द' नाममाला, कपड़ेका व्यापार।

४४. स नरोत्तमके श्वसुर, नरोत्तम और बनारसीदास फतेहपुर

जाना।

१७. १६४१ : मदनसिंह जौहरीकी मृत्यु।

१८. १६४३ : माघसुदी ११, शनिवार, रोहिणी नक्षत्रमें बनारसीदासका जन्म, जन्मनाम-विक्रमाजीत।

१९. बनारसीदासजीके जन्मके ६-७ माह बाद खरगसेनादि पार्श्वनाथकी जन्मभूमिकी यात्राको गये। वहींपर पूजनादि कर एक पुजारीके चमत्कारपूर्ण कथनानुसार कविका नाम बनारसीदास रखा गया।

२०. १६४८ : बनारसीदासको संग्रहणी रोग।

२१. १६४९ : संग्रहणीका उपचार, शान्ति

२२. १६५० शीतला (चेचक) निकलना, नीरोग होना, खरगसेनके पुत्री जन्म।

२३. १६५१–५२ : चटशालामें विद्याध्ययन करना एवं अल्प समयमें विविध ज्ञान लेना।

२४. १६५२ : बनारसीदासकी खैराबादनिवासी परवत तांबीके सुपुत्र कल्याणमल तांबीकी पुत्री से सगाई हुई।

२५. १६५३ : अन्नका दुर्भिक्ष पड़ा

२६. १६५४ : बनारसीदासजीका खैराबाद निवासी कल्याणमल तांबीकी पुत्रीसे विवाह।

२७. खरगसेनकी नानीकी मृत्यु, पुत्रीका जन्म और पुत्र-वधूका आगमन एक ही दिन हुआ।

२८. १६५५ : जौनपुरके नवाब किलीखर्चा-द्वारा वहाँके जौहरियोंसे बर्बरतापूर्ण व्यवहार, कोड़े लगवाये, मृतक करके छोड़ा। एक लम्बी रकम नजराना न करनेपर। दुःखी होकर खरगसेन सपरिवार शाहजहाँपुर भागे और फिर इलाहाबाद जाकर व्यापार किया।

२९. बनारसीदासजी नानीके समीप रहे। कौड़ियोंका व्यापार, अपार प्रेम। फतेहपुर, इलाहाबाद और फिर फतेहपुरमें रहना।

३०. १६५६ : नवाब किलीचके आगरा चले जानेपर सभी जौहरी जौनपुर लौटे।

३१. १६५७ : अकबरके पुत्र सलीमका कोल्हूवन मृगयार्थ जाना, सम्राट् अकबरका नूरमखान (सुल्तान जौनपुर) से जौहरीको कोल्हूबन जानेसे रुकवाना, युद्धकी तैयारी, प्रजामें अशान्ति, भगदड़, खरगसेन भी भागकर लक्ष्मनपुरा गाँवमें रहे, शान्ति हो जानेपर फिर जौनपुर लौटे।

होते हुए इलाहाबाद गये। मार्गसंकट, चोरोंसे भेंट। रूप बदलना, जनेऊ, तिलक।

४५. १६७१ : अ व्यापारके लिए बनारस जाना। वहाँ व्रतग्रहण करना। तीसरे पुत्रका जन्म। १५ दिन बाद पुत्रसहित स्त्रीकी मृत्यु। पहली पत्नीकी बहनसे सगाई। कभी जौनपुर तथा कभी बनारस रहकर व्यापार करना।

४६. ब जौनपुरके नवाब किलीचखाँके पुत्र चीनी किलीचखाँ-द्वारा बनारसीदासको सिरोपाव किया जाना।

४७. स चीनी किलीचखाँका बनारसीदाससे नाममाला छन्द, कोष तथा श्रुतबोधादि पढ़ना।

४८. १६७२ : चीनी किलीचखाँकी मृत्यु। बनारसी और नरोत्तमका ६-७ माह पटनामें व्यापार। आगानूरके आगमनसे जौनपुरमें अशान्ति। बनारसी और नरोत्तमदास जौनपुरके पास जंगलमें ४० दिन छिपे रहे। आगानूरके अत्याचार।

४९. १६७३ : खरगसेनकी मृत्यु। आगरामें मरी रोग (प्लेग)। बनारसीका दूसरा विवाह।

५०. १६७५ : अहिच्छत्र और हस्तिनापुरकी यात्रा।

५१. १६७६: दूसरी पत्नीके गर्भसे पुत्रका जन्म।

५२. १६७७: बनारसीदासकी माताकी मृत्यु।

५३. १६७९ : दूसरी पत्नी और पुत्रकी मृत्यु।

५४. १६८० : तीसरी शादी, समयसार (राजमल्लकी टीका) का पढ़ना, ज्ञानपचीसी आदिकी रचना करना, चित्तकी चंचलता।

५५. पैंजारहुका खेल।

५६. चन्द्रभान, बनारसी, उदैकरन, थान नग्न होकर मुनिपदका उपहास करना, चरित्रहीनता

५७. १६८४ : तीसरी पत्नीके प्रथमपुत्रका जन्म और मरण। जहाँगीरकी मृत्यु। शाहजहाँका सिंहासनासीन होना।

५८. १६८५ : तीसरी पत्नीसे दूसरे पुत्रका जन्म।

५९. १६८७ : तीसरे पुत्रका जन्म।
१६८९ : पुत्रीका जन्म-मरण।

६०. १६९०: ९२के बीच काव्य रचनाएँ 'लीनी बहुत कवीश्वरी।'

६१. १६९२ : पं० रूपचन्दजीसे आगरामें गोम्मटसारका पढ़ना। जैन धर्ममें दृढ़ श्रद्धान होना।

६२. १६९३ : समयसारकी रचना।

६३. १६९६: बनारसीके तृतीय पुत्रकी मृत्यु।

६४. १६९८ : अर्धकथानककी रचना।

६५. १७०० : कर्मप्रकृतिविधानकी रचना।

व्यक्ति

स्थान

ग्रन्थ

सम्प्रदाय

■

ख अनुक्रमणिका

■

ग अनुक्रमणिका

सहायक ग्रन्थ

हिन्दी

१ अशोकके फूल : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२. अध्यात्मपदावली : राजकुमार साहित्याचार्य
३. अकबरी दरबारके हिन्दी कवि: डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल
४. अर्धकथा : बनारसीदास
५. आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा
६. उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी
७. काव्यके रूप : बाबू गुलाबराय एम० ए०
८. जैन धर्म : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
९. जैन साहित्य और इतिहास : पं० नाथूराम प्रेमी
१०. जहाँगीरनामा : मुंशी देवीप्रसाद (अनुवादकर्त्ता)
११. जीवन और साहित्य : सम्पा० डॉ० उदयभानु सिंह
१२. दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ : डॉ० जगदीशचन्द्र
१३. नाथ सम्प्रदाय : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१४. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ :
१५. ब्र० पं० चन्दाबाई अभि० ग्रन्थ :
१६. ब्रज भाषा व्याकरण : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
१७. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
१८. भारतीय इतिहासकी रूपरेखा : जयचन्द विद्यालंकार
१९. भारतवर्षका इतिहास : डॉ० विश्वेश्वरप्रसाद डी० लिट्
२०. भोजपुरी भाषा और साहित्य : डॉ० उदयनारायण तिवारी
२१. भारतीय संस्कृतिका विकास : डॉ० मंगलदेव शास्त्री
२२. मान मंजरी : नन्ददास
२३. मीरा स्मृति ग्रन्थ : बंगीय हिन्दी परिषद्
२४. युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि : अगरचन्द नाहटा

२५. विश्व धर्म दर्शन : सांवलिया बिहारीलाल वर्मा
२६. साहित्य शिक्षा और संस्कृति : डॉ० राजेन्द्रप्रसाद
२७. सत्यके प्रयोग : महात्मा गान्धी
२८. सुन्दर ग्रन्थावली : पुरोहित हरिनारायण शर्मा
२९. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास : कामताप्रसाद जैन
डी० एल०
३०. हिन्दुत्व : रामदास गौड़
३१. हिन्दी साहित्यकी भूमिका : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
३२. हिन्दुस्तानकी कहानी : पं० जवाहरलाल नेहरू
३३. हिन्दी साहित्य : डॉ० श्यामसुन्दरदास
३४. हिन्दी साहित्यका प्रभाव : सुखदेव बिहारी मिश्र
३५. हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास :
डॉ० रामकुमार वर्मा
३६. हिन्दी साहित्यका इतिहास : रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
३७. हिन्दी साहित्यका इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३८. हिन्दी साहित्य : हजारीप्रसाद द्विवेदी
३९. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन : पं० नेमीचन्द शास्त्री
४०. हिन्दी भाषाका इतिहास : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

संस्कृत

१. अमरकोष : अमरसिंह
२. अग्निपुराण
३. ऋग्वेद
४. ऐतरेय ब्राह्मण
५. काव्यप्रकाश : आचार्य मम्मट
६. कूर्मपुराण
७. तत्त्वार्थ सूत्र : उमास्वाति
८. दर्शनसार
९. नाममाला : धनंजय
१०. प्रमेयकमलमार्तण्ड : आचार्य प्रभाचन्द्र
११. प्रबोध चन्द्रोदय : कृष्ण मिश्र
१२. भगवद् गीता

१३. मार्कण्डेय पुराण
१४. मनुस्मृति
१५. यजुर्वेद
१६. लिंगपुराण
१७. वायु महापुराण
१८. वाराह पुराण
१९. ब्राह्मण पुराण
२० विष्णु पुराण
२१. वेदान्त सूत्र : व्यास
२२. स्कन्द पुराण
२३. साहित्य दर्पण : आचार्य विश्वनाथ
२४. सागार धर्मामृत : आचार्य आशाधर
२५. श्रुतावतार : आचार्य इन्द्रनन्दि
२६. क्षत्रचूडामणि : आचार्य वादीभ सिंह

प्राकृत

१. द्रव्यसंग्रह : नेमीचन्द्र चक्रवर्ती
२. दोहा पाहुड़ : मुनि रामसिंह

अँगरेज़ी

१. ए सर्वे ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री : पनिक्कर
२. एन एडवान्सड हिस्ट्री ऑव इण्डिया : डॉ० आर० सी० मजूमदार
३. एन आउट लाइन ऑव दि रिलीजन लिटरेचर ऑव इण्डिया : फर्कुहर, जे० एन०
४. ए शार्ट हिस्ट्री ऑव तेरहपन्थ सेक्ट ऑव द श्वेताम्बर जैन एण्ड इट्स टेनेट्स
५. आईने अकबरी : इलियट
६. अकबर : इलियट
७. ऑक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी
८. इण्डिया थ्रो एजेज : डॉ० सरकार
९. इण्डियन फ़िलासफ़ी : डॉ० राधाकृष्णन्

१०. ओरिजिन एण्ड अर्ली हिस्ट्री ऑव शैविज्म इन साउथ इण्डिया :
सी० वी० नारायण अय्यर
११. वैष्णविज्म शैविज्म ऐण्ड माइनर रिलीजस सिस्टिम्स :
डॉ० भाण्डारकर
१२. दी इण्डो एशियन कल्चर : डॉ० ए० सी० सेन
१३. फ़िलासफ़ी ऑव इण्डिया : डॉ० हेंडरिक जिम्मर
१४. दि शार्ट स्टडी इन साइन्स ऑव कम्पैरेटिव रिलीजन :
प्रो० जी० आर० फर्लांग
१५. तारीख फीरोजशाही : एस० सीराज अफीफ
१६. हिस्ट्री ऑव इण्डिया : फ्रान्सिस पेत्स क्रेट
१७. सेकेण्ड टर्मिनल रिपोर्ट ऑन हिन्दी : सं० श्यामसुन्दर दास
१८. आबसक्योर रिलीजन्स कल्ट्स : डॉ० एस० सी० दासगुप्ता
१९. जौनपुर गजेटियर

पत्र-पत्रिकाएँ

१. जैन गजट १६ पृष्ठ २१२ : प्रो० एम० एस० रामस्वामी
आयंगर, दिल्ली
२. साहित्य सन्देश पृष्ठ ४७४ : १९५६ अंक १२, आगरा
३. वीर : अगस्त १९२४, दिल्ली
४. वीरवाणी, वर्ष ७ : अंक ९ पृष्ठ १८८, जयपुर
५. संयुक्त राजस्थान : १ नवम्बर १९५६, जयपुर
६. आत्म धर्म वर्ष ३ : प्रथम अंक मोटा आंकडिया काठियावाड़
७. जैन सिद्धान्त भास्कर : जुलाई १९४६ पृ० २२३
८. जैन सन्देश : जून ५७, मथुरा